Hindi Translation of H. G. Wells' 'A Short History of the World'.

एच० जी० वैल्स-कृत

संसार का संक्षिप्त इतिहास

प्रथम भाग

सृष्टि के आदि से लेकर रोम-साम्राज्यपर्यन्त

अनुवादक

मदनगोपाल

बी० ए०, एल्-एल० बी०

इंडियन प्रेस, लिमिटेड

इलाहाबाद

१९४१

माननीय सर ज्वालाप्रसाद श्रीवास्तव
केटी०, एम० एस-सी०, ए० एम० एस० टी०
ऐज्यूकेशन मिनिस्टर, यू० पी०

कला और विज्ञान के उदार संरक्षक

तथा

उत्तर-भारत में व्यापार के सर्वोत्कृष्ट नेता

युवकों के लिए आत्मोन्नति और सच्ची देशभक्ति के

आदर्श

श्रीमान् सर ज्वालाप्रसाद श्रीवास्तव

के-टी०, एम० एस-सी०, संयुक्त-प्रान्त के

शिक्षा-सचिव के कर-कमलों में

यह ग्रन्थ

श्रीनारायण चतुर्वेदी

द्वारा

सादर समर्पित है।

भूमिका

एच० जी० वैल्स इस समय संसार के प्रमुख लेखकों में हैं। वे बहुज्ञ और विचारशील लेखक हैं। उनकी गणना उन लेखकों में है जो संसार के विचार-क्षेत्र और साहित्य में अपना प्रभाव स्थायी रूप से छोड़ जाते हैं। उनमें कवि-सुलभकल्पना और आधुनिक विज्ञान तथा शास्त्रों के ज्ञान का सुन्दर सम्मिश्रण है। उनके आर्थिक, सामाजिक और धार्मिक विचारों से बहुत लोग सहमत नहीं हैं। उनके इतिहास की भी कुछ विद्वानों ने कड़ी समालोचना की है। फिर भी उनका लिखा हुआ संसार का इतिहास अपने ढङ्ग का निराला ही है। इस इतिहास का नाम है—An Outline History of the World अर्थात् संसार के इतिहास की रूप-रेखा। वह इतिहास बहुत बड़ा है। सर्वसाधारण के लिए उन्होंने उसका एक संक्षिप्त संस्करण प्रकाशित किया है जिसका नाम A Short History of the World है। प्रस्तुत पुस्तक उसी संक्षिप्त इतिहास का अनुवाद है।

अनुवाद का काम बहुत कठिन है। इस पुस्तक में बहुत-सा अंश वैज्ञानिक है। श्रीयुत वैल्स की भाषा में अद्भुत चमत्कार है। किंतु उस चमत्कार के कारण उसके मूल के सौन्दर्य को अनुवाद में लाना सरल नहीं है। हिन्दी में वैज्ञानिक शब्दों का चलन इतना कम है कि कभी कभी तो उनके प्रयोग करने का साहस नहीं होता क्योंकि वे अपरिचित-से मालूम पड़ते हैं। अनुवाद में खिचड़ी भाषा के प्रयोग से भाषा के सौष्ठव के नष्ट होने की आशंका थी। इसलिए जहाँ तक हो सका है विशुद्ध हिन्दी का ही प्रयोग किया गया है। अनुवादकों का विश्वास है कि हिन्दी का भविष्य उस भाषा पर निर्भर है जो उसे संस्कृत से निकली हुई अन्य भारतीय आर्य-भाषाओं—जैसे बँगला, गुजराती और मराठी—से निकटतर लाती है। इसलिए अनुवादकों ने विदेशी सैमिटिक भाषा (अरबी) और विदेशी आर्य भाषा (फ़ारसी) के शब्दों का व्यवहार प्रचुर संख्या में नहीं किया। हिन्दुस्तानी भाषा में वैज्ञानिक ग्रन्थ लिखने का प्रयोग अभी तक सफल नहीं हुआ। हिन्दुस्तानी ऐकेडमी के प्रकाशित ग्रन्थों की भी भाषा प्रायः उतनी ही संस्कृत-प्रधान हिन्दी है जितनी अन्य साधारण ग्रन्थों की है। अतएव जब तक 'हिन्दुस्तानी भाषा' का प्रचार न हो जाय और यह न प्रमाणित हो जाय कि 'हिन्दुस्तानी' भाषा में ऐसी पुस्तकों का लिखना सम्भव है तब तक हमें प्रचलित संस्कृत-प्रधान हिन्दी की ही शरण लेनी पड़ेगी।

हिंदी की बहिन उर्दू में भी इसी प्रकार का मौलिक भाषाओं (अरबी-फ़ारसी) की ओर झुकाव प्रत्यक्ष दीख पड़ रहा है।

हमें पूर्ण रूप से ज्ञात है कि इस अनुवाद में बहुत-सी त्रुटियाँ हैं। जहाँ तहाँ मूल की अँगरेज़ियत की गन्ध अनुवाद में भी आगई है। इसका कारण यह है कि हमने केवल भावानुवाद की चेष्टा न करके जहाँ तक हो सका है मूल को अनुसरण करने का उद्योग किया है। यदि हमने किसी उपन्यास का अनुवाद किया होता तो अवश्य ही उसकी भाषा में अँगरेज़ियत की इतनी गन्ध न होती जितनी इस पुस्तक में है। कुछ लोगों को शायद भाषा भी कुछ क्लिष्ट मालूम पड़ेगी। किन्तु इसका कारण यह है कि पुस्तक का विषय ही गहन है। हम ऐसे साधारण विद्यार्थियों के लिए उस गहन विषय का साधारण शब्दों में व्यक्त करना असम्भव-सा है। फिर भी, हम स्वीकार करते हैं कि अनुवाद इससे अच्छा हो सकता था। किन्तु दोनों अनुवादक समय के भिक्षुक हैं। एक को सरकारी काम से बहुत कम अवकाश मिलता है और दूसरे को वकालत के झंझटों से छुटकारा नहीं होता। हमारा विश्वास है कि हिन्दी में संसार के एक इस प्रकार के इतिहास की बड़ी आवश्यकता थी। हिन्दी-साहित्य की सेवा के भाव से प्रेरित होकर ही हमने इस कार्य को हाथ में लिया है। इससे हमें आर्थिक लाभ नहीं है। यदि हिन्दी-भाषी गुण-ग्राहक लोग इस पुस्तक का आदर करेंगे और हमारी इस सेवा को किसी काम की समझेंगे तो हमारा सारा परिश्रम सफल हो जायगा।

उन पाठकों से जो अँगरेज़ी से अनजान हैं, हमारा एक विशेष निवेदन है। वे इस बात का ध्यान रक्खें कि श्रीयुत वैल्स ने यह पुस्तक एक पाश्चात्य देशवासी के दृष्टिकोण से लिखी है। उनका ज्ञान पूर्वी देशों और सभ्यताओं के बारे में उतना गहरा नहीं है जितना पाश्चात्य सभ्यताओं के विषय में है। उन्होंने भारत की सभ्यता, दर्शनशास्त्र या प्राचीन इतिहास का उतना मनन नहीं किया जितना इन विषयों के विशेषज्ञ करते हैं। इसलिए उनकी भारत या अन्य पूर्वी देशों-सम्बन्धी सम्मतियाँ सदा ग्राह्य नहीं हैं। उदाहरण के लिए यूनान के विचार-स्वातन्त्र्य का क्रम तो उन्होंने बहुत ठीक दिखलाया है किन्तु भारत के विचार-धारा की रूप-रेखा वे नहीं दे सके। इससे पाठकों को यह भ्रम हो सकता है कि स्वतन्त्रतापूर्वक विचार करने का क्रम केवल यूनान में ही आरम्भ हुआ, अथवा परमात्मा के सम्बन्ध की गवेषणाएँ यहूदियों ने ही सर्वप्रथम कीं। इस विषय में इससे अधिक कहने की आवश्यकता नहीं मालूम पड़ती कि इस पुस्तक में उपनिषदों, श्रीकृष्ण गीता रामायण आदि का कहीं नाम भी नहीं आया। इसी प्रकार पारसियों की संस्कृति का भी इसमें चिह्न नहीं मिलता। यदि यह इतिहास कोई पूर्वी विद्वान्

लिखता तो मानव-जाति के आत्मिक मानसिक और भौतिक विकास में जो कार्य पूर्वीय देशवालों ने किया है उसका अधिक उपयुक्त वर्णन होता।

इस इतिहास का एक ही महत्त्व है। वह यह कि इसमें संसार के इतिह स को इकाई मानकर उसका अध्ययन किया गया है। भिन्न-भिन्न देशों का इतिहास अलग अलग पढ़ने से उन देशों का उपयुक्त स्थान और महत्त्व नहीं मालूम पड़ता। सारे संसार का इतिहास एक साथ पढ़ने से दृष्टिकोण विशद हो जाता है और प्रान्तीयता के भावों की बुराइयाँ बहुत कम हो जाती हैं। लेखक ने इसमें बहुत-कुछ सफलता प्राप्त की है। किन्तु यह उसका दोष नहीं है कि वह भावों विचारों और संस्कारों में पाश्चात्य है। अतएव इस इतिहास में पाश्चात्य दृष्टिकोण का होना अनिवार्य है। यदि पाठक इस बात का ध्यान रखेंगे और श्रीयुत वैल्स के प्रतिवादित विचारों को सोच-समझ कर स्वीकार करेंगे तो उन्हें बहुत लाभ होगा।

अन्त में हम इंडियन प्रेस के स्वामी श्रीयुत हरिकेशव घोष और उनके भाई श्री हरिप्रसन्न घोष के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करते हैं जिनके अदम्य उत्साह साहस और सहयोग के बिना इस पुस्तक का इतने सुन्दर रूप में निकलना असम्भव था।

श्रीनारायण चतुर्वेदी

विषय-सूची

[१]

आकाशान्तर्गत पृथ्वी

हमारे जगत् की कहानी—पुरावृत्त—को लोग अभी तक ठीक-ठीक नहीं जान पाये हैं। दो सौ वर्ष पूर्व तक तो मनुष्यों को केवल तीन सहस्र वर्षों से कुछ अधिक का ही इतिहास ज्ञात था और उससे पहले की कथा का आधार थीं पुराण-कथायें और काल्पनिक विचार। ई० पू० ४००४ में जगत् की सहसा सृष्टि हो गई इसको तो सभ्य संसार का अधिकांश भाग मानता ही था, और ऐसी शिक्षा भी उस समय दी जाती थी; मतभेद इतना ही था कि सृष्टि की उत्पत्ति के समय वसन्त-ऋतु थी या शिशिर। हिब्रू बाइ-बिल की मूलपदानुसार व्याख्या पर अधिक बल देने, और उसके सम्बन्ध में धर्मशास्त्र की मनमानी धारणाओं को सत्य समझने के कारण ही सृष्टि-उत्पत्ति-सम्बन्धी, इस प्रकार की वर्षगणना करने का विलक्षण भ्रम उत्पन्न हुआ था। इन विचारों को अब धर्माचार्य कभी का त्याग चुके और यह सर्वसम्मत सिद्धांत है कि जिस विश्व में हम रहते हैं वह युग-युगान्तरों से, और संभवतः अनादिकाल से, ऐसा ही चला आता है। दोनों छोरों पर दर्पणयुक्त होने के कारण, प्रतिबिम्बों-द्वारा अनन्त प्रतीत होनेवाले कमरे की भाँति, हमारी यह धारणा मिथ्या भी हो सकती है। परन्तु विश्व को छः या सात हज़ार वर्ष का ही पुराना मानने का सिद्धान्त अब सर्वथा मिथ्या सिद्ध हो चुका है।

इस समय सभी यह जानते हैं कि पिण्डाकार पृथ्वी, नारंगी की भाँति, दोनों छोरों पर चिपटी है और उसका व्यास ८,००० मील का है। इसकी पिण्डाकृति का ज्ञान तो थोड़े से बुद्धिमानों को २,५०० वर्ष पूर्व भी था, परन्तु उससे पहले यह चिपटी-चौरस ही समझी जाती थी। पृथ्वी, आकाश, ग्रह तथा तारकाओं-संबंधी तत्कालीन विचार और धारणायें अब अत्यन्त असंगत प्रतीत होती हैं। हम जानते हैं कि पृथ्वी अपनी धुरी पर (जो बिषुवत रेखा में होकर गुज़रनेवाले व्यास से लगभग २४ मील छोटी है) घूमकर २४ घण्टे में एक परिक्रमा पूर्ण करती है और उसी के कारण दिन रात होते हैं। सूर्य की परिक्रमा पृथ्वी कुछ एक परिवर्तन-शील अण्डाकृति मार्ग-द्वारा एक वर्ष में समाप्त करती है। सूर्य के अत्यन्त

निकट पहुँचने पर सूर्य से उसकी दूरी ९,१५,००,००० मील और अत्यन्त दूर चले जाने पर, ९,४५,००,००० मील हो जाती है।

'चन्द्र' नामक एक अन्य क्षुद्र पिण्ड, जिसकी औसत दूरी २,३९,००० मील है, पृथ्वी की परिक्रमा करता है। पृथ्वी और चन्द्र के अतिरिक्त, बुध और शुक्र नामक ग्रह भी सूर्य की प्रदक्षिणा करते हैं। ये क्रमशः ३,६०,००,००० और ६,८०,००,००० मील दूर हैं ; मङ्गल बृहस्पति, शनि, अरुण और वरुण, पृथ्वी के वृत्त से परे—क्षुद्र-काय ग्रह-समूह को छेक कर,—हमको दृष्टिगोचर होते हैं। इनकी औसत दूरी, क्रमशः १४,१०,००,००० ४८,३०, ००,०००, ८८, ६०,००,००० १,७८,२०, ००,००० और १,७९,३०, ००,००० मील है। लाखों मील की यह संख्या मानव-मस्तिष्क में भी बड़ी कठिनता से समायेगी—यह समझ कर हम सूर्य तथा अन्य ग्रहों की दूरी आदि छोटे और सुगम माप में देते हैं। शायद ऐसा करने से पाठक इनका ठीक-ठीक अनुमान कर सकें।

द्रव्य के कुंडलाकार दीप्त बादल

इस माप के अनुसार यदि पृथ्वी इंच भर व्यास की गेंद के सदृश समझी जाय तो सूर्य नौ फ़ीट व्यास के गोले के सदृश

३२३ गज़ की दूरी पर होगा। और लगभग १/५ मील की यह दूरी, चार या पाँच मिनट चलकर पूरी की जा सकती है। इस हिसाब से चन्द्र मटर के दाने के सदृश पृथ्वी से २१/२ फ़ीट की दूरी पर होगा। सूर्य और पृथ्वी के मध्य में बुध और शुक्र का स्थान होगा और इनकी दूरी सूर्य से क्रमशः १२५ और २५० गज़ होगी। पृथ्वी के अनन्तर यहाँ से १७५ फ़ीट पर मंगल होगा फिर १ फ़ुट की दूरी पर—१ फ़ुट व्यास का बृहस्पति। तदनन्तर दो मील दूर बृहस्पति से कुछ ही छोटा, शनि ग्रह मिलेगा और उसके बाद चार मील की दूरी पर अरुण और फिर ९ मील की दूरी पर वरुण। फिर अन्तिम ग्रह के पश्चात् उड़ते हुए क्षीण वाष्पकणों के अतिरिक्त सहस्रों मील-पर्यन्त केवल शून्य ही
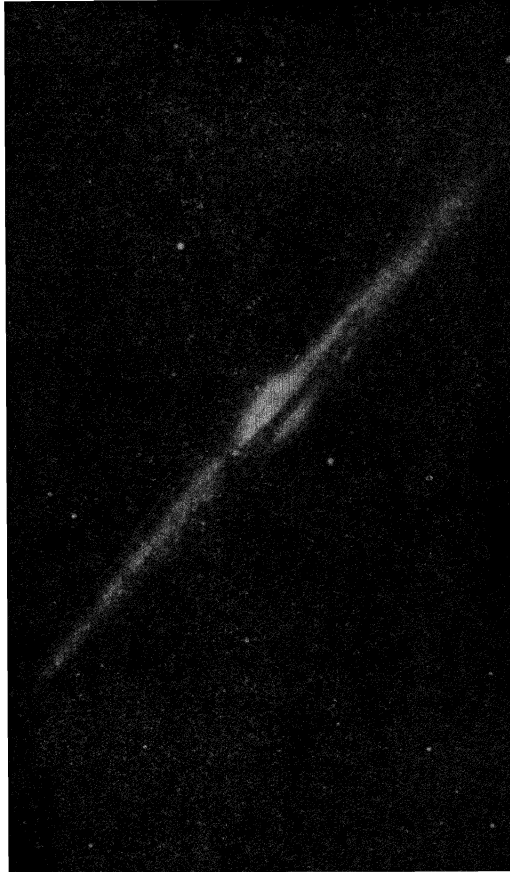
किनारे की ओर से एक नीहारिका का दृश्य
(इसके बीच का भाग देखिए जो करोड़ों वर्ष से ठण्डा होकर ठोस बनता जा रहा है)

शून्य है। इस माप के अनुसार अत्यन्त निकटवर्ती तारा भी पृथ्वी से ४०,००० मील दूर होगा।

जिस आकाशीय अंतर या **परमाकाश** (Space) में हमारे जीवन-नाटक का अभिनय हो रहा है वह किस प्रकार शून्य ही शून्य है—इसका कुछ अनुमान पाठकगण इन अंकों-द्वारा कर सकते हैं।

इस अनन्त शून्य में हम केवल धरातल के जीवन से ही भलीभाँति परिचित हैं। उसमें पृथ्वी का केन्द्र तो ४,००० मील नीचे है और हमको केवल तीन मील नीचे का तथा धरातल से पाँच मील ऊपर का ही वृत्तान्त विदित है। इसके अतिरिक्त हम प्रकाश्य रूप से समस्त परमाकाश को जीवनहीन और शून्य ही समझते हैं।

जल के नीचे का धरातल साफ़ करनेवाले जहाज़ों-द्वारा अत्यन्त गहरे समुद्र भी केवल ५ मील गहरे सिद्ध हुए हैं और आकाशगामी यान ४ मील से कुछ ही अधिक ऊँचे पहुँच पाये हैं। मनुष्य गुब्बारों-द्वारा सात ही मील ऊपर गया है और वह भी अत्यन्त कष्ट झेलकर। पाँच मील से अधिक उँचाई पर कोई पक्षी नहीं उड़ सकता; और वायुयान-द्वारा इतनी उँचाई पर ले जाये जाने पर बहुत-से क्षुद्र पक्षी और कीट तो वहाँ पहुँचने से बहुत पहले ही मूर्च्छित हो जाते हैं।

---

(२)

कालान्तर्गत पृथ्वी

पृथ्वी की उत्पत्ति और आयु के सम्बन्ध में वैज्ञानिकों ने, गत पचास वर्षों में, अत्यन्त सूक्ष्म और कौतूहलजनक कल्पनायें कर डाली हैं। परन्तु उनके वर्णन में गणित एवं भौतिक शास्त्रसम्बन्धी अत्यन्त सूक्ष्म सिद्धान्तों की आवश्यकता होने के कारण उन कल्पनाओं के सार को भी यहाँ देने की ढिठाई हम नहीं कर सकते। वास्तविक बात तो यह है कि ज्योतिष एवं भौतिक विज्ञान ने अभी तक इन स्पष्ट कल्पनाओं से निकल कर अगली सीढ़ी पर क़दम ही नहीं रखा है। अब तो पृथ्वी की आयु का अधिकाधिक अन्दाज़ा लगाने की ओर ही प्रवृत्ति हो गई है और स्वतन्त्र ग्रह के रूप में, सूर्य की प्रदक्षिणा करनेवाले, नृत्य-निरत इस पृथ्वीपिण्ड का अस्तित्व भी लगभग २,००,००,००,००० वर्ष का समझा जाने लगा है। बहुत संभव है कि वह इससे भी बहुत पहले विद्यमान रहा हो; परन्तु हमारे होश उड़ाने के लिए—हमको सर्वथा हतबुद्धि करने के लिए—तो यही संख्या आवश्यकता से अधिक है।

स्वतन्त्र रूप से अस्तित्व में आने के पूर्व सूर्य और उसकी परिक्रमा करनेवाले पृथ्वी आदि ग्रह, सभी फैले हुए द्रव्य के महान् भँवर के रूप में आकाश में तेज़ी से घूमते रहे होंगे। दूरवीक्षण-यन्त्र-द्वारा देखने पर आकाश में इसी प्रकार के तेजोमय द्रव्य के बादल—कुण्डलाकार नीहारिका—स्थान स्थान पर एक केन्द्र की प्रदक्षिणा करते हुए दृष्टि-गोचर होते हैं। बहुत-से खगोल-शास्त्रज्ञों की यह धारणा है कि सूर्य और उसकी परिक्रमा करनेवाले ये ग्रह भी, किसी समय, इन्हीं के समान कुंडलाकार थे, और कालान्तर में एकत्र हो, इन्होने यह आधुनिक रूप धारण कर लिया है। अनन्त युगयुगान्तरों तक इस प्रकार उनके एकत्र होने की क्रिया जारी रही और उस समय, जिसके अंक हमने दिये हैं, पृथ्वी और चन्द्रमा पृथक् रूप से दिखलाई पड़ने लगे। उस समय ये दोनों अपनी धुरियों पर आज-कल की अपेक्षा अधिक तेज़ी से घूमते थे और सूर्य के अधिक निकट होने के कारण उसकी प्रदक्षिणा भी, वर्तमान काल की अपेक्षा, अधिक तेज़ी से समाप्त करते थे। तब शायद इनके धरातल भी अत्यन्त प्रज्वलित अथवा पिघले हुए थे। उस समय सूर्य भी बड़े आकार का और बहुत बड़ा अग्नि का पिण्ड था।

यदि इन अतीत असंख्य युगों के पहले की—इतिहास के पूर्व की—पृथ्वी को अपनी आँखों-द्वारा देखना संभव होता, तो हम उस समय ऐसा दृश्य देखते जिसकी तुलना वायु-वेग-द्वारा लोहे को गला कर साफ़ करनेवाली आधुनिक भट्टियों के उदर से, अथवा शीतल होकर पपड़ी पड़ जाने से पूर्व बहती हुई लावा (आग्नेयोद्गार) की धारा से की जा सकती है। उस समय कहीं जल भी नहीं दिखलाई पड़ता था क्योंकि संसार का सारा जल अत्यंत उष्णता के कारण गन्धक तथा धातुकण-पूरित प्रचण्ड वातयुक्त नभमण्डल में भाप के रूप में विद्यमान था। उस युग में ज्वाल-पुंज के समान बादलों से पूरित उस आकाश के ऊपर

बृहत् कुण्डलाकार नीहारिका

की ओर तो सूर्य और चन्द्र—ज्वाला-शिखा की उष्ण उसासों की भाँति—शीघ्रता से चक्कर काटा करते थे और उनके नीचे गली हुई चट्टानों का घूर्णित समुद्र-समूह खौला करता था।
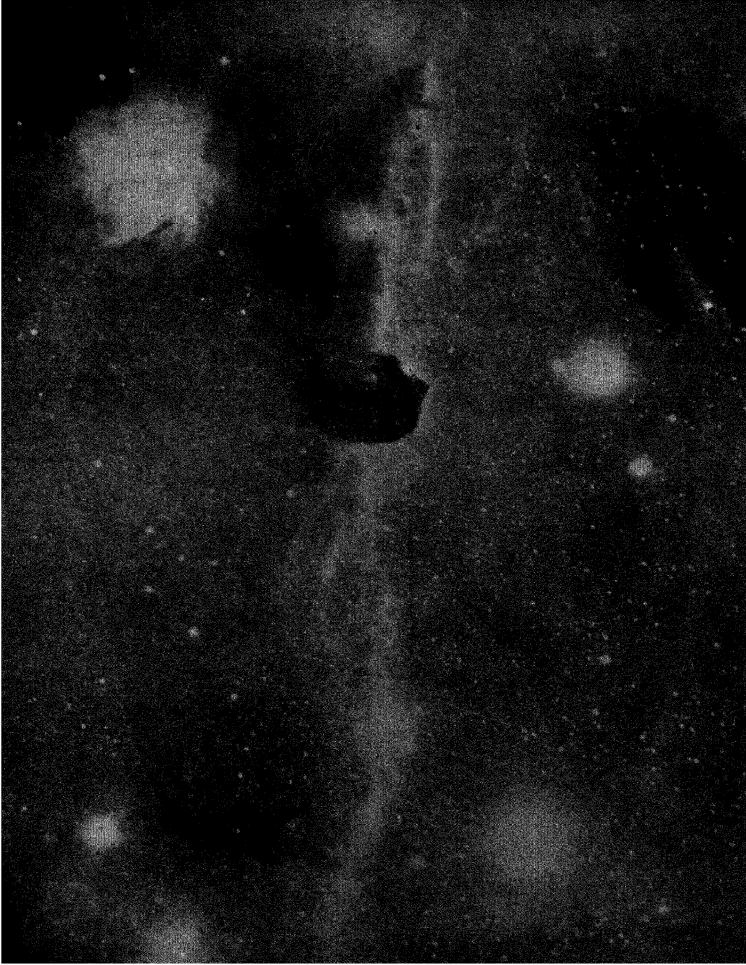
अन्धकारपूर्ण नीहारिका

(यह फ़ोटो सन् १९२० में संसार की सबसे बड़ी दूरबीन से लिया गया था। यह माउण्ट विल्सन दूरबीन से लिये सर्वप्रथम चित्रों में है)

अन्धकार-पूर्ण और प्रदीप्त दोनों प्रकार की नीहारिकायें होती हैं। अँगरेज़ तत्त्व-ज्ञानियों के मत के विरुद्ध प्रोफ़ेसर हेनरी नारिस रसिल का मत है कि प्रदीप्त तप्त पिण्डों के पूर्व अन्धकार-पूर्ण तप्तपिण्ड विद्यमान थे।

फिर लाखों वर्ष पश्चात् (युगयुगान्तर में इस आग्नेय दृश्य की प्रचण्ड और प्रस्फुटनशील प्रज्वलता धीरे धीरे शान्त हो गई और बरस कर नीचे गिर पड़ने के कारण नभमण्डल में पहले का-सा घना वाष्पसमूह भी न रहा। कहीं कहीं उस पिघले हुए लावा पर पपड़ी पड़ जाने के कारण चट्टानें प्रकट हो जाती थीं और जब यह पपड़ी टूटकर पिघले हुए द्रव्य-समूह में डूब जाती थी तब उसके स्थान में दूसरी पपड़ी चट्टान के रूप में तैरने लगती थी। इसी प्रकार बनने बिगड़ने का क्रम युगोंपर्यन्त जारी रहा। सूर्य और चन्द्र दोनों ही अब, अधिक छोटे और अधिक दूरी पर हो जाने के कारण नभमण्डल में पहले जैसी तेज़ी से यात्रा न करते थे। बहुत छोटा आकार होने के कारण चन्द्रमा में अब इतनी गर्मी न रही
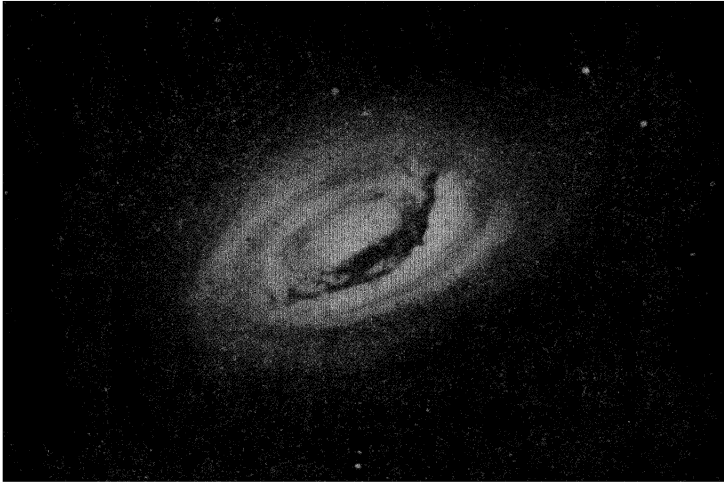
दूसरी कुण्डलाकार नीहारिका

कि वह प्रज्वलित रह सके। वह सूर्य-रश्मियों को प्रतिबिम्बित करने एवं उनका मार्ग रोकने लगा जिससे क्रमशः पूर्णमासी और सूर्य-ग्रहण भी होने लगे थे।

इसी प्रकार बहुत ही धीरे धीरे अनन्तकाल में पृथ्वी ने आजकल की-सी आकृति धारण कर ली; और अन्त में वह युग भी आ गया जब वायुमण्डल शीतल हो जाने के कारण वाष्प भी ठण्डा होकर बादलों में परिणत हो गया और इस प्रकार धरातल की

निचली चट्टानों पर चीत्कार करती हुई प्रथम वर्षा प्रारम्भ हुई। इसके पश्चात् अनन्तकाल तक पृथ्वी का अधिकांश जल वाष्प के रूप में वायुमण्डल में विद्यमान रहा। पर अब इन स्फटिक शिलाओं पर उष्ण जल-धारायें बहने लगीं और तालाब तथा झीलें बन गईं जिनमें ये जल की धारायें प्रस्तरचूर्ण ला लाकर तलछट की तहें जमा करने लगीं।

अन्त में वह समय भी आ गया जब कि पृथ्वी पर मनुष्य खड़ा होकर अपने चारों ओर देख सकता था और इस पृथ्वी पर जीवन धारण कर सकता था। यदि हम उस समय यहाँ आ सकते तो हमको हरियाली से सर्वथा शून्य मृत्तिका-हीन लावा की भाँति चट्टानों
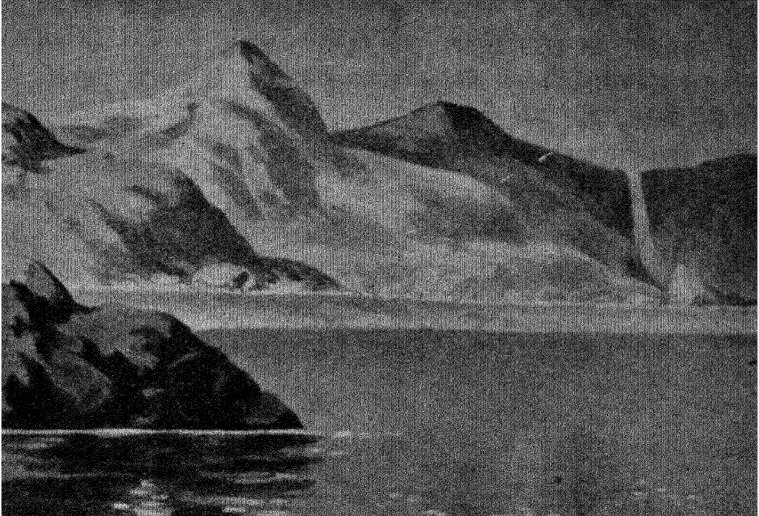
जीवनारम्भ क पूव का दृश्य
(लावा की भाँति चट्टानों के बड़े बड़े खण्ड जिन पर मिट्टी का कोई चिह्न नहीं है।)

के ढेरों पर ही प्रचण्ड वात-पूरित नभमण्डल में खड़ा होना पड़ता और वर्तमानकाल के भयंकर तूफ़ान से भी अधिक प्रचण्ड तथा उष्ण वायु के तूफ़ान, और ऐसी तीव्र मूसलधार वर्षा, जिसका इस शांत और धीमी पृथ्वी को कुछ भी अनुभव नहीं है, हमें व्याकुल कर

देती। उस समय हम देखते कि उस प्रचण्ड वर्षा का जल किस प्रकार चट्टानों के चूर्ण से रंजित हो, भीषण धाराओं में बहता हुआ और चट्टानों को काट कर उनमें गहरे दर्रे बनाता हुआ आद्य समुद्रों में जा-जाकर चट्टानों के तलछट बिछा रहा है। इसके अतिरिक्त घने बादलों के भीतर से आकाश में प्रत्यक्ष रूप से गमन करता हुआ महान् सूर्य भी हमको दृष्टि-गोचर होता। और सूर्य तथा चन्द्र की यात्रा के साथ नित्य-प्रति भूकम्प आते, और पृथ्वी पर उथल पुथल हुआ करती। वर्तमानकाल में निष्ठुरतापूर्वक अपना एक ही पार्श्व दिखानेवाला चन्द्र भी तब हमको अपने अन्य पार्श्वों को दिखाता और घूमता हुआ स्पष्टतया दीखता।

अब पृथ्वी पुरानी पड़ गई। ज्यों ज्यों युग बीतते गये त्यों त्यों दिन बढ़ने लगा। सूर्य की दूरी अधिक होती गई। उसका तेज भी मन्द होने लगा। चन्द्रमा की गति अब क्षीण हो चली थी। वर्षा और तूफ़ान भी अब पहले की भाँति प्रचण्ड न होते थे और हमारे ग्रह के आदि-समुद्रों में जल बढ़ने लगा और वे महासमुद्र बन गये जो हमारी पृथ्वी को तभी से परिधान की तरह वेष्टित किये हुए हैं।

परन्तु पृथ्वी पर उस समय तक जीवन का प्रादुर्भाव नहीं हुआ था। समुद्र जीवन-हीन थे और चट्टानें शुष्क थीं।

(३)

प्राण का प्रादुर्भाव

यह तो अब सभी जानते हैं कि मानव-स्मृति एवं परम्परागत कथाओं से पहले की जीवन-दशा का ज्ञान हमको **स्तरीय चट्टानों** (Stratified Rocks) में मिलनेवाले फ़ोसिलों (Fossils) अर्थात् शिलासम कठोर हुए **तत्कालीन** जीवधारियों और उनके चिह्नों-द्वारा हुआ है। इन **स्लेट** (slates) **शेल** (shale), **चूने के पत्थरों** (limestones) और **रेतीले पत्थरों** में हमको हड्डियाँ, घोंघे (कोष, वृक्षों के तन्तु-स्तम्भ एवं फल, पदचिह्न और खुरँच इत्यादि के साथ ही साथ, आद्यकालीन ज्वार-भाटे में आनेवाली लहरों तथा वर्षा-बिन्दुओं के आघात-चिह्न तक सुरक्षित मिलते हैं। इन चट्टान-अंकित लेखों का अत्यन्त श्रम-पूर्वक परीक्षण करने के उपरान्त ही पृथ्वी का यह जीवन-इतिहास गाँठ-गूँठ कर तैयार किया गया है; और यह बात अब प्रायः सभी को मालूम **है। स्तरीभूत चट्टानों** (Stratified rocks) की **तहें** (strata) एक दूसरी पर स्पष्टतापूर्वक रखी हुई नहीं मिलतीं, बरन बार-म्बार लूटे और अभिसमर्पण किये हुए पुस्तकालय के पत्रों की भाँति ये शिलायें भी कहीं चकनाचूर हैं तो कहीं मुड़ गई हैं; कहीं बिखरी हुई हैं तो कहीं एक दूसरे के संयोग में आ गई हैं। इस लेखमाला को सुव्यवस्थित रूप देकर पढ़ने योग्य बनाने के उद्योग में कितने ही विद्वानों को जीवन-पर्यन्त सतत परिश्रम करना पड़ा है। लोगों का अनुमान है कि इन शिलालेखों-द्वारा लगभग १,६०,००,००,००० १ अरब साठ करोड़) वर्षों का ब्यौरा मालूम होता है।

प्राण (Life) चिह्नों से सर्वथा शून्य दीख पड़ने के कारण ही इस लेखमाला के आदिम पाषाणों का नाम भू-गर्भ-शास्त्रियों ने **निर्जीव शिला'** (Azoic Rocks) रखा है। ये चट्टानें उत्तरीय अमेरिका के बहुत विस्तृत क्षेत्र में फैली पड़ी हैं। उनकी मोटाई को देखते हुए भू-गर्भ-शास्त्रियों का अनुमान है कि उपरोक्त १ अरब साठ करोड़ वर्षीय भू-गर्भ-काल का कम से कम आधा समय तो इसी युग में खप गया होगा—अर्थात् इन्हीं के बनने में व्यतीत हो गया होगा। इस महत्त्वपूर्ण बात को हम पुनः इन शब्दों में दुहरा सकते हैं कि संसार में जल और स्थल की विभिन्नता सर्वप्रथम प्रकट होने के समय से आज तक जितने युगयुगान्तर बीत चुके हैं उनके आधे समय में पृथ्वी सर्वथा जीव-शून्य अथवा

केम्ब्रीय युग के समुद्री जीव

(१ और ८) सान्द्रमत्स्य, (२) तैरनेवाला शम्बूक, (३ तन्त्वपत्ती मत्स्य।

प्राणिविहीन थी। या यों कहिए कि उस आधे काल में जीवन के चिह्न नहीं मिलते। वर्षा-घात और लहरों के चिह्न तो इन पाषाण-शिलाओं में मिलते हैं परन्तु प्राणियों के चिह्न अथवा उनकी पदपंक्तियों का उनमें कहीं पता नहीं लगता।

फिर जैसे जैसे हम इन लेखों का ज्ञान प्राप्त करते हुए आगे बढ़ते हैं वैसे वैसे, अतीत कालीन **प्राणि-चिह्न** (signs of life) भी प्रकट होकर अधिकाधिक दीखने लगते हैं। संसार के इतिहास के इस अतीत प्राणि-चिह्न-काल का नाम **पूर्व लुप्त जीव-काल** (Lower Palaezoic Age) रखा गया है। क्षुद्र शंखों के कोष, **समुद्र-तृण** (sea weeds), पादपों के तन्तु एवं पुष्पसरीखे **ज़ूफाइट** (Zoophytes) के शिरोभाग, सामुद्रिक कीट और **क्रस्टेशिया** (Crustacea) आदि अपेक्षाकृत अधिक सरल देह-धारियों के चिह्नों से हमको मालूम होता है कि पृथ्वी पर जीवन या प्राण का प्रादुर्भाव हो चुका था। स्पन्दन करनेवाले **प्लान्ट लाइस** (plant-lice) सरीखे रेंगकर चलनेवाले, और फिर सिमिट कर कन्दुकाकार बन जाने की शक्ति रखनेवाले, **ट्राइलोबाइट** (Trilobites) नामक विशिष्ट प्राणी बहुत पहले उत्पन्न हो चुके थे। फिर कई लाख वर्ष बीत जाने पर एक प्रकार के सामुद्रिक बिच्छू दीख पड़ते हैं। इनके समान शक्ति-सम्पन्न एवं द्रुतगामी जीवधारी संसार में, इससे प्रथम, उस समय तक उत्पन्न नहीं हुए थे।
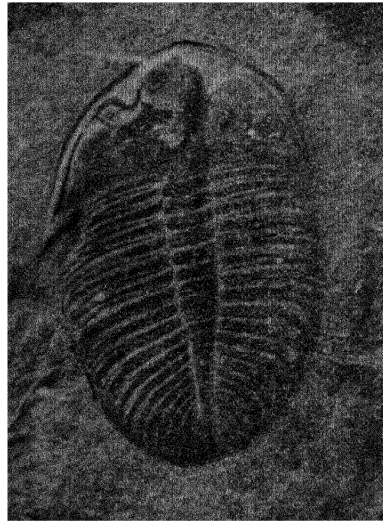
ट्राइलोबाइट का फ़ोसिल (कुछ परिवर्धित)

इन जीवधारियों में से एक भी बृहदाकार न था, अत्यन्त विशाल समझे जानेवाले विशेष प्रकार के बिच्छुओं की लम्बाई ९ फ़ीट से अधिक न थी! पशु और पादप दोनों ही का इस समय स्थल पर अभाव था। लेखमाला के इस अंश में हमको मछलियों अथवा मेरुदण्डयुक्त अन्य प्राणियों के अस्तित्व के चिह्न भी उपलब्ध नहीं होते। पशुओं और पादपों के अवशिष्ट चिह्नों से पता लगता है कि इस युग के प्राणी ज्वार-भाटे के या

उथले जल में रहते थे। यदि परिमाण-सम्बन्धी विषमता को गौण मान कर हम पूर्व लुप्त जीव युग के वनस्पति और प्राणियों के आधुनिक समकक्ष उदाहरण देखना चाहें तो हमें छोटे से पहाड़ी ताल अथवा कीच से एक बिन्दु जल लेकर क्षुद्रवीक्षण यंत्र-द्वारा उसकी
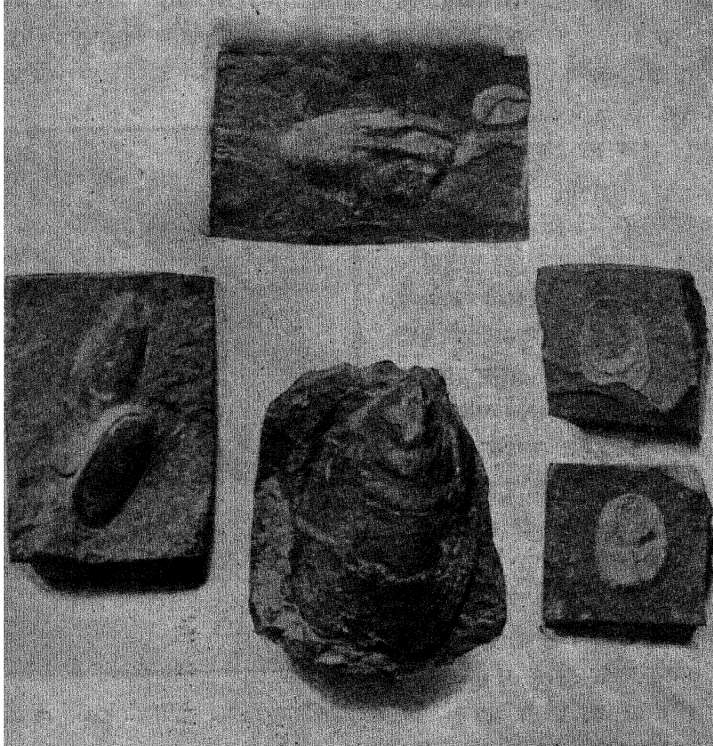
लिङ्गुला की कई जातियों के लुप्त जीव-युग के फ़ोसिल
(कंबुस्थ के अत्यन्त प्राचीन वर्ग के प्राणी अब तक जीवित हैं)

जाँच करनी चाहिए। इस जलबिन्दु में दीख पड़नेवाले छोटे-छोटे **क्रस्टेशिया** (Crustacea), **घोंघे** (Shell-fish), **ज़ूफाइट** (Zoophyte) और ऐलगी (Algae) हमारे इस

ग्रह पर, किसी समय जीवनकला की चरम सीमा तक पहुँचनेवाले अपने अनुरूप बड़े-बड़े प्राणियों से मिलते-जुलते ही प्रतीत होंगे।

परन्तु यह याद रखना चाहिए कि पूर्व लुप्तजीव-युग की चट्टानों में हमें इस ग्रह पर प्रथम प्रादुर्भूत जीव का प्रतिनिधिस्वरूप कुछ भी चिह्न नहीं मिलता। अस्थि अथवा अधिक कठोर अवयववाले शंख तथा शुक्ति-सदृश बृहदाकार काफ़ी वज़नी प्राणियों के ही, पद, पंक्ति अथवा चिह्न, मिट्टी पर अंकित हो सुरक्षित रह सकते हैं। और उन्हीं के अवयव दबकर शिला-सम कठोर (फ़ोसिल) हो जाने के कारण अपना चिह्न छोड़ सकते हैं। अन्य प्रकार

चिरोथीरियम युग के स्तरों में लेब्रिन्थोडाएट के बने हुए पद-चिह्न

के प्राणियों का कुछ भी चिह्न नहीं रहता। इस समय भी, संसार में लाखों करोड़ों क्षुद्र-कायिक प्राणियों के अवयव इतने मृदु एवं कोमल हैं कि भविष्य में भू-गर्भशास्त्रियों को उनके अस्तित्व के चिह्न मिलना सर्वथा असम्भव है। अतीत में भी, इसी प्रकार, इन्हीं के सदृश, करोड़ों और पद्मों प्राणी इसी पृथ्वी पर उत्पन्न हो, फल-फूलकर, बिना चिह्न छोड़े हुए अवश्य ही नष्ट हो गये होंगे। संभव है कि जिसे हमने **निर्जीव युग** (Azoic period) के नाम से प्रसिद्ध कर रखा है उस युग के समुद्रों और झीलों के उष्ण और उथले जल में **अस्थिविहीन** (jelly-like), कोषरहित और हड्डीहीन असंख्य प्रकार के निम्न-प्राणियों की भरमार रही हो। इसी भाँति सूर्यप्रकाशयुक्त समुद्र के किनारे के ज्वारभाटा के जल से धुली हुई पृथ्वी पर भी हरे रङ्ग के अनन्त पौदे तैरते हुए मैल (scum) की

भाँति फैले रहे हों। जिस प्रकार किसी महाजन की कोठी के खाते, प्रत्येक पड़ोसी के अस्तित्व का प्रमाण नहीं हो सकते; उसी प्रकार चट्टानों की इस लेखमाला-द्वारा हमको अतीत कालीन समस्त प्राणियों की जीवनकथा की भी जानकारी नहीं हो सकती। प्राणियों की विशिष्ट जातियाँ जब स्राव-द्वारा कोई कोप (spicule) **नोक** या ढाल की तरह पीठ (Carapace), अथवा चूने से निर्मित डाल या तना (lime-supported stem) उत्पन्न करती हैं तभी तो वे भविष्य के लिए मसाला छोड़ सकती हैं। और तभी तो वे चिह्न इन लेखमालाओं में स्थान पाते। परन्तु पाषाण-सम कठोर प्राणि-अवयवों को धारण करने-वाली इन शिलाओं से भी अधिक पुरातन चट्टानों में कहीं कहीं **ग्रैफ़ाइट** (graphite) नामक, सर्वथा विशुद्ध कर्बन तत्त्व भी पाया जाता है। इसी कारण कुछ वैज्ञानिकों का यह मत है कि किन्हीं अज्ञात जीवधारियों की **प्राणक्रियाओं** (vital activities) द्वारा ही यह ग्रैफ़ाइट, इस प्रकार, अन्यमिश्रित पदार्थों से अलग किया गया होगा।

मत्स्य-कल्प

जिस समय संसार की उत्पत्ति कुछ ही सहस्र वर्ष पुरानी मानी जाती थी, उस समय विभिन्न वनस्पतियां और जन्तुओं के भेद निश्चित एवं अपरिवर्तनीय समझे जाते थे। यह माना जाता था कि प्रत्येक जाति के जीवों को हम आज जिस रूप में देख रहे हैं वे उसी रूप में उत्पन्न किये गये थे। परन्तु चट्टानों की लेखमाला के अध्ययन से मानव-ज्ञान में जैसे जैसे वृद्धि होती गई वैसे वैसे उपरोक्त धारणा के स्थान में यह शंका उपस्थित होने लगी कि बहुत से प्राणि-भेद, युग-युगान्तरों में, शनैः शनै; परिवर्तित होकर उन्नति करते गये हैं। और फिर उसी शंका ने, कालान्तर में, वृद्धि पाकर **प्राणि-विकास-वाद** (Theory of Organic Evolution) का रूप धारण कर लिया। इस सिद्धान्त के अनुसार भूमण्डल के पशु-पादप आदि समस्त वर्गीय प्राणी, **निर्जीव** (Azoic Age) **युगीय** समुद्र-निवासी किसी अत्यन्त सरल और प्रायः आकृतिहीन जीवधारी से युगयुगान्तरों में धीरे धीरे परिवर्तित और विकसित हुए हैं।

पृथ्वी की आयु की भाँति प्राणि-विकास-वाद के प्रश्न पर भी प्राचीन काल में अत्यन्त कटु वाद-विवाद हुए हैं। एक समय था जब प्रायः दुर्बोध युक्तियों के आधार पर प्राणि-विकास में विश्वास करना, ईसाई, यहूदी और मुसलमानों के युक्तियुक्त सिद्धान्तों के विरुद्ध समझा जाता था। परन्तु वह समय कभी का बीत चुका। अब तो कट्टर कैथॉलिक और प्रौटैस्टेंट आदि पंथावलम्बीय ईसाई, यहूदी तथा मुसलमान भी इस अधिक नवीन एवं विशद—'समस्त प्राणि-वर्गों के एक ही उद्गम'—सिद्धान्त को स्वतन्त्रतापूर्वक मानते हैं। पृथ्वी पर **जीवन** (life) कभी सहसा प्रकट नहीं हुआ। अतीत के समान वर्तमान काल में भी **जीवन** (life) का विकास हो रहा है। आदिम ज्वार-भाटे के पंक-स्पन्दन-मात्र से विकसित होकर **प्राणि-शक्ति** (life) कल्पनातीत युगयुगान्तरों से धीरे धीरे स्वाधीनता-शक्ति और चेतनता लाभ करती आ रही है

व्यक्ति-समूह का नाम ही **जीवन** (life) है। व्यक्ति उन निर्दिष्ट पदार्थों को कहते हैं जो चेतनारहित, गतिहीन एवं अनन्त द्रव्यकणों अथवा भौतिक राशियों से सर्वथा भिन्न होते हैं। अन्य द्रव्यों को पचाकर अपना अंश बनाना और संतति उत्पादन करना,—इनके ऐसे दो विशेष स्वाभाविक गुण हैं जो निर्जीव द्रव्यों में कदापि नहीं हो सकते। ये

भोजन भी करते हैं और संतानोत्पादन भी। इनसे उत्पन्न होनेवाले अन्य व्यक्ति, बहुत अंशों में इनसे समानता रखते हुए भी, सदैव थोड़े बहुत असमान अथवा भिन्न ही होते हैं। प्रत्येक व्यक्ति और उसकी संतान में, जातिगत एवं वंशज समानता के साथ ही साथ, व्यक्तिगत भिन्नता भी होती है जो प्रत्येक माता-पिता और उनकी संतानों में पाई जाती है। और यह सिद्धान्त प्रत्येक जाति और प्रत्येक जीवनावस्था में सदैव ध्रुवसत्य है।

समुद्री बिच्छू का नमूना जिसमें उसका शारीरिक आवरण दिखलाया गया है।
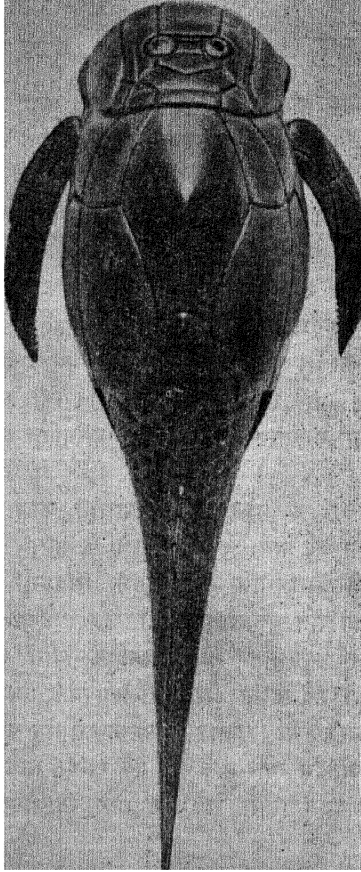
संतानों की माता-पिताओं से समानता और विभिन्नता का कारण वैज्ञानिक लोग अभी तक हमको नहीं समझा सके हैं; परन्तु संतति में ऐसी समानता के साथ ही साथ विभिन्नता को देखकर हम भौतिक विज्ञान की अपेक्षा अपनी बुद्धि के भरोसे अधिक दृढ़ता से यह कह सकते हैं कि जीवन परिस्थिति में परिवर्तन होने पर वर्ग में भी तदनुसार परिवर्तन आवश्यक [illegible] ा की जीवन-परिस्थिति में कु[illegible] स भी मिलेंगे जो व्यक्तिगत विभिन्नताओं के कारण परिवर्तित परिस्थिति में अधिक सुगमता से रह सकते हैं और इसके विपरीत अन्य ऐसे भी होते हैं जिनको उस बदली हुई परिस्थिति में अपने व्यक्तिगत भेद के कारण जीवित रहना भार हो जाता है। निष्कर्ष यह निकला कि पहले प्रकार के जीवधारी, दूसरों की अपेक्षा, अधिक समय तक जीवित रहेंगे और उनकी संतति भी (अपेक्षाकृत) अधिक होगी। इस प्रकार विविध जातियों के औसत दर्जे के प्राणी प्रत्येक पीढ़ी में अनुकूल परिस्थितियों की ओर सदा परिवर्तित होते रहेंगे।

'प्राकृतिक चुनाव' या प्राकृतिक वरण (Natural Selection) कहलानेवाली यह क्रिया इतना वैज्ञानिक सिद्धान्त नहीं है जितना वंशोत्पादन और व्यक्तिगत विभिन्नताओं के अवलोकन या अध्ययन से किया गया निगमन या अनुमान है। वर्गों (उपजातियों) के परिवर्तन विनाश और रक्षण के ऐसे अन्य कारण भी संभव हैं जिनके विषय में भौतिक विज्ञान अद्यावधि सर्वथा अनभिज्ञ एवं अनिश्चित है; फिर भी प्रारम्भिक काल से, जीवधारियों पर लागू होनेवाले प्राकृतिक चुनाव" की क्रिया के अस्तित्व को न माननेवाला मनुष्य या तो जीवन के साधारण तत्त्वों से अनभिज्ञ है अथवा उसमें विचार करने की शक्ति का सर्वथा अभाव है।

डेवोनियन गोह का एक फोसिल

जीवतत्त्व (Life) के प्रादुर्भाव के विषय में बहुत-से वैज्ञानिकों ने विविध कल्पनायें की हैं जो प्रायः अत्यन्त कौतूहलजनक हैं; परन्तु वास्तव में जीवतत्त्व का आविर्भाव हुआ किस प्रकार—इसका यथार्थ ज्ञान न तो किसी को है और न किसी ने आज तक निश्चयात्मक रूप से कोई अनुमान ही लगाया है। परन्तु उसका प्रादुर्भाव, सूर्य-प्रकाश-युक्त उष्ण एवं उथले खारी जलाशयों के पंक अथवा रेत में होना और फिर उसका वहाँ से स्थल की ओर किनारे पर ज्वार-भाटे की सीमा तक और खुले हुए समुद्रों में दूर तक फैलना तो प्रायः सर्वसम्मत सिद्धान्त है।

आद्यकालीन पृथ्वी पर ज्वार-भाटा और समुद्र की धारायें थीं। इसी कारण बहुत-से प्राणी या तो बह कर समुद्र-तट पर आ जाते और वहाँ सूख जाते या गहरे समुद्र में पहुँच कर वहाँ उसमें डूब जाते; जहाँ वे वायु तथा ताप के अभाव से नष्ट हो जाते थे। परन्तु प्राणधारियों में मूल स्थापन कर अपना अस्तित्व बनाये रखने या समुद्र-तट पर पड़े हुए प्राणी में शुष्क होने से बचने के लिए वर्मकूप या बहिर्चर्म निर्माण करने की प्रवृत्ति को तत्कालीन संसार की परिस्थिति से सहायता मिलती थी। रसनेन्द्रिय जाग्रत होने पर प्रत्येक प्राणी की प्रवृत्ति अत्यन्त प्राचीन काल से ही उसको भोजन की ओर झुकाती थी: और चक्षु इन्द्रिय जाग्रत् होने पर जीवधारी गहरे समुद्रों और गुफाओं के अंधकार अथवा भयोत्पादक उथले जलाशयों के तापाधिक्य से बचने के लिए वहाँ से निकल आने का घोर प्रयत्न करते थे।

बहुत संभव है कि प्राणधारियों के यह आद्यकालीन कोष और वर्मकूपी बहिर्चर्म आक्रमणशील शत्रुओं से बचाव करने की अपेक्षा उनके अवयवों को शुष्क होने से

डेवोनियन युग की समुद्री गोह और अन्य मत्स्य

रोकने के ही काम में अधिक आते हों। परन्तु दाँतों और नखों का प्रादुर्भाव भी पृथ्वी की सृष्टि के इतिहास में अत्यन्त प्राचीन काल से हुआ है।

अधिक प्राचीन जल-बिच्छुओं का आकार हम पहले ही बता चुके हैं। युग-युगान्तर-पर्यन्त ये ही जीव समस्त प्राणधारियों के शिरोमणि थे। तत्पश्चात् पूर्व लुप्त जीवयुग

की चट्टानों (Palaeozoic Rocks) का सिलूरियन नामक एक प्रकार की चट्टान में जो लुप्तजीव-युग की उन चट्टानों को दिया गया है जो पहले पहल वेल्स देश के सिलूरिया नामक स्थान में पाई गई थीं। जो भूगर्भशास्त्रियों के अनुमान से पचास करोड़ वर्ष पुरानी हैं चक्षु, दंत और तैरने की अधिक शक्ति तथा सामर्थ्य से सम्पन्न एक नवीन प्रकार का प्राणी मिलता है। रीढ़दार यही सर्वप्रथम ज्ञात मत्स्य और प्राणी है। जाना हुआ सर्वप्रथम मेरुदण्डयुक्त प्राणी यही है।

शिलालेखों के अगले विभाग में, जो डेवन-शायर में पाये जाने के कारण 'डैवोनियन' क्रम के नाम से विख्यात हैं, ये मछलियाँ अत्यन्त बढ़ गई थीं। और इस बहुतायत के कारण ही शिला-लेखमाला का यह काल मत्स्य-कल्प के नाम से प्रसिद्ध है। उस समय विशेष आकार की मछलियाँ, जो अब पृथ्वी पर अप्राप्य हैं और जो आजकल की **समुद्र गोह** (Sharks) और **स्टर-जियन** (Sturgeons) से कुछ मिलती-जुलती थीं, कभी पानी में दौड़ती थीं तो कभी वायुमण्डल में कूदती थीं; कभी **स्तम्ब** (sea-weeds) को कुतरती थीं तो कभी एक दूसरी के पीछे भाग कर आक्रमण करती थीं। इनके कारण अतीत कालीन संसार के जल में एक नये प्रकार की चहल-पहल उत्पन्न हो गई थी। आजकल की दृष्टि से ये प्राणी कदापि दीर्घकाय नहीं कहे जा सकते। ये प्रायः दो-तीन फ़ुट से अधिक लम्बी न होती थीं। परन्तु इस नियम के अपवाद में कोई कोई बीस फ़ुट लम्बी भी मिल जाती हैं।

इन मछलियों के पूर्व पुरुषाओं का कुछ भी वृत्तान्त भूगर्भ-शास्त्र-द्वारा ज्ञात नहीं होता। ऐसा प्रतीत होता है कि पूर्ववर्ती जीवों के आकार से इनकी कुछ भी समानता न थी। इनके पूर्व पुरुषाओं के सम्बन्ध में जंतु-शास्त्र के ज्ञाताओं के बड़े कौतूहल-पूर्ण विचार हैं। वे विचार इनके वर्तमान कालीन सजातीय प्राणियों के अण्डों के विकास तथा अन्य स्रोतों के अध्ययन द्वारा निश्चित किये गये हैं। प्रकाश्य रूप से तो ऐसा जान पड़ता है कि इन मेरुदण्डयुक्त पशुओं के पूर्ववर्ती जीव, जल में तैरनेवाले कोमल अवयव-युक्त क्षुद्र प्राणी थे जिनके शरीरों में मुँह और उसके आस-पास दाँत के समकक्ष कठोर अवयवों की सर्वप्रथम रचना हुई। **डॉगफिश** (Dogfish) और **स्केट** (Skate) नामधारी विशेष प्रकार की मछलियों के मुख में ऊपरी और निचला भाग निरा दाँतों से भरा होता है; और ये ही दाँत, होठों के पास चपटे दाँतों-सदृश **वल्क** (scales) में परिवर्तित हो, देह के अधिक भाग को ढके रहते हैं। दाँतों के सदृश वल्क के विकसित होने पर भूगर्भकालीन लेखमालाओं के ये मत्स्य, अतीत-कालीन अंधकार से निकल कर प्रकाश में तैरने लगे, और शिलाओं में मिले हुए लेखों-द्वारा उनका, सर्वप्रथम मेरुदण्डयुक्त प्राणियों के रूप में, दर्शन हुआ।

---

(५)

कोयले के दलदल का अथवा जल-थल-चारी जीवयुग

मत्स्य-कल्प में स्थल, प्रकाश्यरूप से, सर्वथा प्राणिहीन ही था। पर्वत-शिखरों तथा बड़ी चट्टानों के उठे हुए भागों पर तब केवल धूप और मेंह ही पड़ा करते थे। जो वास्तव में मिट्टी कहलाती है, वह, उस समय न थी क्योंकि मिट्टी बनाने में सहायता देनेवाले केंचुओं का तब तक जन्म न हुआ था और न चट्टानों के टुकड़ों को चूर-चूर करनेवाले पौदे ही तब तक उत्पन्न हुए थे। **सियार और शूकरी** (moss or lichen) का भी उस समय चिह्न तक न था। तब प्राणी केवल समुद्र में ही पाये जाते थे।

इस प्राणि-शून्य शिलामय जगत् के जलवायु में तब महान् परिवर्तन हुआ करते थे। उनके मूलकारण अत्यन्त क्लिष्टकल्प होने के अतिरिक्त अभी तक हमारी समझ में भले प्रकार नहीं आये हैं। पृथ्वी की मार्गाकृति के परिवर्तन, भ्रमणशील धुरियों के धीरे-धीरे स्थानच्युत होने, महाद्वीपों की आकृति बदलने और, इन सबके साथ ही साथ, शायद सूर्य की उष्णता में भी न्यूनताधिकता होने से हमारी पृथ्वी के सुदीर्घ क्षेत्र कभी तो बहुत समय तक शीतल होकर बर्फ़ से ढके रहते थे और कभी हमारे इसी ग्रह पर फिर लाखों वर्ष तक उष्ण अथवा सम-शीतोष्ण जल-वायु हो जाते थे। मालूम होता है कि उस समय के इतिहास में—इसी मेदिनी के गर्भ में—कुछ महान् क्रियायें होती रहती थीं, और लाखों वर्षपर्यन्त, ऊपर की ओर उछाले हुए पदार्थों के संचय जब ज्वालामुखी के रूप में फट कर बाहर निकल पड़ते थे अथवा धरातल को ऊँचा कर देते थे तो पर्वत-मालाओं की परिस्थिति और भूमंडल के महाद्वीपों की आकृतियाँ बदल जाती थीं। समुद्र अधिक गहरे, पहाड़ अधिक ऊँचे और ऋतुएँ अत्यन्त विषम हो जाया करती थीं। इस उथल-पुथल के पश्चात् फिर, युगोंपर्यन्त अधिक शांति के स्थिर साम्राज्य में, कुहासे मेह और नदियों-द्वारा पर्वतों की उँचाइयाँ छटने से उनका चूरा समुद्र के अंतस्तल में जा बिछता था। इसके फलस्वरूप अर्थात् उसकी तरी में रेत बिछ जाने के कारण वह दिन दिन उथला और चौड़ा होकर अधिकाधिक भू-भागों पर फैलता जाता था। पृथ्वी के इतिहास में ऐसे भी युग हुए हैं जब धरती अधिक ऊँची और समुद्र अधिक गहरे, या धरती अधिक समतल और समुद्र अधिक उथले हो गये थे। ऊपरी भाग पर **पपड़ी** (crust) बनने के समय से आज तक पृथ्वी धीरे धीरे निरन्तर

अधिकाधिक शीतल ही होती जाती है—यह धारणा पाठकों को सर्वथा चित्त से निकाल देनी चाहिए। पृथ्वी में शीतलता आ जाने के बाद उसके **धरातल** (surface) **पर भू-गर्भ के तापक्रम** (temperature) का प्रभाव पड़ना बंद हो गया। इस बात के चिह्न
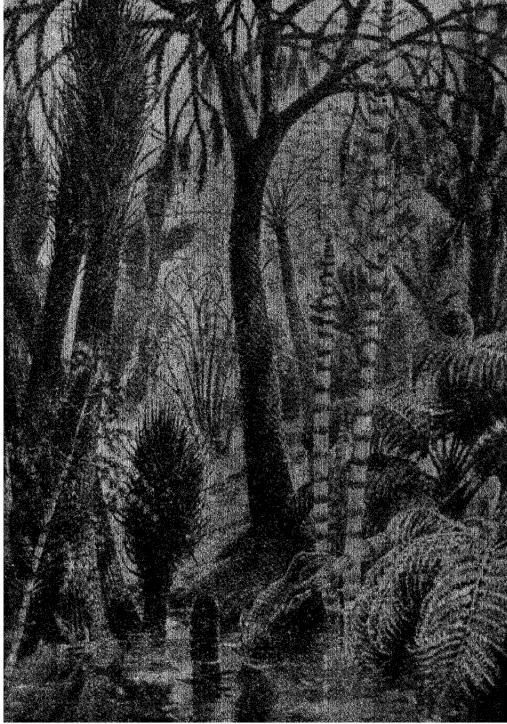
कर्बनिफ़रस दलदल
(कोयले की खान का पूर्व रूप)

मिलते हैं कि जिस युग को हम निर्जीव युग कहते हैं उसमें भी ऐसे युग—**हिम-कल्प** (Glacial Ages)—हुए हैं जिनमें पृथ्वी बर्फ़ या तुषार से सर्वथा ढकी हुई थी।

मत्स्य-कल्प के अंतकाल में—चौड़े और उथले समुद्र तथा **कच्छों** (lagoons) की बहुतायत होने पर ही—जीव-सृष्टि जल से निकल कर स्थल में सफलता-पूर्वक फैलने लगी। इसमें सन्देह नहीं कि प्रचुर राशि में प्रकट होनेवाली तत्कालीन जीवाकृतियों के अधिक प्राचीन प्रतिरूप भी लाखों वर्ष पूर्व संसार में अस्पष्ट एवं अप्रकाश्य विधि से विकसित हो रहे थे; परन्तु दिन दूनी रात चौगुनी उन्नति करने का अवसर उनको इसी समय मिला।

जल-थल-चारी युग के एक भीमकाय जीव लेबिरिन्थोडाएट के शिर की हड्डी।

स्थल-विजय में स्थावर-सृष्टि (वृक्षादि) का स्थान वास्तव में पशुओं से प्रथम होने पर भी यह कहना शायद ठीक ही होगा कि वृक्षों की इस यात्रा के पश्चात् पशु भी तुरन्त ही उनका अनुगमन करने लग गये। लहराते हुए जल के हट जाने पर, अपनी पत्तियों को उठाकर धूप में फैलाये रखने के लिए किसी टिकाऊ और कड़ी टेक की व्यवस्था करना इन वृक्षों के लिए सर्वप्रथम समस्या थी और जल के निकट न होने से—जैसा अभी ऊपर कह आये हैं—नीचे की गीली भूमि से पानी किस प्रकार पौदों के तन्तुओं में पहुँचाया जाय—इसके उपाय ढूँढ़ निकालना उनके लिए दूसरी समस्या थी। परन्तु **काष्ठजाल** (wood-tissue) या रेशों का विकास होने पर ये दोनों समस्यायें हल हो गईं। इनसे पौदों को टेक भी मिली और इनके द्वारा पत्तों तक पानी भी सुगमता-पूर्वक पहुँचने लगा। चट्टानों की लेखमाला में अब सहसा विभिन्न जातीय दलदलों में उत्पन्न हुए **काष्ठिक** (Woody plant) पौदों के समूह के समूह दृष्टिगोचर होने लगते हैं। इनमें शैवाल के बड़े बड़े वृक्ष, हंसराज और दैत्याकार **हॉर्स-टेल** (Horse-tail) नामक वृक्ष विशेष ही मुख्य हैं। फिर युगयुगान्तरपर्यन्त भिन्न भिन्न आकृति के पशु भी—इनके साथ ही साथ धीरे धीरे जल से बाहर रेंगकर—निकलने लगे। इनमें, शतपद और सहस्रपद जीव भी थे और आदिम कीड़े भी; प्राचीन **राजकेकड़ों** (King-

crabs) के सजातीय प्राणी भी थे और समुद्री बिच्छुओं के भी। ये क्रमशः सर्वप्रथम मकड़ी और स्थल के बिच्छू कहलाये; फिर कालान्तर में रीढ़दार पशु भी मिलने लगे।

अधिक प्राचीन काल के कुछ कीट आदि बहुत बड़े होते थे। उदाहरण के लिए सपक्ष नाग (Dragon Fly) के समान प्रतीत होनेवाली तत्कालीन बड़ी मक्खियाँ ही परों सहित उन्तीस इंच लम्बी होती थीं।

इन नवीन वर्गों और जातियों ने अब अनेक प्रकार से अपने शरीर को हवा में साँस लेने योग्य बना लिया था। इस समय तक समस्त प्राणी केवल पानी में घुली हुई हवा-द्वारा ही साँस लेते थे और यही बात वर्तमान पशु-जगत् को भी करनी पड़ती है। परन्तु आवश्यकता पड़ने पर शरीरस्थ जलकणों को अनेक प्रकार से प्राप्त करने के उपाय भी अब पशु-संसार को प्राप्त हो गये थे। फेफड़ों के सर्वथा सूख जाने पर तो आजकल के मनुष्यों का भी दम
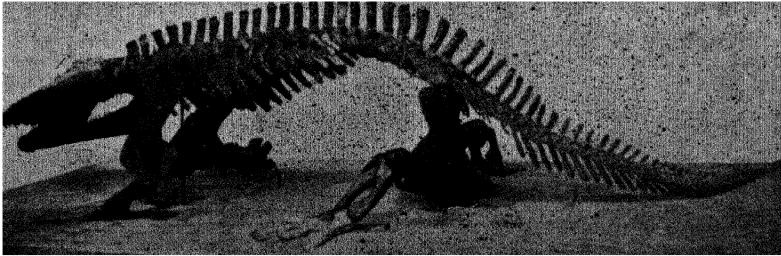
एक लेबीरिन्थौडाएट (ऐरीओप्स) की ठठरी

घुट जायगा; मानवीय फेफड़ों की सतहों के आर्द्र रहने पर ही हवा उनके द्वारा रुधिर में प्रवेश कर सकती है। पुराण-कालीन गलफड़ों के ऊपर ढक्कन बन जाने से जलकणों का सूखना बन्द होने पर अथवा शरीर के भीतर नलिकाओं या अन्य किसी अवयव के परिवर्धित होकर निरन्तर जल से आर्द्र रहने पर ही पशु हवा में साँस लेने को समर्थ हो सकता है। रीढ़ हड्डीवाली आदिम-मछलियाँ जल में जिन गलफड़ों से श्वास लेती थीं उनके द्वारा स्थल पर श्वास लेना असंभव था और पशु-सृष्टि में यह विभाग होते ही पानी में तैरनेवाली मछलियों के **ब्लैडर** ने परिवर्तित एवं परिवर्धित होकर शरीरस्थ श्वासयन्त्र अथवा फुफ्फुस का रूप धारण कर लिया। जल और थल दोनों ही पर एक साथ रहनेवाले प्राणियों का—जिनमें आजकल के मेंढक और गोह का नाम लिया जा सकता है—जीवन जल ही

में प्रारम्भ होता है और उस समय वह **गलफड़ों** (gills) द्वारा ही श्वास लेते हैं। तदनन्तर जिस प्रकार बहुत-सी मछलियों के गले में मांस बढ़ जाने पर थैले के समान, मांस के श्वास-यन्त्रों की सृष्टि होती है उसी प्रकार से इन प्राणियों के गले में भी वैसी ही मांस की वृद्धि होती है और इसके द्वारा श्वास लेना प्रारम्भ होते ही पशु स्थल पर आ जाता है तथा गलफड़े तथा उनके छिद्र लुप्त होने लगते हैं। (केवल एक छिद्र ही रह जाता है और उसके ऊपर मांस का ढक्कन बन जाने से वह कान के छिद्र और पर्दे का कार्य करता है।) इस परिवर्तन के पश्चात् पशु धरती पर ही रह सकता है; परन्तु अंडे देने और वंश-वृद्धि के लिए उसको पानी के किनारे ही जाना पड़ता है।

जिस युग (Age of Swamp) में पृथ्वी इस प्रकार जलमयी हो रही थी और स्थल पर वृक्षों की सृष्टि का प्रारम्भ हो रहा था उस समय रीढ़ की हड्डीवाले पशु भी हवा में इसी प्रकार श्वास लिया करते थे और उनकी गणना भी जल-थलगामी जीवों (amphibia) में ही की जाती थी। उनका आकार प्रायः आजकल के गोह के समान होता था और उनमें कुछ एक तो ख़ासे बड़े भी होते थे। यह ठीक है कि वे थल पर ही रहते थे; परन्तु इन थल-चारी जीवों को भी सदा गीली और सीली भूमि के निकट निवास करने की आवश्यकता होती थी। इसी प्रकार तत्कालीन वृक्ष भी स्वभाव से जल-थल-वासी होते थे। उस समय तक उनके फल और बीजों की इतनी अधिक उन्नत दशा न हुई थी कि धरती पर गिरने के पश्चात् वर्षा और ओसजनित जल-कणों-द्वारा ही परिवर्धित हो सकें। **बीज-पोटलियों** (Spores) का पानी में गिरना वृक्षोत्पत्ति के लिए तब अत्यन्त आवश्यक था।

हवा में जीवित रहने के लिए प्राणियों को कैसी कैसी अद्भुत एवं दुरूह आवश्यकतायें पूर्ण करनी पड़ीं—इसकी खोज निकालना तुलनात्मक **शरीरविज्ञान** (Comparative Anatomy) का अत्यंत कौतूहलपूर्ण अंश है। पशु और वृक्ष दोनों की ही सर्वप्रथम सृष्टि जल में हुई थी। उदाहरणार्थ; मछली से उच्च मनुष्यपर्यन्त समस्त रीढ़दार प्राणी अंडावस्था में अथवा जन्म लेने से पूर्व ही विकास की प्रथम श्रेणी को समाप्त कर देते हैं; और इसी दशा में उनके गलछिद्र भी (विकास के कारण) जन्म लेने से प्रथम ही बन्द हो जाते हैं। मछलियों की अधिक उन्नत श्रेणियों में भी, पानी से धुलनेवाली आँखों पर—उनको सदैव आर्द्र रखने के लिए—पलक तथा जल चुआनेवाले विशेष **मांसपिण्ड** (glands) होते हैं। वायु की निर्बल शब्द-तरंगों को पकड़ने के लिए ही कान के पर्दों की आवश्यकता हुई। इसी प्रकार शरीर के प्रत्येक अवयव को अपने को **वायु-परिस्थिति** (Aerial conditions) के अनुकूल बनाने के लिए अपने में बहुत-से संशोधन तथा परिवर्तन करके जहाँ तहाँ गाँठगूँठ करनी पड़ी है।

यह **कार्बन-काल** (Carboniferous Age) जल-थल-चारी जीवों का युग कहाता है। इसमें प्राणी समुद्र से मिली हुई झीलों तथा जलाशयों के निकट, नीची एवं गीली भूमि में ही निवास किया करते थे। सृष्टि का विस्तार इतने ही क्षेत्र तक परिमित था। पहाड़ियाँ और ऊँची धरतियाँ उस समय तक सर्वथा बंडी और जीवन-शून्य ही थीं। हवा में श्वास लेना सीख लेने पर भी प्राणियों का उत्पत्ति-स्थान, उस समय तक भी जल ही चला आता था। वंशोत्पत्ति के लिए उनको फिर भी जल ही की शरण लेनी पड़ती थी।

(६)

सरीसृप-कल्प

जल-थल-चारी जीवयुग के अर्थात् **कार्बन-कालीन** (Carboniferous) जीव-संकुल के पश्चात् सुदीर्घ सूखे और भयंकर युग प्रारंभ हो गये। चट्टान लेख-माला में ये युग रेतीले पत्थरों आदि की मोटी तहों से प्रदर्शित हैं जिनमें फ़ोसिलों की संख्या अपेक्षाकृत नगण्य रह जाती है। उस समय पृथ्वी का **तापमान** (Temperature) अत्यन्त अस्थिर था और सुदीर्घकाल तक यहाँ पर हिम-सा कठिन शीत भी पड़ता था। इन्हीं कारणों से पूर्वकालीन अनूपदेशीय तृणादिक-संकुल की वृद्धि रुक गई और उपरोक्त नवीन तहों के इनके ऊपर निरन्तर चढ़ते रहने से यह आद्य-कालीन वृक्षादिक उनके भार से सिमिट कर परिवर्तन द्वारा कुछ ऐसे धातु-सदृश कठोर हो गये कि आजकल संसार में पाई जानेवाली कोयले की खानें' उन्हीं की रूपान्तर-मात्र हैं।

किन्तु परिवर्तन-शील युगों में ही **प्राणतत्त्व** (Life) अत्यन्त शीघ्रता-पूर्वक रूपान्तरित होता है; और कठिनाइयाँ पड़ने पर अत्यन्त लाभदायक शिक्षा ग्रहण करता है। फिर हवा में गर्मी और **नमी** (Moisture) बढ़ने के साथ ही साथ हमको नवीन वर्गों के वृक्ष और पशु भी मिलने लगे। चट्टानों की लेखमाला में हमें ऐसे रीढ़दार प्राणियों के चिह्न भी मिलते हैं जिनके अण्डों से **मण्डूक-शिशु** (Tadpoles) की भाँति कुछ काल-पर्यन्त जल में रहने-वाले बच्चे न निकल कर ऐसे प्राणी उत्पन्न होते थे जो अण्डा टूटने से प्रथम ही परिवर्द्धित हो वयस्क प्राणियों के इतने अधिक समान हो जाते थे कि उत्पन्न होते ही उनके लिए स्वतंत्रतापूर्वक वायुमण्डल में आकर जीवित रहना सर्वथा संभव था। उन प्राणियों के **गलफड़े** (Gills) तो न होते थे; पर हाँ, उनमें रन्ध्र-चिह्न ही अपरिपक्व दशा में दीख पड़ते थे।

अपने विकास में **मण्डूक-शिशु** (Tadpoles) की अवस्था से हीन यह नवीन पशु-सृष्टि सरीसृपों की थी। इसके साथ ही साथ बीजवाले वृक्षों का विकास हुआ। ये वृक्ष झीलों या दलदलों की सहायता के बिना ही अपने बीजों को फैला सकते थे। **ताड़ के समान** (Cycad) साइकड और उष्णकटिबन्धीय शंकु-आकार (Conifers) के वृक्ष तो अब हो चले थे परन्तु फूलों के पेड़ अथवा घास उस समय तक उत्पन्न न हुई थी।

हाँ, हंसराज (ferns) की बहुत-सी जातियाँ पाई जाती थीं। इसी प्रकार कीड़ों-मकोड़ों की जातियाँ भी दिन प्रतिदिन बढ़ रही थीं। यद्यपि गुबरीले तो उत्पन्न हो गये थे तथापि मधु-मक्खियों और रंग-बिरंगी तितलियों की सृष्टि होनी शेष थी। परन्तु स्थल की नवीन सृष्टि—नवीन वृक्ष तथा पशुवर्ग—के आद्य एवं प्रधान और मुख्य आकारों की नींव वास्तव में, इन्हीं सुदीर्घ उग्र युगों में सर्वप्रथम रखी गई थी, और अब, फूलने फलने के लिए नूतन सृष्टि उपयुक्त अवसर की बाट जोह रही थी।

फिर युगयुगान्तरों में बहुत कुछ परिवर्तन के पश्चात् वह शान्ति का समय भी आ गया। पृथ्वी के बाह्य पपड़ी की गतियों (जिनका हिसाब हम अभी तक ठीक-ठीक
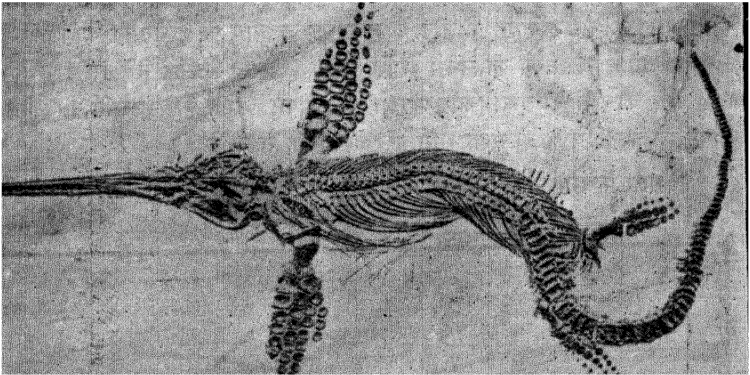
मध्यजीव युग की एक मछलीरूपी छिपकली की ठठरी का फ़ोसिल

नहीं लगा सके हैं) पृथ्वी के मार्गपरिवर्तन तथा ध्रुव के कोणों की न्यूनाधिकता के सम्मिलित फल-स्वरूप पृथ्वी के अत्यन्त विस्तृत क्षेत्र में बहुत दिनों तक उष्ण जलवायु बनी रही। यह अनुमान किया जाता है कि यह अवस्था कोई बीस करोड़ वर्ष तक रही होगी। निर्जीव शिलायुग तथा प्राचीन (लुप्त) **जीव-युग** (Azoic and Palaeozoic Periods) से (जिनका सम्मिलित काल एक अरब चालीस करोड़ वर्ष होता है) एक ओर तथा इसके और वर्तमान युग के बीच में आनेवाले **नवीन जीव-युग** (Cainozoic) से दूसरी ओर, विभिन्नता प्रकट करने के लिए (रेंग कर चलनेवाले प्राणियों की आश्चर्यजनक वृद्धि के कारण) इस

काल को **मध्य जीव-युग** (Mesozoic Age) अथवा सरीसृप युग भी कहते हैं। इस युग को बीते अब आठ करोड़ वर्ष हो गये।

आजकल संसार में सरीसृपवर्गीय जातियों की संख्या कम है और उनका विस्तार भी पहले की अपेक्षा बहुत परिमित है। यह सच है कि **कार्बन-काल** (carboniferous) के जल-थल-गामी प्राणियों की अपेक्षा (जो उस समय संसार के स्वामी बने हुए थे) रेंग कर चलनेवाले इन जन्तुओं की संख्या फिर भी इस समय पृथ्वी पर कहीं अधिक दीख पड़ती है। साँप, कछुए **कच्छप** (chelonia) घड़ियाल मगर और गिरगिट सब इसी वर्ग के प्राणी हैं। इन सबको बिना किसी अपवाद के बारहों मास उष्णता की आवश्यकता होती है। इनमें शीत सहन करने की शक्ति नहीं है। **मध्य जीव-युग** (Mesozoic Age) के समस्त सरीसृप-वर्गीय प्राणियों को शायद इसी असुविधा के कारण महान् कष्ट उठाने पड़ते थे। वे मानों कृत्रिम उष्णगृह के जीव थे जो उष्ण जलवायु की वनस्पति के बीच में रहते थे। कुहासे को सहन करने की उनमें शक्ति न थी। परन्तु संसार ने उस दशा से--जब दलदल और कीच में ही वृक्षों और पशुओं का जीवन संभव था—उन्नति कर ऐसे पशु-पादप उत्पन्न कर दिये थे जो सूखी भूमि पर जीवित रह सकते थे।

विशाल कच्छप नक्र गिरगिट और साँप प्रभृति संसार में आजकल पाये जानेवाले
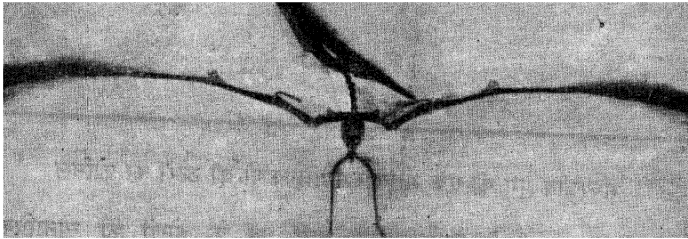
एक पक्षांगुलीय

सरीसृपवर्गीय प्राणियों का बाहुल्य तो था ही किन्तु उस समय संसार में बहुत-से ऐसे अद्भुत प्राणी भी पाये जाते थे जो अब सर्वथा लुप्त हो गये हैं। गोह की आकृति के एक प्रकार के भयंकर **जन्तुओं** (Dinosaurs) के उस समय बहुत-से भेद पाये जाते थे। अधिक निचले

भू-भागों में वनस्पति उत्पन्न होने लगी थी और तब नरकुल हंसराज आदि की गहन झाड़ियाँ वहाँ फैलने लगी थीं। इस तृण-संकुल को खाकर जीवित रहनेवाले तृणाहारी सरीसृपों की संख्या भी बढ़ने लगी। और जब **मध्य जीवयुग** (Mesozoic Period) अपनी पराकाष्ठा पर पहुँचा तो इन सरीसृपों का आकार भी अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया। इनमें से कुछ तो इतने भीमकाय थे कि उनके सदृश स्थल-प्राणी संसार में फिर कभी उत्पन्न ही नहीं हुए। उनका डील-डौल ह्वेल मछली की तरह लम्बा-चौड़ा होता था। उदाहरणार्थ, **डिप्लोडोकस कारनेगिआई** (Diplodocus Carnegii) ही की थूँथनी से लेकर पूँछ तक की लम्बाई चौरासी फ़ीट होती थी; और **दानवाकार गोहाकृतीय जीव** (Giaganto-saurus) तो इनसे भी लम्बे होते थे और सौ फ़ीट तक बैठते थे। इन भयंकराकृतीय प्राणियों को इन्हीं के अनुकूल आकारवाले अन्य **मांसाहारी गोहाकृतीय जन्तु** (Dinosaurs) अपना आहार बनाया करते थे। और इनमें से एक, **महान् पीड़क गोहाकृतीय जन्तु** (Tyrannosaurus) को तो बहुत-सी पुस्तकों में सरीसृप-वर्गीय भयंकरता की पराकाष्ठा बताया गया है।

मध्य जीव-युग (Mesozoic Age) के उपरोक्त भीमकाय जन्तु जिस समय झाड़ियों और सदाबहार जंगलों में चरते और एक दूसरे का पीछा करते थे उस समय इसी सरीसृप-वर्गीय एक अन्य उपजातीय प्राणी भी थे जो अब सर्वथा नष्ट हो गये हैं। इनके आगे के अवयव चिमगादड़ों की तरह होते थे और ये कीड़े-मकोड़े और एक दूसरे का पीछा करते समय, पहले फुदकते और बैलून या हवाई जहाज़ से उतरनेवाली छतरी (Parachute) की भाँति पृथ्वी पर ऊपर से सीधे गिरा करते थे। परन्तु, कालान्तर में धीरे धीरे इन्होंने तत्कालीन झाड़ियों और जङ्गली वृक्षों की शाखाओं के बीच में होकर उड़ान भरना प्रारम्भ कर दिया। आधुनिक वैज्ञानिकों ने इन जीवों का नाम **पत्रांगुलीय** (Pterodactyls) रक्खा है। रीढ़दार प्राणियों में सर्वप्रथम उड़नेवाले प्राणी ये ही थे। इनकी यह उन्नति रीढ़दार प्राणियों की एक नई विजय थी।

परन्तु कुछ सरीसृपों का अब फिर समुद्र की ओर झुकाव होता जा रहा था; और **सरित् गोहाकृतीय** (Mososaurs) **किं-गोहाकृतीय** (Plesiosaurs) और **मत्स्य-गोहाकृतीय** (Ichthyosaurs) इन तीन वर्गों ने उसी समुद्र पर—जहाँ से इनके पुरखा आदिमावस्था में बाहर निकले थे—पुनः आक्रमण किया। इन प्राणियों में भी बहुत-से ह्वेल के समान भीमकाय होते थे। मत्स्य-गोहाकृतीय वर्ग के प्राणी तो—ऐसा प्रतीत होता है कि सोलहों आना समुद्री जीव थे। परन्तु किं-गोहाकृतीयवर्ग के वंशज अब संसार में सर्वथा अप्राप्य हैं। इनकी देह बड़ी और मज़बूत होती थी और उसमें

बड़े बड़े पतवार-सरीखे अवयव भी होते थे जिनके द्वारा तैरने और दलदल अथवा उथले जल की तली पर चलने में उन्हें पूरी सहायता मिलती थी। इनका अपेक्षाकृत बहुत छोटा-सा सिर—हंस की ग्रीवा को भी लजानेवाली सर्प के समान लम्बी गर्दन के सिरे पर होता था।
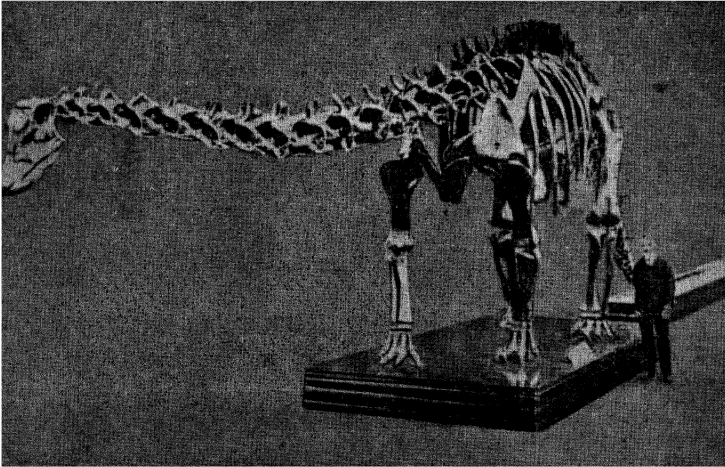
दलदल में रहनेवाले गोहाकृतीय जंतु (डिप्लोडोकस) की ठठरी। थूँथनी से पूँछ के सिरे तक इसकी लम्बाई ८४ फ़ीट है।

यह कि-गोहाकृतीय प्राणी या तो हंसों की भाँति तैरकर पानी के भीतर भक्ष्य पदार्थ ढूँढ़ते और भोजनचर्या करते थे अथवा पानी में डुबकी लगाकर किसी जाती हुई मछली या अन्य प्राणी पर झपटते थे।

सम्पूर्ण **मध्य जीव-युग** (Mesozoic Age) में इसी प्रकार के स्थल-प्राणियों का प्राधान्य पाया जाता था। हम कह सकते हैं कि पूर्व की अपेक्षा इस युग की सृष्टि ने प्रत्येक दिशा में अधिक उन्नति कर ली थी। इन जीवों का आकार, कार्यक्षेत्र, बल और उद्योग पहले के प्राणियों की अपेक्षा कहीं अधिक था। या यों कहिए कि ऐसे जीवट के प्राणी संसार में उस समय तक उत्पन्न ही नहीं हुए थे। समुद्रों में इस प्रकार की उन्नति नहीं

हुई थी, पर उसमें नये नये प्रकार के बहुत-से जीव दीख पड़ने लगे थे। उथले समुद्रों में अमोनाइट नामक एक प्रकार की मछली की असंख्य जातियाँ पाई जाती थीं। इनके घोंघे कुण्डली के आकार के होते थे और उनमें कई एक ख़ाने बने रहते थे। यद्यपि उनके पुरखा प्राचीन जीव-युग के समुद्रों में भी विद्यमान थे, तथापि इस युग में इन जीवों की संख्या बहुत अधिक हो गई। संसार में अब इन मत्स्यों के वंशज नहीं मिलते। उष्णकटिबन्धीय समुद्रों में पाया जानेवाला **नॉटिलस** (Nautilus) नामक मोती के समान चमकदार मत्स्य ही इनसे कुछ कुछ मिलता-जुलता है। फिर इनके पश्चात् रकाबी के समान चपटे और दाँतों के समान नुकीले सहरोंवाले पुराणकालीन मत्स्यों के स्थान में अधिक हलके एवं पतले सहरेवाली तरह तरह की मछलियाँ उत्पन्न हुईं जिनमें वंशोत्पादन की शक्ति बहुत अधिक है और जो तब से अब तक समुद्रों और नदियों में सर्वप्रधान हैं।

---

(७)

आदिम पक्षी और प्रथम स्तनपायी जीव

पिछले परिच्छेद में मध्यम जीव-युग—जिसे इस संसार के इतिहास का ग्रीष्मकाल कहा जा सकता है—की सघन वनस्पति और असंख्य रेंगकर चलनेवाले प्राणियों (सरीसृपों) का वर्णन किया जा चुका है। किंतु जिस समय गोहाकृतीय भयंकर जीव (Dinosaurs) घास के गर्म मैदानों और दलदलों में आनन्दपूर्वक विचरण करते थे और जिस समय पुष्पहीन पादपों और पेड़ों में फड़फड़ाते और कदाचित् चीखते हुए पक्षांगुलीय जीव भनभन करनेवाले कीड़ों-मकोड़ों का शिकार करते थे उस समय कुछ ऐसे जीव भी थे जो उपरोक्त जीवों से मिलते-जुलते तो थे किंतु जो संख्या में कम थे और बहुत कम प्रकार के होते थे। ये जीव धीरे धीरे नई शक्तियाँ प्राप्त कर रहे थे। साथ ही साथ वे कष्ट सह कर नई बातें सीख रहे थे और अंत में जब पृथ्वी पर सूर्य का ताप कम होने लगा तथा वनस्पति भी कम होने लगी तब इन नई शक्तियों और नई सीखी हुई बातों ने इन अल्पसंख्यक जीवों को अपनी जाति को जीवित रखने में बड़ी सहायता दी।

ऐसा प्रतीत होता है कि फुदकनेवाले सरीसृपों के कुछ वंश और उपजातियाँ, जो वास्तव में भयङ्कर गोहाकृतीयवर्ग के छोटे छोटे जन्तु थे, शत्रुओं के पीछा करने और पारस्परिक संघर्ष के कारण इस दशा को प्राप्त हो गये थे कि उनके लिए नष्ट हो जाने अथवा ऊँचे ऊँचे पहाड़ों या समुद्र के तट की ठंडी जलवायु में निवास करने के अतिरिक्त और कोई गति ही नहीं रह गई थी। ऐसे समय इन सताई हुई उपजातियों में एक नवीन प्रकार के **सेहरे** (Scales) का विकास हुआ; ये सेहरे पहले तो बढ़कर सेही के **काँटों** (quill) की भाँति लम्बे और नुकीले हो गये और फिर, कालान्तर में, इनमें शाखा-प्रशाखायें निकलने के कारण परों का थोड़ा बहुत श्रीगणेश हुआ। सेही के काँटों-सदृश इन सेहरों से, समस्त देह ढक जाने के कारण, शरीर के भीतर की गर्मी—पूर्वोत्पन्न सरीसृपों के बाह्यचर्म की अपेक्षा—कहीं अधिक उत्तमता से रुकती थी। इसी लिए ये प्राणी अधिक शीतल भू-भागों में, जो अब तक सर्वथा निर्जन पड़े हुए थे, जाकर बसने में समर्थ हुए। इन परिवर्तनों के साथ ही साथ शायद इन प्राणियों को अपने अंडों के लिए भी बहुत अधिक चिंता होने लगी थी। बहुधा देखा

गया है कि सरीसृप-वर्गीय बहुत-से जन्तु अपने अंडों की तनिक भी पर्वा न कर ऋतु और सूर्य की ही दया पर उनको संतति-उत्पादन के लिए छोड़ देते हैं। परन्तु अब सरीसृपों की कुछ उपजातियों में अपने अंडों की रक्षा और उनको शरीरस्थ उष्णता-द्वारा सेंकने का स्वभाव होता जाता था।

शीत से बचने के लिए उपरोक्त साधनों के सिवाय इन जीवों के भीतरी अवयवों में भी परिवर्तन हो रहे थे जिनके कारण ये आदिम पक्षी उष्ण रक्तवाले हो गये और इन्हें अपने को गर्म रखने के लिए घाम में पड़कर शरीर सेंकने की आवश्यकता न रही। समुद्र के ही पक्षी सबसे पुराने दीख पड़ते हैं; मछलियाँ इनका आहार थीं; और इनके अगले बाहुयुगल पक्षाकार न होकर, **पैनगुइन** (penguin) पक्षियों की भाँति पतवार-सरीखे होते थे। न्यूज़ीलैंड की 'की-वी' नामक आदिमयुगीय चिड़िया के पर अत्यन्त सरल होते हैं। वह न तो उड़ सकती है और न उड़नेवाले पक्षियों की वंशधर ही प्रतीत होती है। पक्षियों के विकास में **परों** (feathers) की उत्पत्ति पक्षों अर्थात **डैनों** (wings) से प्रथम हुई थी। परन्तु जैसे ही परों का विकास हुआ तैसे ही लाघवरूप से उनका फैलाव होने की सम्भावना होते ही, पक्षों (डैनों) का उत्पन्न होना अवश्यम्भावी हो गया। शिलाखण्डों में दबा हुआ कम से कम ऐसे एक अत्यन्त पुराणकालीन पक्षी का शरीरावशेष (फ़ोसिल) हमको मिला

आर्कियोटेरिक्स नामक एक आदिम पक्षी का फ़ोसिल

है। इसके जबड़े में सरीसृपों की भाँति दाँत हैं और उनके समान पूँछ भी है तथा चिड़ियों के-से वास्तविक पर भी हैं। वह अवश्य ही उड़ सकती थी। वह **मध्य जीव-युग** (Mesozoic) काल के **पक्षांगुलीयवर्ग** (Pterodactyls) की थी। परन्तु यह सब होने पर भी अन्त में यही कहना पड़ता है कि मध्य जीव-युग में न तो चिड़ियों की बहुतायत थी और न उनकी विविध जातियाँ ही पाई जाती थीं। यदि आजकल का कोई मनुष्य फिर से पीछे लौट कर किसी **मध्य जीव-युगीय** (Mesozoic age) देश में जा सके तो कई दिवस-पर्यन्त भ्रमण करने पर भी, उसको वहाँ की झाड़ियों और नरकुलों में **पक्षांगुलीय** (Pterodactyl) वर्ग के प्राणियों और कीड़-मकोड़ों की बहुतायत तो मिलेगी किंतु उसे किसी वास्तविक पक्षी के दर्शन न हो सकेंगे।

इसके अतिरिक्त उसे **स्तनपायी** (Mammal) प्राणियों के चिह्न भी न मिलेंगे। सर्वप्रथम स्तनपायी पशु चिड़ियों के नाम से पुकारे जानेवाले प्राणियों के उत्पन्न होने से,— शायद लाखों वर्ष पूर्व ही, संसार में उत्पन्न हो गये थे; परन्तु अत्यन्त छोटी आकृति तथा अस्पष्ट एव दूर होने के कारण किसी का ध्यान ही उनकी ओर नहीं गया था।

आदिम काल की चिड़ियों की भाँति, पृथ्वी के सर्वप्रथम स्तनपायी प्राणियों को भी प्रतियोगिता और कठिनाइयों के कारण विवश होकर अपने शरीर को शीतकाल के उपयुक्त बनाना पड़ा था; और चिड़ियों की भाँति इनके सहरे भी विकसित होकर सेही के काँटों के सदृश शरीर की उष्णता बनाये रखने में वर्म का-सा काम करते थे, तदुपरांत धूप से शरीर सेंकने की आवश्यकता को दूर करने, तथा शरीरस्थ रुधिर को उष्ण बनाये रखने के लिए इन स्तनपायी प्राणियों में भी पक्षियों की भाँति परिवर्तन और संशोधन होने आरम्भ हो गये। इन परिवर्तनों का क्रम तो वही था परन्तु उसके विवरण में विभिन्नता थी। परों के स्थान में इनके शरीर पर बाल जमने प्रारम्भ हुए और अण्डों को सेने और उनकी रक्षा करने के बजाय उनकी रक्षा और उन्हें उष्ण बनाये रखने के लिए यह प्राणिवर्ग तब तक उनको अपने शरीर के भीतर ही रखता था जब तक वे परिपक्व न हो जायँ। इस वर्ग के अधिकांश पशु अंडों को नहीं सेते, प्रत्युत शरीर के भीतर शिशु के परिपक्व हो जाने पर उसे अपने शरीर से बाहर निकालते थे। शिशु के उत्पन्न होने के बाद भी शिशु की रक्षा करने और उसे भोजन देने के लिए वे उससे सम्बन्ध रखते थे। आजकल स्तनपायीवर्ग के प्रायः सब पशुओं के स्तन होते हैं और वे अपने बच्चों को दूध पिलाते हैं। इस वर्ग में बहुत ही कम ऐसे हैं जिनके स्तन नहीं होते। इस समय दो स्तनपायी पशु ऐसे मिलते हैं जो अंडे देते हैं किन्तु वे अपनी खाल के नीचे के एक स्राव से बच्चों का पोषण करते हैं। ये दो पशु बत्तक की-सी चोंचवाले **प्लेटीपस** (Platypus) और **एकडिना** (Echdina) हैं।

एकडिना ऐसे अंडे देता है जिनका खोल चमड़े की तरह कड़ा और लचीला होता है। वह अंडे देकर उनको अपने उदर के नीचे बनी हुई थैली में रख लेता है और जब तक अंडे फूट कर उसमें से बच्चा नहीं निकल आता तब तक वह अंडे को उसी थैली में सुरक्षित और गर्म रखे हुए घूमा करता है।

हेस्पिरोनिस नामक एक मध्य जीवकालीन पक्षी

मध्य जीव-युग में दर्शक को जिस प्रकार चिड़ियों के ढूँढ़ने में दिन और सप्ताह तक लगना संभव था उसी प्रकार यदि उसे स्तनपायी जीवों का स्थान न मालूम होता तो उसे उनका पता लगाना भी असंभव था। मध्य जीव-युग में स्तनपायी जीव और पक्षी दोनों ही बड़े विचित्र स्वभाववाले, गौण और महत्त्वहीन प्रतीत होते थे।

सरीसृपों का काल आठ करोड़ वर्ष का कूता गया है। यदि कोई अर्द्ध मानवीय विवेक-शक्ति उस कल्पनातीत दीर्घकाल को बहुत समय तक देखती होती तो उसे उस युग के सूर्य का प्रकाश और उष्णता तथा वनस्पति की प्रचुरता कितनी स्थिर एवं सुरक्षित तथा

अनन्त प्रतीत होती ! उसे गोहाकृतीय भयंकर जीवों की समृद्धि और उड़नेवाले गिरगिटों की प्रचुरता कितनी स्थिर मालूम होती ! और फिर इस विश्व के रहस्यमय नृत्य की ताल बदली और विश्व-संसार की एकत्रित शक्तियाँ उस स्थिरता के विरुद्ध हो गईं जो अनंत प्रतीत हो रही थी। जीवों का भाग्य मंद होने लगा। पृथ्वी पर परिवर्तन होने लगे। ज्यों-ज्यों युग बीतने लगे त्यों त्यों संसार की अवस्था बदलने लगी। अत्यधिक शीत के कारण जीवन दुस्तर हो गया। समय के परिवर्तन के साथ ही साथ धरातल में भी हेर-फेर होने लगे और पर्वत-मालाओं तथा समुद्रों के भी स्थान बदल गये। इस ऐश्वर्यशाली एवं सुदीर्घ मध्य जीव-युग के नष्ट होते समय शिला-लेख-मालाओं में जो अत्यन्त सार्थक बात हमको दृष्टिगोचर होती है वह यह है कि संसार की भौतिक अवस्था के निरंतर परिवर्तन के साथ ही साथ जीवों के आकार में भी बहुत बड़े परिवर्तन हो रहे थे और संसार में नवीन तथा अद्भुत जाति के प्राणी दिखलाई पड़ने लगे थे। अपने अवश्यम्भावी सर्वनाश को सिर पर खड़े देख अधिक प्राचीन प्राणिवर्ग और उपजातियों ने अपने को परिस्थिति के अनुकूल करने की पूरी पूरी योग्यता प्रदर्शित की। उदाहरणार्थ—मध्य जीव-युग के अंतिम काल में **अमोनाइट** (Ammonites) ने नाना प्रकार के आश्चर्यजनक आकार धारण किये थे। भौतिक परि-

न्यूज़ीलैण्ड में पाया जानेवाला की-वी नामक पक्षी

नवीन जीव-युग के अंतिम काल की एक शिला। यह यूनान देश में पाई गई थी। इसमें आदिम स्तनपायी जीवों के फ़ोसिल की बहुतायत है।

स्थितियों के स्थायी हो जाने पर नवीनता को कोई प्रोत्साहन नहीं मिलता और परिस्थिति के अनुकूल होने की शक्ति अवरुद्ध हो जाती है; क्योंकि उस परिस्थिति में प्राणी के लिए जो आकार-प्रकार सर्वथा उपयुक्त हो सकता है वह तो वहाँ है ही, फिर विकास किस लिए हो ? परन्तु सदा एक-से आकार रखनेवाले प्राणियों की नूतन परिस्थिति में अत्यन्त दुर्दशा होती है। ऐसी परिस्थिति में उसी जीव को जीवित रहने का अवसर मिलता है जिसमें अपने को परिस्थिति के अनुकूल बनाने की योग्यता होती है।

चट्टानों की लेख-माला का क्रम इसके पश्चात् सहसा भंग हो जाता है; और फिर इसके आगे लाखों वर्षों के वृत्तान्त का हमको कुछ भी पता नहीं चलता। वह अभी तक पर्दे के भीतर ही छिपा हुआ है। इसी कारण तत्कालीन जीवन के इतिहास की बाह्य रूप-रेखा खींचना भी हमारी शक्ति के बाहर की बात है। परन्तु जब यह यवनिका उठी तब सरीसृप-काल का अन्त हो चुका था। भयङ्कर गोहाकृतीय प्राणियों किंवा गोहाकृतीय मत्स्य गोहाकृतीय पक्षांगुलीय और 'अमोनाइट" प्राणियों के असंख्य वर्ग एवं उपजातियों के चिह्न तक पृथ्वी पर न रह गये थे। अत्यन्त कठिन शीत के कारण वे समूल नष्ट हो गये थे। परिवर्तित परिस्थितियों में जीवित रहने के लिए जिस प्रकार के परिवर्तनों की आवश्यकता थी उनको बारम्बार आकृति-परिवर्त्तन करने पर भी ये प्राणी अन्त समय तक न प्राप्त कर सके। संसार ऐसी भयंकर शीत और उष्णता की अवस्थाओं में होकर गुज़र चुका था जिनका सहन करना इन मध्य जीव-युगीय प्राणियों के लिए असंभव था और धीरे धीरे उनका सर्व-नाश हो गया। और अब हमको संसार-नाटक के रंगमञ्च पर सर्वथा नवीन दृश्य दिखाई देता है। इस समय पृथ्वी पर जो वनस्पति और जीव अधिकार किये हुए हैं वे पहले के वनस्पति और जीवों से अधिक कष्ट-सहिष्णु हैं।

जीवन की कथा का नवीन अध्याय फिर भी अनाकर्षक दृश्यों के साथ आरंभ होता है। **साइकड** (Cycads) और **शंकु आकारवाले** (Conifers) वृक्षों की जगह अब ऐसे पेड़ उत्पन्न हो गये जो शीतकाल की बर्फ़ से बचने के लिए उस समय अपने पत्ते गिरा देते हैं। अब फूल देनेवाले पौदे और झाड़ियाँ भी उत्पन्न हो गईं। और जहाँ पहले सरी-सृपों की बहुतायत थी वहाँ तरह तरह के पक्षियों और स्तनपायी पशुओं ने उनका स्थान ग्रहण कर लिया।

(८)

स्तनपायी जीव-कल्प

पृथ्वी के इतिहास में अब **नवीन जीव-युग** (Cainozoic Period) नामक एक ऐसा बड़ा काल आता है जिसमें ज्वालामुखी पर्वतों ने अत्यन्त विषम रूप धारण कर लिया था। और, जब धरातल पर बड़े बड़े उथल-पुथल हुआ करते थे, आल्प्स और हिमालय पर्वत-श्रेणियाँ तथा रौकीज़ और एन्डीज़ सरीखी मेरुदण्ड-सदृश गिरिमालायें इसी समय उभर-उभर कर ऊपर को आ निकली थीं; और वर्तमान समुद्र एवं महाद्वीपों की प्रारंभिक रूप-रेखा भी सर्वप्रथम इसी समय प्रकट हुई थी। पृथ्वी के मान-चित्र का वर्तमान काल से अस्पष्ट सादृश्य इसी युग से शुरू होता है। गणना करने से पता चलता है कि नवीन जीव-युग के प्रारम्भ से आज तक चार करोड़ से लेकर आठ करोड़ वर्ष तक बीत चुके हैं।

नवीन जीव-युग के प्रारम्भ में पृथ्वी की जल-वायु अत्यन्त ही उग्र थी। परन्तु कालान्तर में शनैः शनैः उसके अधिकाधिक उष्ण होते रहने से धरातल पर जीव और वनस्पति की प्रचुरता का एक नवीन ही युग उपस्थित हो गया। परन्तु इसके पश्चात् पृथ्वी पर **हिम-कल्प** (Glacial Age) के नाम से प्रसिद्ध शीतयुगों के ऐसे अनेक चक्र आने प्रारम्भ हुए जिनसे—अभी तक—धीरे-धीरे इसका उद्धार ही हो रहा है।

परन्तु **जल-वायु**–सम्बन्धी ज्ञान के सर्वथा अपर्याप्त और अपूर्ण होने के कारण हम यह नहीं कह सकते कि भविष्य में पृथ्वी की जल-वायु कैसी होगी। हम अधिकाधिक उष्णता और प्रकाश की ओर बढ़ रहे हैं, अथवा किसी नवीन हिम-कल्प की ओर हमारा पतन हो रहा है; ज्वालामुखी पर्वतों की प्रगतियाँ बढ़ या घट रही हैं एवं पर्वत-श्रेणियाँ उठ रही हैं या नहीं, इन बातों का ज्ञान हमको नहीं है। इस संबंध में हमारी भौतिक विज्ञान की जानकारी इतनी कम है कि हमारे पास भविष्य की जल-वायु बतलाने के लिए पर्याप्त समग्री है ही नहीं।

हाँ, तो इस युग का प्रारम्भ होते ही पृथ्वी पर घास उत्पन्न होने से आदिम गोचर-भूमियों की सृष्टि हुई और उन स्तनपायी जीवों ने जो किसी समय बहुत ही महत्त्वहीन समझे

जाते थे, अब आश्चर्यजनक उन्नति कर डाली। उन्होंने यहाँ तक उन्नति की कि अत्यन्त आश्चर्यदायक शस्याहारी पशु और उनको भी भक्षण करनेवाले हिंसक प्राणी संसार में देख पड़ने लगे।

युगयुगांतर पहले इस पृथ्वी पर शाकाहारी और मांसाहारी जो सरीसृप जीव बसते थे और जो बाद में लुप्त हो गये—यदि उनकी तुलना इन आदिम स्तनपायी जीवों से की जाय तो ध्यानपूर्वक न देखनेवाला निरीक्षक यही समझेगा कि ये नये शाकाहारी और मांसाहारी स्तनपायी पशु और पक्षी क्रमशः मध्य जीव-युग के शाकाहारी और मांसाहारी भयंकर गोहाकृतीय जीवों और पक्षांगुलीय प्राणियों की पुनरावृत्ति-मात्र हैं। उसे प्रत्यक्ष भेद उन दोनों वर्गों के स्वभाव ही में मालूम पड़ेगा। परन्तु यह बाह्य तुलना ही कहलावेगी—वास्तविक नहीं। क्योंकि विश्ववैचित्र्य तो अनन्त और धारावाही है: यहाँ सदैव उन्नति ही होती रहती है। इतिहास में किसी घटना की पुनरावृत्ति नहीं होती; और न किसी का दूसरी से पूर्णतया सादृश्य ही हो सकता है। (इस न्याय के अनुसार) ध्यानपूर्वक देखने से, मध्य जीव-युग और नवीन जीव-युग के प्राणि-वर्ग में, सादृश्य की अपेक्षा अन्तर ही अधिक स्पष्ट और गहरा दृष्टिगोचर होता है।

वास्तव में इन दोनों कालों का मौलिक भेद इन दो युगों की मानसिक जीवन की विभिन्नता में है। इस विभिन्नता का मुख्य कारण यह है कि स्तनपायी जीव और (कुछ सीमा तक) पक्षी भी अपनी संतान से उनके जन्म के बाद कुछ दिनों तक तो अवश्य ही संपर्क बनाये रखते हैं। सरीसृपों के जीवन में यह बात नहीं होती। रेंगकर चलनेवाले प्राणी बहुधा अपने अण्डों को नहीं सेते और उन्हें छोड़कर चल देते हैं। इसी कारण सरीसृप की सन्तान को अपने माता-पिता का तनिक-सा भी ज्ञान नहीं होता। उनका मानसिक जीवन का प्रारम्भ और अन्त, जितना कुछ भी है, अपने ही अनुभव पर निर्भर रहता है। वे अपने सजातीयों को अपने पास चाहे सहन कर लें, किन्तु वे उनसे किसी प्रकार का संबंध नहीं रख सकते। अतएव वे न तो दूसरों का अनुकरण करते हैं न उनसे कुछ सीखते हैं और न उनके साथ मिलकर सामूहिक शक्ति-द्वारा कोई कार्य ही सम्पादन कर सकते हैं। उनकी जीवन-लीला एकाकी रहनेवाले प्राणियों की भाँति समाप्त हो जाती है। परन्तु इन नवीन स्तनपायी जीवों और पक्षियों का प्रधान लक्षण नवजात संतति को स्तनपान कराना, उनकी शुश्रूषा और भरण-पोषण करना था। अतएव इनमें अनुकरण-द्वारा शिक्षा प्राप्त करने और भयसूचक शब्दों अथवा पारस्परिक नियन्त्रण और शिक्षा देनेवाले सामूहिक कार्य करने तथा एक प्राणी का दूसरे प्राणी से सहयोग होने की संभावना हो गई। संसार में शिक्षा प्राप्त करने योग्य प्राणि-जीवन का सर्वप्रथम जन्म हुआ।

नवीन जीव-युग के इन आदिम स्तनपायी जीवों के भेजे का आकार मध्य जीव-युग के उद्यमशील मांसभक्षी भयंकर गोहाकृतीय जीवों के भेजे के आकार से कुछ ही बढ़ कर है। जैसे जैसे हम वर्तमान काल की ओर अग्रसर होते हैं, वैसे वैसे, इन स्तनपायी प्राणियों की प्रत्येक उपजाति और वंश के मस्तिष्क की शक्ति में, बहुत ही थोड़ी परन्तु अधिकाधिक उन्नति देख पड़ती है। उदाहरणार्थ —नवीन जीव-युग के बहुत कुछ आरंभकाल
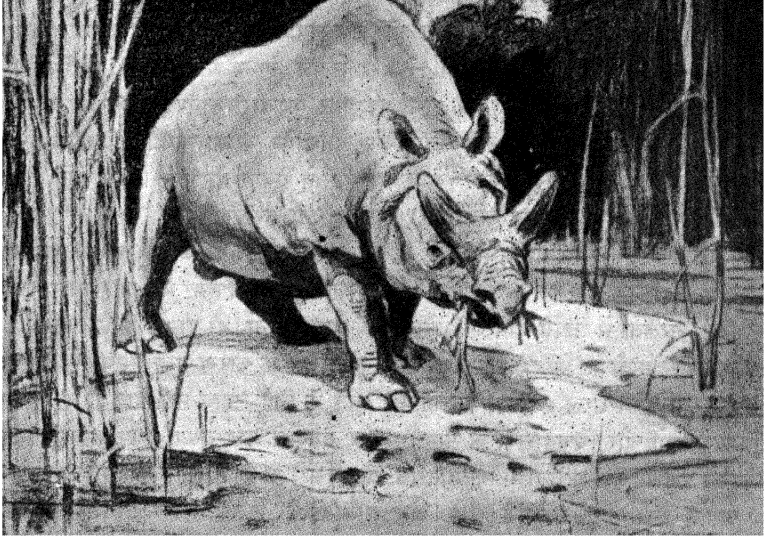
नवीन जीव-युग के प्रारंभिक काल का एक स्तनपायी पशु।
दानवाकार पुराणकालीन गैंडा

ही में पृथ्वी पर गैंडे के सदृश कुछ पशु उत्पन्न हो गये थे। **टाइटैनोथिरियम** (Titanotherium दानवाकार पुराणकालीन गैंडे) नामक जाति का पशु इस युग के प्रथम चरण में विद्यमान था। इसका स्वभाव तथा आवश्यकतायें भी शायद आजकल के गैंडों से बहुत कुछ मिलती-जुलती थीं परन्तु अपने आधुनिक उत्तराधिकारियों की अपेक्षा इसकी मस्तिष्क की शक्ति शायद दशांश भी न थी।

अधिक प्रचीन काल के स्तनपायी जीव तो शायद स्तनपान का समय बीतते ही अपनी संतति से पृथक् हो जाते थे। परन्तु एक बार एक दूसरे को समझने की सामर्थ्य उत्पन्न होने पर पारस्परिक सम्पर्क का लाभ भली भाँति मालूम हो जाता है। और शीघ्र ही हमको स्तनपायी प्राणियो की कुछ जातियाँ मिलने लगती हैं जिनमें सामाजिक जीवन का उदय हो चला था, और जो समूह अथवा झुंडो में रह कर, न केवल एक दूसरे की रक्षा और अनुकरण करती थीं, प्रत्युत दूसरों के कार्य और चीत्कारों से भी उपदेश ग्रहण करती थीं। पृथ्वी पर रीढ़वाले प्राणियों ने इससे पहले कभी इस प्रकार का आचरण न किया था। इसमें सन्देह नहीं कि रेंग कर चलनेवाले जीव और मछलियाँ भी झुंडों में पाई जाती हैं, परन्तु झुंडो में रहने का हेतु उनका सामूहिक रूप से उत्पन्न होना और समान परिस्थितियों में निवास करना है। इसके विपरीत इन सामाजिक और यूथचारी स्तनपायी प्राणियो का संसर्ग बाह्य हेतुओं के स्थान में आन्तरिक चित्तप्रवृत्तियों के आवेग के कारण ही स्थायी बना रहता है। एक दूसरे के समानाकृति होने के कारण ही वे एक स्थान पर एकत्र रहते हों सो बात नहीं; वरन् पारस्परिक मोह होने से ही वे झुंड बना कर फिरते हैं।

रेंगनेवाले जन्तुओं से मानव-मस्तिष्क किस प्रकार भिन्न है यह जानना अभी तक हमारी समझ के बाहर की बात है। सरीसृपों की चित्तवृत्तियाँ, अभिलाषायें, भय और घृणा, कितने वेग और सरलता से उत्पन्न होती थीं इसका अनुमान करना भी हमारे लिए असंभव है। वे इतनी सरल होती थीं कि हम अपनी पेचीदा चित्तवृत्तियों के कारण उन्हें समझने में असमर्थ हैं। हमारे मनोवेग सरल आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उत्पन्न नहीं होते। वे बहुत-सी आवश्यकताओं और चित्तवृत्तियों के समन्वय और संघर्ष के फलस्वरूप प्रकट होते हैं। किंतु स्तनपायी पशुओं और पक्षियों में आत्मनिरोध और दूसरों के लिए चिंता का भाव पाया जाता है। अर्थात् उनमें ऐसा सामाजिक प्रेम और आत्म-संयम है जो निम्न श्रेणी पर मानवीय प्रकृति के अनुसार ही है। इसी कारण, हम प्रायः उन सबसे सम्बन्ध स्थापित कर सकते हैं। जब वे कष्ट में होते हैं तब वे इस प्रकार चिल्लाते और अंगविक्षेप करते हैं कि उनके साथ हमारी सहानुभूति हो जाती है और हम दयार्द्र हो जाते हैं। हम उनको समझदार पालतू बना सकते हैं जिससे हम दोनों परस्पर पहिचान सके। हम उन्हें शिक्षा दे सकते हैं और उनमें ऐसे भाव उत्पन्न कर सकते हैं कि वे हमारे साथ आत्मनिग्रह से बर्ताव करें।

मेजे के आकार की असाधारण उन्नति ही इस नवीन जीव-युग की सर्वप्रधान बात है, इसी के कारण व्यक्तियों में एक दूसरे से सम्पर्क और सापेक्षता का सूत्रपात होता है। मानव-समाज के विकास की नींव (जो अगले अध्याय में लिखी जायगी) इसी समय पड़ी थी।
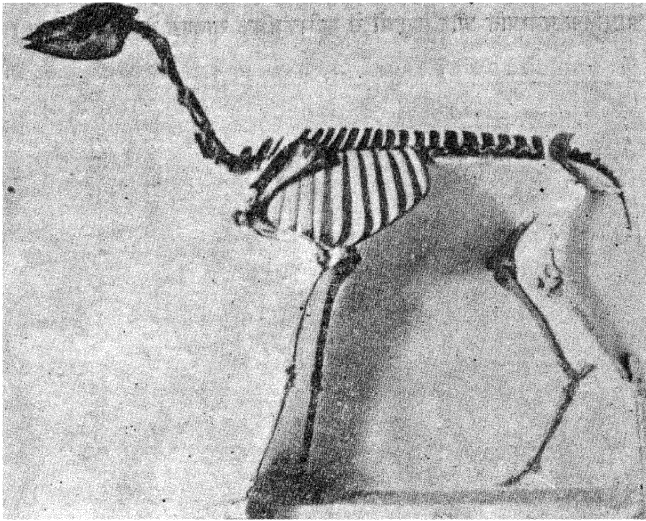
एक जिराफ़—शुतुर-गाय—की ठठरी
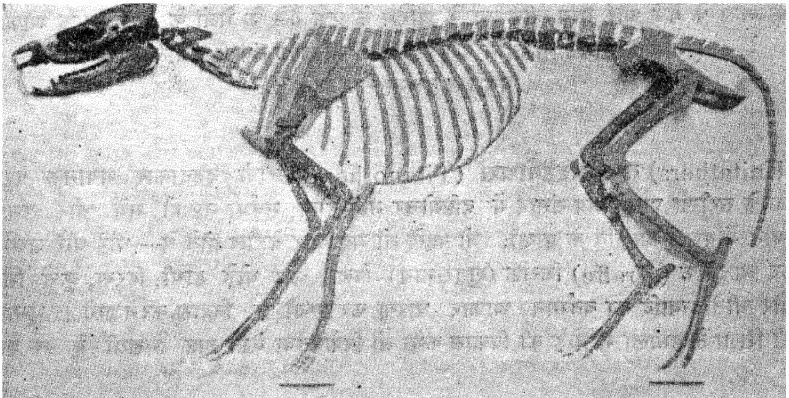
प्रोटोहिपस वेंटिकोलस नामक वर्तमान कालीन घोड़ों के एक पुरखे की ठठरी

तत्पश्चात् नवीन जीव-युग की वृद्धि के साथ ही साथ तत्कालीन वृक्षों और पशुओं का भी आधुनिक वनस्पति और पशुओं से अधिकाधिक सादृश्य देख पड़ने लगा। **यूनीटेथर्स**
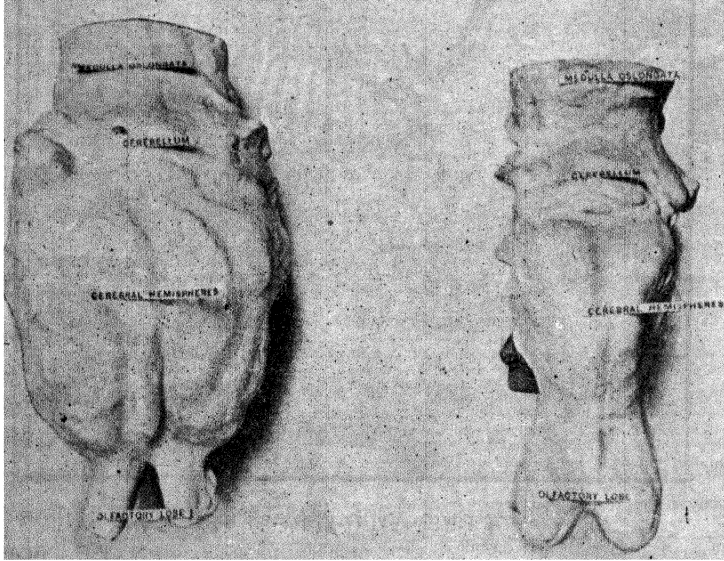
आजकल के गैंडे और मध्य जीव-युग के आरंभ के एक गैंडे के भेजों के तुलनात्मक आकार
(गैंडे के समान बुद्धिहीन पशु में भी जो मस्तिष्क-संबंधी उन्नति हुई है
वह इस तुलना से स्पष्ट है)

(Unitathers) तथा **टाइटैनोथर्स** (Titanothers) सरीखे बृहदाकार भयानक पशु, जिनके सरीखा प्राणी अब संसार में दृष्टिगोचर नहीं होता, सर्वथा नष्ट हो गये और उनके स्थान में दूसरी आकृति के प्राणी, जो पहले तो भद्दे और बेडौल होते थे—धीरे धीरे उन्नति कर आधुनिक (giraffe) जिराफ़ (शुतुर-गाय) पिलङ्ग, ऊँट, घोड़े हाथी, हिरण, कुत्ते, सिंह और चीते इत्यादि का वर्तमान आकार धारण कर पृथ्वी पर निवास करने लगे। भू-गर्भ की शिला-लेखमाला में घोड़े की विकास-कथा तो विशेषतया ऐसी स्पष्ट मिलती है कि हम

उसको भले प्रकार समझ सकते हैं। नवीन जीव-युग के प्रथम चरण में पाये जानेवाले **टापिर** (Tapir) नामक प्राणी से लेकर आज तक के घोड़ों की प्रायः सभी आकृतियाँ हमको इस समय मिल सकती हैं। इसके अतिरिक्त **लामा** (Llamas) सुरागाय अथवा चमरगाय और ऊँटों की जीवन-कथा के अंश भी हमको इतने अधिक प्राप्त हो गये हैं कि उनका ठीक ठीक विकास भी हमारी समझ में आ जाता है।

(९)

बन्दर, पुच्छहीन मर्कट एवं निम्न मनुष्य

स्तनपायी-वर्ग के प्राणियों को जन्तु-शास्त्र के ज्ञाता लोग अनेक भागों में विभाजित करते हैं और उनमें **प्राथमिक** (Primate) नामक श्रेणी सर्वोच्च समझी जाती है। **लैमूर** (Lemur—पूर्वीय द्वीपसमूह-निवासी लोमड़ी के-से मुँहवाला एक पशुविशेष जो रात्रि में दिन की भाँति कार्य किया करता है), बन्दर, पुच्छहीन मनुष्याकृतीय मर्कट और मनुष्य सब इसी श्रेणी के अन्तर्गत हैं। यह श्रेणी-विभाग सर्वप्रथम इनकी शारीरिक रचनाओं पर ध्यान देकर किया गया था। प्राणियों के मानसिक गुणों की ओर तब किसी ने ध्यान देना ही उचित न समझा था।

भू-गर्भ की लेख-माला से इस **'प्राथमिक'** (Primate) वर्ग के प्राणी के इतिहास को स्पष्ट करना अत्यन्त कठिन है। इस श्रेणी के प्राणी अधिकांश में **लैमूर** (lemur) और बन्दरों की भाँति जङ्गलों में, अथवा **बैबून*** की तरह सपाट चट्टानों के बीच में रहते हैं। इनमें, प्रथम तो, बहुत-सी उपजातियों के पशुओं की संख्या ही बहुत नहीं होती; दूसरे, यह डूबकर भी बहुत कम मरते हैं। इससे इनके शरीरों को मिट्टी की तहों में दबने के अवसर भी कम मिलते हैं। यही कारण है कि घोड़े या ऊँट इत्यादि के पुरखाओं की भाँति इनके फ़ोसिल इतनी अधिकता से नहीं मिलते। फिर भी हम यह कह सकते हैं कि **नवीन जीव-युग** (Cainozoic period) की आद्यावस्था में ही—जिसको अब लगभग चार करोड़ वर्ष हो गये—लैमूरवर्गीय प्राणियों तथा आद्यबन्दरों की सर्वप्रथम सृष्टि हुई थी। अपनी आधुनिक सन्तति की अपेक्षा इन आद्य प्राणियों के मस्तिष्क आख़िर अधिक निर्बल थे और इनमें अपनी संतति की भाँति विशेषतायें न थीं।

नवीन जीव-युग के मध्य में पृथ्वी की उस महान् ग्रीष्म-ऋतु का अन्त आख़िर हो ही गया। जल-थल-चारी जीव-कल्प एवं सरीसृपयुगीय दो महान्

---

* Baboon एक विशेष प्रकार का बन्दर जिसके पूँछ तो होती है, पर हाथ-पाँव बराबर होते हैं। यह मनुष्यों की तरह ऊँचा और अत्यन्त भयानक होता है।

ग्रीष्मों के बाद पृथ्वी के इतिहास में यह तृतीय ग्रीष्म था। इसके अनन्तर पृथ्वी घूमती हुई फिर **हिम-कल्प** (Ice Age) की ओर अग्रसर होने लगी। संसार पहले तो शीत से ठिठुरा, परन्तु कुछ काल के लिए सम-शीतोष्ण अवस्था प्राप्त करने के बाद यहाँ फिर हिम पड़ने लगा और धरती अत्यन्त शीतल हो गई। इस मध्यकालीन ग्रीष्म में **दरियाई घोड़े** (Hippopotami) कम गर्म देशों के सघन जङ्गलों में लोटते रहते थे; और खुखड़ी के समान दाँतोंवाले भीमकाय खड्ग-दन्तीय शेर लन्दन के उस स्थान में जहाँ आज **फ़्लीट**
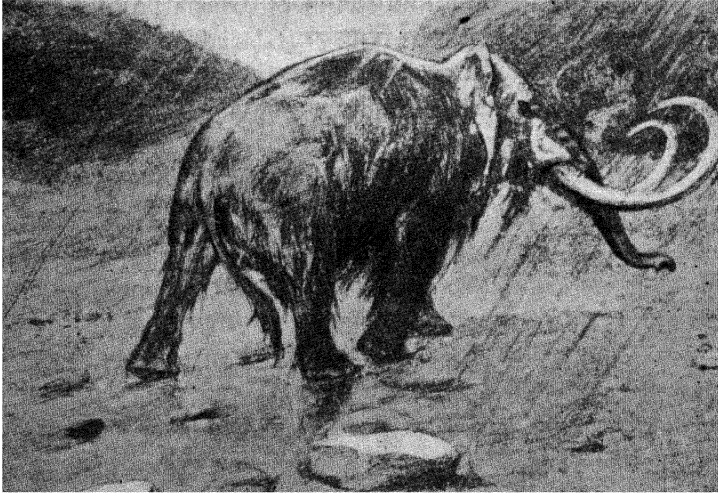
एक मैमथ

स्ट्रीट नामक प्रसिद्ध सड़क है और जहाँ अब समाचार-पत्रों के लेखक और प्रकाशक घूमते-फिरते हैं, अपने शिकार की खोज में घूमा करते थे। परन्तु इसके पश्चात् फिर अधिकाधिक भयंकर शीत-युग होने लगे। और (इसी कारण) निष्ठुर प्रकृति ने विविध प्राणियों का बीन बीन कर संहार कर डाला। **शीत जलवायु** में रहनेवाले झबरीले गैंडे, आधुनिक हाथियों के कुटुम्बी **मैमथ** (Mammoth) नामक भीमकाय झबरीले हाथी, उत्तरीय ध्रुव के **मुश्की बैल** (Musk ox), **रैन्डियर** (Reindeer) अर्थात् बर्फ़ीले देशों में होनेवाले बारहसिंगे—ये सब पृथ्वी के रङ्गमञ्च पर इसी समय आये और चले गये।

और फिर उत्तरीय ध्रुव का वह हिम-मय कटिबंध—हिमयुग का वह मृत्यु सदृश शीत—शताब्दियों में चलकर, धीरे-धीरे दक्षिण की ओर खिसकने लगा। इँगलिस्तान में वह थेम्स तथा अमेरिका में **ओहियो** (Ohio) तक आ गया था। उस समय संसार में कई सहस्र वर्ष तक गर्मी रहने के बाद भी बारम्बार भयंकर शीत हो जाया करता था।

भूगर्भ-शास्त्रियों ने इन शीतकालों का नाम प्रथम द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ **हिमकल्प** (Glacial Age) और इनके बीच के समय का नाम **अन्तर्हिमकल्पकाल** (Interglacial Period) रक्खा है। उस भयंकर ठंड के कारण संसार अभी तक दुर्बल एवं पीड़ित ही चला जाता है। **प्रथम हिमकल्प** (Glacial Age) को प्रारम्भ हुए छः लाख वर्ष व्यतीत होगये और **चतुर्थ हिमकल्प** (Glacial Age) का अत्यन्त भयंकर शीत—५० हज़ार वर्ष पहले—अपनी चरम सीमा पर पहुँचा था। इसी विश्वव्यापी सुदीर्घ शीतकाल में—पृथ्वी के हिमाच्छादित हो जाने पर—मनुष्यों से समानता रखनेवाले प्राणी इस ग्रह पर सर्वप्रथम उत्पन्न हुए।

यों तो मनुष्यों के जबड़े और टाँगों की हड्डियों से मिलती-जुलती हड्डियों-वाले लँगूरों की कई जातियाँ, पुच्छहीन मनुष्याकार मर्कटों की विविध जातियाँ, नवीन जीव-युग का आधा भाग बीतते न बीतते ही उत्पन्न हो चली थीं; परन्तु 'प्रायः मनुष्यों के समान' कहलानेवाले प्राणियों के चिह्न हमको **हिमकल्प** (Glacial Age) के निकट ही मिलते हैं। और ये चिह्न हैं उनके औज़ार, न कि हड्डियाँ। यूरोप में, इस काल के—जिसको बीते हुए अब ५ लाख वर्ष से लेकर १० लाख वर्ष तक हो गये होंगे—धरती में गड़े हुए, ऐसे चकमक पत्थर मिलते हैं जिनको—कूटने, पीसने, खुरेचने या जिनकी तीक्ष्ण नोक से आक्रमण करने के लिए—व्यवहार के योग्य बनाने की इच्छा से किसी कुशल एवं उद्योगी प्राणी ने जान-बूझ कर छीला है। इन अस्त्रों को हम 'उषःकालीन प्रस्तर' "Eoliths" कहते हैं। इनके अतिरिक्त यूरोप में उन प्राणियों की हड्डियाँ या अन्य अवशेष नाममात्र को भी नहीं मिलते। ऐसी दशा में यह समझा जा सकता है कि मनुष्यों से भिन्न किसी चतुर मर्कट ने ये औज़ार बनाये होंगे। परन्तु जावा द्वीप के **ट्रिनिल** (Trinil) स्थान में लँगूर के समान एक प्राचीन प्राणी की खोपड़ी का एक अंश कुछ दाँत और हड्डियाँ ऐसी दबी हुई निकली हैं जिनके देखने से पता चलता है कि इस प्राणी की खोपड़ी आधुनिक पुच्छविहीन मनुष्याकार मर्कट से अधिक बड़ी होती थी और यह सीधा खड़ा होकर चला करता था। वैज्ञानिकों ने इसका नाम रखा है **पिथिकेन्थ्रोपस इरैक्टस** (Pithecanthropus erectus) अर्थात् खड़ा चलने-वाला पुच्छविहीन मनुष्याकार मर्कट। इन उषःकालीन प्रस्तरों को निर्माण करनेवाले

प्राणियों के आकार की कल्पना करने के लिए हमारे पास इस समय यही मुट्ठी भर हड्डियाँ हैं।

इसके पश्चात् ढाई लाख वर्ष पुराने रेत के ढेरों में हमको निम्न मनुष्याकार प्राणियों के कुछ अंश दृष्टिगोचर होते हैं। परन्तु जहाँ तक औज़ारों का सम्बन्ध है वहाँ तक इस लेख-माला में हम ज्यों ज्यों आगे बढ़ते हैं त्यों त्यों वह भी अधिकाधिक संख्या में मिलते जाते हैं। और कालांतर में उषःकालीन प्रस्तरों की भाँति भद्दे और भौंड़े न होकर, वे अत्यन्त कुशलता से बनाये हुए सुडौल और सुन्दर दीखते हैं। परन्तु बाद में वास्तविक मनुष्यों के बनाये हुए वैसे ही अस्त्रों से इनका आकार कहीं अधिक बड़ा होता था। फिर हाइडलबर्ग के एक रेतीले गढ़े में हमको किसी अर्धमनुष्याकार प्राणी के जबड़े की एक—केवल एक ही—हड्डी मिली है जो अत्यन्त ही बेडौल और सर्वथा ठोड़ी-रहित होने के अतिरिक्त वास्तविक मनुष्यों के जबड़े से कहीं अधिक भारी और सकरी भी है। उसके जबड़े के आकार से मालूम पड़ता है कि स्पष्टोच्चारण के लिए अपनी जिह्वा को हिलाना डुलाना इस प्राणी के लिए प्रायः असंभव था। इसी एक जबड़े की हड्डी के सहारे वैज्ञानिकों ने अनुमान लगाया है कि यह प्राणी अत्यन्त भारी—दानवकाय—मनुष्य-सरीखा रहा होगा। इसके हाथ-पाँव बहुत बड़े और सिर पर **नमदे सरीखे बाल** (Felt like hair) होंगे। वैज्ञानिक परिभाषा में इस प्राणी को—**हाइडलबर्ग मनुष्य** (Heidelberg man) कहते हैं।

पिल्टडाउन के निकट प्राप्त चकमक पत्थर के औज़ार

हमारे विचार से तो यह जबड़े की हड्डी संसार में मानवीय कौतूहल के लिए अत्यन्त दुःखद वस्तु है। ख़राब दूरबीन में से होकर दिखाई देनेवाली वस्तु के समान, हमको इसमें भूतकालीन मनुष्य की, दूषित एवं खण्डित झलक-मात्र ही दिखाई देती है। वह प्राणी हमें शीत वनों में वक्रगति से जाता हुआ, खड्गदन्तीय शेरों से

अध्यापक रुटोट का निर्माण किया हुआ पिथिकेन्थ्रोपस इरेक्टस का कल्पित नमूना।

हाइडलबर्ग मनुष्य
अध्यापक रुटोट के आदेशानुसार बनाया गया नमूना।

बचने के लिए अनायास ही वृक्षों पर चढ़ता हुआ, और जङ्गली झबरीले गैंडों को ताकता हुआ क्षण-मात्र के लिए दिखाई देता है। परन्तु जब तक हम उसका सूक्ष्म निरूपण करें ही करें, वह भीमकाय प्राणी पुनः दृष्टि से ओझल हो जाता है। पर इससे क्या? अपने व्यवहार के लिए उसने जो गढ़ गढ़ कर अक्षय अस्त्र बनाये थे उनसे तो पृथ्वी अभी तक पटी पड़ी है।

उससे भी अधिक आकर्षक और अत्यन्त भेदपूर्ण एक प्राणी के वे अवशेष हैं जो **पिल्टडाउन*** में खोदते समय मिले हैं। ये एक या डेढ़ लाख वर्ष पुराने प्रतीत होते हैं। परन्तु कुछ विद्वान् इनको हाइडलबर्ग के जबड़े की हड्डी से भी अधिक पुराना ठहराते हैं। इनमें एक तो किसी **निम्न मनुष्य** (Subman) की मोटी खोपड़ी का कंकाल है, जो आज-कल के पुच्छविहीन मनुष्याकार मर्कटों की खोपड़ियों से बड़ा है। इसके साथ एक जबड़े की हड्डी भी मिली है जो वनमानुष (चिम्पांज़ी) के जबड़े की हड्डी की तरह है। यह उसकी अथवा किसी अन्य प्राणी की भी हो सकती है। इनके अतिरिक्त वहाँ जो तीसरी वस्तु मिली है वह बैट (गेंद खेलने के बल्ले) के आकार की हाथी की हड्डी का टुकड़ा है।

* Piltdown इँग्लैण्ड के ससेक्स प्रांत में एक स्थान है।

इस पर अत्यन्त दक्षता से खुदाई की गई है और इसके बीच में छेद भी बनाया गया है। यहाँ हिरण की जङ्घा की एक हड्डी भी मिली है जिस पर खुदे हुए कुछ निशान बनाये गये हैं।

बस, वहाँ केवल इतनी ही चीज़ें मिली हैं। प्रश्न होता है कि बैठकर इस प्रकार हड्डियों में छेद करनेवाला वह प्राणी किस प्रकार का था?

वैज्ञानिकों ने इसका नाम रखा है, **'उषःकालीन मनुष्य'** (Eoanthropus) यह एक निराला ही प्राणी था जो हाइडलबर्ग के मनुष्य और वर्तमानकालीन पुच्छविहीन मानवाकृतीय मर्कट, दोनों से ही सर्वथा भिन्न था। इसके से लक्षण अन्य किसी प्राणी में नहीं पाये जाते। परन्तु धरती के नीचे एक लाख वर्ष से बाद के कंकड़-पत्थरों के ढेरों में हमको चकमक और पत्थरों के बने हुए ऐसे औज़ार अधिकाधिक संख्या में मिले हैं, जो उषःकालीन प्रस्तर की भाँति भद्दे और बेडौल नहीं हैं। पुरातत्त्ववेत्ता अब इनमें रुखानी, बर्मा चाक़ू, तीर, फेंक कर मारने के पत्थर, फरसे अन्य अस्त्रों को देखकर तुरन्त ही पहिचान लेते हैं।

पिल्टडाउन में प्राप्त खोपड़ी
असली टुकड़ों (काले भाग) से पुनर्निर्मित।
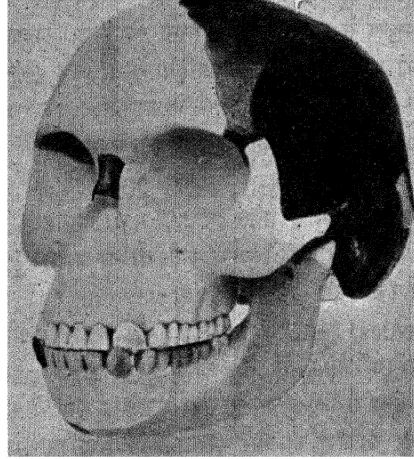
अब हम मनुष्य-काल के अत्यन्त ही निकट आ गये हैं और अगले अध्याय में हम वास्तविक मनुष्यों के अग्रगामी—**नीएडरथेलर** (Neanderthalers) का—जो बहुत अंशों में वास्तविक मनुष्यों के समान होते हुए भी **वास्तविक मनुष्य** (true men) न थे—वर्णन करेंगे।

परन्तु यहाँ पर यह कह देना शायद असंगत न होगा कि कोई भी आधुनिक तत्त्ववेत्ता—**हाइडलबर्ग के मनुष्य** (Heidelberg man) अथवा उषःकालीन मनुष्य, दोनों में से एक को भी वर्तमानकालीन मनुष्यों का **सीधा पूर्व-पुरुष** (Direct ancestor) नहीं समझता। अधिक से अधिक यही कहा जा सकता है कि इनका आकार अन्य प्राणियों की अपेक्षा मनुष्यों से कहीं अधिक मिलता था, और ये हमारे अत्यन्त ही निकट के सम्बन्धी थे।

(१०)

नींडरथॉल और रोडेशिया का मनुष्य

कोई ५०, ६० हज़ार वर्ष हुए **चतुर्थ हिमकल्प** (Fourth Glacial Age) की चरम सीमा पर पहुँचने से पूर्व, इस पृथ्वी पर एक ऐसा प्राणी रहता था जिसके अवशिष्ट भागों को मनुष्य से असाधारण समानता रखने के कारण विज्ञानवेत्ता लोग सर्वथा मनुष्य ही समझा करते थे। इनकी खोपड़ियाँ तथा इनके शरीर के दूसरे अंगों की हड्डियाँ हमको मिली हैं। नित्य प्रति व्यवहार में आनेवाले इन्हीं के हाथों से निर्मित बड़े बड़े अस्त्रों के ढेर के ढेर मिले हैं। इनको आग जलाना आता था। ये शीत से बचने के लिए गुफाओं में रहते थे। और शायद पशुओं के चमड़ों को भद्दे ढङ्ग से कमाकर उन्हें ओढ़ लेते थे। ये प्राणी भी हमारी भाँति व्यवहार में दाहिना हाथ ही उपयोग में लाते थे।

परन्तु अब हमको **नरवंश-विद्या के ज्ञाता** (Ethnologists) बताते हैं कि ये प्राणी वास्तविक मनुष्य न थे। **वंश** (Genus) तो इनका यही था, परन्तु उनकी **उपजाति** (Species) दूसरी थी। इनका जबड़ा आगे की ओर निकला हुआ, माथा छोटा और भौंहों की हड्डियाँ आँखों के ऊपर उभरी हुई होती थीं। इनके हाथों के अँगूठे मनुष्यों के अँगूठे की तरह अन्य उँगलियों को छू नहीं सकते थे। गर्दन की बनावट कुछ ऐसी होती थी कि सिर उठाकर आकाश की ओर देखना इनके लिए असम्भव था। ये शायद सिर को नीचा और आगे की ओर किये हुए ही चलते फिरते थे। इनका बिना ठोड़ी का जबड़ा, हम मनुष्यों की अपेक्षा, हाइडलबर्गीय प्राणियों से अधिक मिलता-जुलता था। इनके दाँतों की बनावट हमारे दाँतों की बनावट से बहुत भिन्न होती थी। हमारी दाढ़ों की भाँति लम्बी एवं नुकीली जड़ें न होने पर भी, उनकी जटिलता में किसी प्रकार की कमी नहीं पाई जाती। परन्तु इन अर्ध-मनुष्यों के मुख में, हमारी भाँति, कुत्ते के-से दो **नुकीले दाँत** (Canine) नहीं होते थे। इनकी खोपड़ियों के भीतर का स्थान तो हमारे जितना ही होता था परन्तु भीतर के गूदे (भेजे) का आकार हमसे भिन्न होता था। वह पीछे की ओर अधिक बड़ा और आगे की ओर अधिक सिकुड़ा होता था। इनकी मानसिक शक्तियों का क्रम भी हमसे सर्वथा भिन्न था। वंशानुगत क्रम से ये हमारे पुरखा न थे। भौतिक एवं मानसिक दृष्टि से इनकी शाखा हमसे सर्वथा पृथक् थी।

इस लुप्त मानव-वंश की खोपड़ियाँ और हड्डियाँ दूसरी जगहों के सिवा सबसे पहले **नींडरथॉल** (Neanderthal) नामक स्थान में मिलने के कारण इन अद्भुत **मूल-पुरुषों** (Proto-men) को नींडरथॉल के मनुष्य या नींडरथॉलवाले कहते हैं। यह जाति यूरोप में सैकड़ों अथवा हज़ारों वर्ष तक रही होगी।

नींडरथॅलर
अध्यापक रुटॉट के अनुसार

उस समय पृथ्वी का मानचित्र (रूपरेखा) और जल-वायु वर्तमान काल से सर्वथा भिन्न थे। उदाहरणार्थ, यूरोप उस समय दक्षिण की ओर थेम्स और मध्य जर्मनी तथा रूस तक हिम से ढका हुआ था। ग्रेट ब्रिटेन और फ़्रांस के बीच तब कोई जलविभाजक न था; भूमध्य सागर और लाल सागर में (उस समय) गहरी घाटियाँ थीं और उनके अत्यन्त निचले भागों में शायद बहुत-सी झीलें थीं; उस समय वर्तमान कृष्ण सागर दक्षिणीय रूस से लेकर मध्य एशिया में बहुत दूर तक फैला हुआ था। स्पेन तथा यूरोप के अन्य ऊँचे भाग, जो बर्फ़ से ढके न थे, अत्यन्त शीतल थे और वहाँ की जल-वायु, शीतलता में **लैब्रॉडर** (Labrador) से भी अधिक भीषण और उग्र थी। **समशीतोष्ण जल-वायु**

(Temperate Climate) केवल उत्तरी अफ्रीका पहुँचने पर ही मिल सकती थी। उस समय दक्षिणी यूरोप के ठण्डे पठारों पर, जिनमें केवल हिमदेशीय वनस्पति ही उत्पन्न होती थी, तब **झबरीले मैमथ** (Mammoth) और **गैंडे**, **महोक्ष** (Great oxen) और हिमदेशीय **बारहसिंगों** (Reindeer) सरीखे दृढ़ देहधारी पशु ही विचरा करते थे और शाक आदि भक्ष्य पदार्थों की खोज में ये प्राणी वसन्त ऋतु के आने पर अधिक उत्तर की ओर, और **पतझड़** (Autumn) में दक्षिण की ओर चले जाते थे।
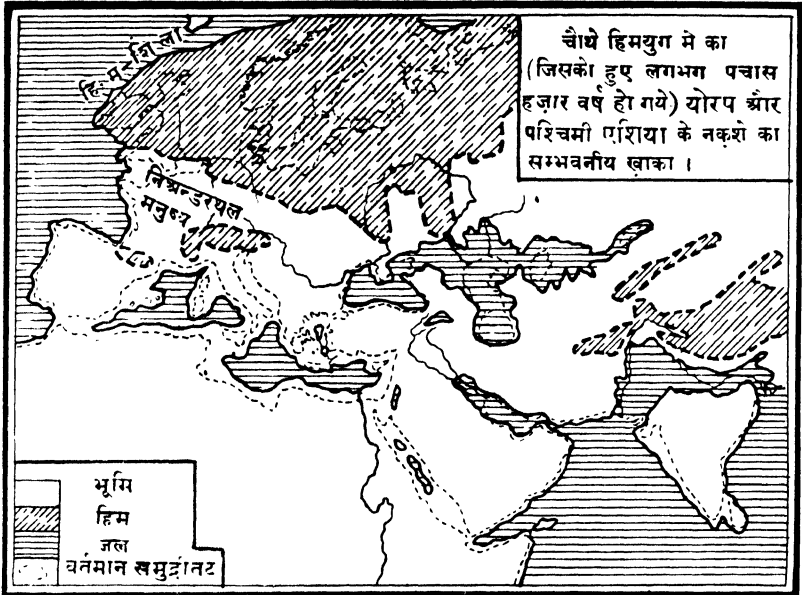
नींडरथॉलीय प्राणी इस प्रकार के दृश्यों के बीच रहा करता था। छोटे-मोटे पशुओं के आखेट और फल, बेरों, तथा मूलों को खाकर वह किसी प्रकार जीवन-निर्वाह किया करता था। ये प्राणी मुख्यतर शाकाहारी ही थे और जड़ों तथा पेड़ों की टहनियों को चबा जाया करते थे। इनकी **इकसार** (Level) दन्तपंक्तियों को देखकर यह धारणा और भी दृढ़ होती है। परन्तु, इनके रहने की गुफाओं में हमको बड़े बड़े पशुओं की मज्जावाली हड्डियों के खण्ड भी मिले हैं जिनको स्पष्टतया मज्जापान करने के लिए ही तोड़ा गया था। उनके अस्त्र ऐसे न होते थे कि

उनसे खुले मैदान में सामना करके बड़े बड़े बनैले पशु मारे जा सकें। इसलिए यह कल्पना की गई है कि वे जन्तुओं को या तो ऐसे स्थानों पर, जहाँ नदियों के पार जाना कठिन हो, बर्छा फेंककर, अथवा गढ़े खोदकर और उनमें उनको गिराकर मार डाला करते थे। संभवतः वे पशुओं के झुंडों के पीछे पीछे रहते थे और जब आपस की लड़ाई के कारण कोई पशु मर जाता था तो वे उसे खा डालते थे। वे शायद खड्गदंतसिंह के पीछे पीछे सियार की तरह घूमा करते थे। सुदीर्घ युगों तक शाकाहारी रहने के पश्चात् **हिम-कल्पों** (Glacial Ages) की भीषण कठिनाइयों के कारण ही उन्होंने शायद पशुओं को खाना आरंभ कर दिया था।

नींडरथॉलीय मनुष्य देखने में कैसे थे अथवा उनकी आकृति कैसी थी, इसकी कल्पना भी हम नहीं कर सकते। बहुत संभव है कि वह झबरीला रहा हो और आकृति में वह मनुष्याकार भी न हो। वे सीधे खड़े होकर चल सकते थे या नहीं, यह बात भी संदिग्ध है। अपने शरीर को धरातल से ऊपर उठा हुआ रखने के लिए वह शायद, पाँव और घुटने, दोनों का ही व्यवहार किया करते थे। वह शायद अकेले या छोटे छोटे कुटुम्बों की टुकड़ियों में घूमा करते थे। इनके जबड़ों की बनावट से अनुमान किया जाता है कि जिसको हम भाषा कहते हैं उसका बोलना, उनके लिए, असंभव था।

वर्त्तमानकालीन यूरोपीय प्रदेशों में—सहस्रों वर्ष-पर्यन्त—ये नींडरथॉलीय प्राणी ही सर्वोत्कृष्ट पशु थे। परन्तु कोई तीस या पैंतीस सहस्र वर्ष बीते होंगे कि पृथिवी की जलवायु के अपेक्षाकृत अधिक उष्ण होते ही इनसे कुछ कुछ मिलते हुए वर्ग के प्राणी, जो इनसे कहीं अधिक मेधावी, ज्ञानी और बोलने तथा एक दूसरे की सहायता करनेवाले थे—दक्षिण दिशा की ओर से इन नींडरथॉलों के देश में घूमते-घामते आ निकले। उन्होंने इन्हें गुफाओं तथा अन्य वासस्थानों से मार भगाया। नवागन्तुकों के भोज्यपदार्थ भी इन्हीं के समान थे और उनको वह आखेट-द्वारा प्राप्त करते थे; उन्होंने शायद अपने इन झबरीले पुरखाओं को युद्ध में परास्त करके मार डाला। दक्षिण अथवा पूर्व से आकर (क्योंकि हमको उनके जन्म-स्थान का अभी तक ठीक ठीक पता नहीं मिला) नींडरथॉल प्राणियों को, अन्त में, समूल नष्ट करनेवाले इन नवागन्तुकों की धमनियों में हमारा ही रुधिर बहता था। वे हमारे सम्बन्धी थे; और वे ही सर्वप्रथम वास्तविक मनुष्य थे। **शारीरिक शास्त्र** (Anatomy) द्वारा विवेचना करने पर पता चलता है कि इनकी खोपड़ियाँ और अँगूठे, गर्दन और दाँत सब हमारे ही सरीखे थे। **क्रोमैग्नौन** (Cro-magnon) तथा **ग्रिमाल्डी** (Grimaldi) की एक गुफाओं में हमको बहुत-से ऐसे नर-कंकाल मिले हैं जो इस समय तक संसार के सर्वप्रथम वास्तविक मनुष्यों के ही अवशेष समझे जाते हैं।

शिलालेख-माला में हमारी जाति का वर्णन इस विधि से आता है, और यहीं से मनुष्य की वास्तविक कथा प्रारंभ होती है।

अत्यन्त ठंडी जलवायु होते हुए भी तत्कालीन जगत् की जलवायु दिन-प्रतिदिन वर्त्तमान कालीन जलवायु के अधिकाधिक समान होती जा रही थी। हिमयुगीय बर्फ़ की नदियाँ (Glaciers) यूरोप में तब दिन प्रतिदिन ऊपर ध्रुव की ओर खिसकती जाती थीं। और फिर मैदानों में घास की वृद्धि होते ही फ्रांस और स्पेन के बर्फ़ीले बारहसिंगे भी धीरे धीरे लुप्त होने लगे और उनके स्थान में घोड़ों के झुण्ड आगये। इसी प्रकार दक्षिणी यूरोप में मैमथों की भी पहली-सी बहुतायत न रही और अन्त में वे सम्पूर्णतया उत्तर दिशा की ओर प्रस्थान कर गये।

'वास्तविक मनुष्य' सर्वप्रथम कहाँ उत्पन्न हुए थे, यह हम अभी तक नहीं जान सके हैं। परन्तु सन् १९२१ में दक्षिणी अफ्रीका के **ब्रोकन हिल** (Broken Hill) नामक
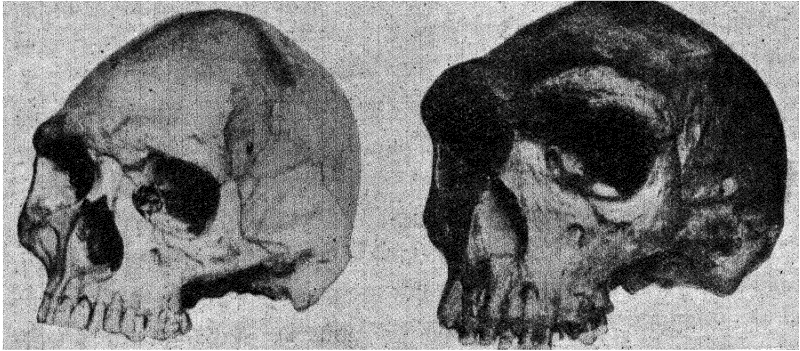
(१) आधुनिक खोपड़ी और (२) रोडेशियन खोपड़ी की तुलना

स्थान में एक खोपड़ी तथा नर-कंकाल के कुछ अन्य अद्भुत अवशेष ऐसे मिले हैं जो लक्षणों से वर्त्तमान मनुष्यों और नींडरथॉलीय प्राणियों की मध्यवर्तीय प्राणी के—एक तृतीय प्रकार के मनुष्य के—प्रतीत होते हैं। खोपड़ी से पता चलता है कि नींडरथॉलों की अपेक्षा इसका मस्तिष्क आगे की ओर अधिक बड़ा और पीछे की ओर अधिक सिकुड़ा होता था। रीढ़ की हड्डियों के ऊपरी सिरे पर उसका सिर मनुष्यों के सिर के समान ही लगा हुआ था।

इसके दाँत और हड्डियाँ तो हमारी भाँति थीं परन्तु इसकी मुखाकृति अवश्य ही पुच्छविहीन मनुष्याकार मर्कट की भाँति होगी और उसकी भौंहों की हड्डियाँ बहुत ऊँची उठी हुई होंगी और उसकी खोपड़ी के बीच में एक लम्बी रेखा के समान उभरी हुई हड्डी रही होगी। अवश्य ही ये प्राणी और सब बातों में मनुष्य के ही समान थे, केवल इनका मर्कटों के मुख ही समान नींडरथॉलों जैसा था। रोडेशिया में पाया जानेवाला यह प्राणी प्रत्यक्षतया नींडरथॉलों की अपेक्षा वास्तविक मनुष्य से अधिक मिलता-जुलता है।

हिमयुगों के प्रारंभ से लेकर वास्तविक मनुष्य के प्रादुर्भाव होने तक जो महान् अन्तराल है उसमें निम्न मनुष्य-वर्ग के कितने ही प्राणी रहते होंगे। मनुष्य इन सब प्राणियों का उत्तराधिकारी ही नहीं किन्तु शायद उन सबको नष्ट करनेवाला भी है। बाद में चलकर इन प्राणियों के कितने ही अवशेष मिलेंगे। रोडेशिया में प्राप्त इस खोपड़ी का नम्बर शायद इन अवशेषों में दूसरा ही समझा जायगा। सम्भव है कि रोडेशिया में प्राप्त यह खोपड़ी अत्यन्त प्राचीन काल की न हो। इस पुस्तक के प्रकाशित होते समय तक यह निर्णय नहीं हो सका कि वह किस युग की है। संभव है कि वर्त्तमानकाल से कुछ समय पूर्व तक भी ये निम्न मनुष्य दक्षिणी अफ्रीका में निवास करते रहे हों।

(११)

आदिम वास्तविक मनुष्य

भौतिक विज्ञान को अभी तक उन प्राणियों के (जो सर्व-सम्मति से हमारे ही समान थे) जो प्राचीनतम चिह्न प्राप्त हुए हैं वे पश्चिमी यूरप और उसमें भी विशेषतया फ्रांस तथा स्पेन ही में मिले हैं। इन दोनों देशों में जो हथियार और अस्थियाँ, चट्टान तथा हड्डियों पर बनी हुई खुरैंचों की चित्रकारी अस्थि-खण्डों पर बने हुए खुदाई के काम और गुफाओं के भीतर और चट्टानों पर अंकित चित्र पाये गये हैं उनका समय तीस सहस्र वर्ष अथवा इससे भी अधिक प्राचीन कृता गया है। इस समय पृथ्वी पर स्पेन ही हमारे इन वास्तविक पुरखाओं के प्राथमिक अवशेषों का सबसे बड़ा भाण्डार है।

यह ठीक है कि इन पदार्थों का—हमारा वर्तमानकालीन संग्रह—केवल प्रारंभमात्र कहा जा सकता है। परन्तु हमको पूर्ण आशा है कि जब अन्वेषकों की संख्या इतनी हो जायगी कि वे उन सब स्थानों की पूरी तरह खोज कर सकें जहाँ इनके मिलने की संभावना है, और जब उन देशों में भी पूरी तरह से अनुसंधान हो जायगा जो अभी पुरातत्त्वदर्शियों के लिए बन्द हैं, तब इन अवशेषों का संग्रह अवश्य ही बहुत बड़ा होगा। एशिया और अफ्रीका के अधिकांश भागों में अभी तक न तो इन पदार्थों में रुचि रखनेवाले, चतुर एवं दक्ष वस्तु-पारखी ही गये हैं और न उनको वहाँ अन्वेषण करने की स्वतन्त्रता ही मिली है। अतएव, इतनी-सी अल्प सामग्री के भरोसे यह निष्कर्ष निकाल बैठना कि आदिम वास्तविक मनुष्य पश्चिमीय यूरोप में ही रहा करते थे, अथवा वह इसी महाद्वीप में सर्वप्रथम उत्पन्न हुए थे—उचित नहीं है।

आदिम कालीन मनुष्यों के जितने चिह्न अथवा अवशेष हमको अब तक उपलब्ध हुए हैं संभव है कि उनसे भी प्राचीन एवं अधिक अवशेष एशिया, अफ्रीका अथवा समुद्र में लुप्त तलैटियों के नीचे इस समय दबे पड़े हों। एशिया तथा अफ्रीका का नाम ही मैंने यहाँ लिखा है अमेरिका का नहीं—और इसका यह कारण है कि केवल एक दाँत के

अतिरिक्त वहाँ पर आज तक किसी पुच्छविहीन मनुष्याकृतीय मर्कट, निम्न मनुष्य (Sub-man), अथवा नींडरथॉलीय मनुष्य-सरीखे उच्च **प्राथमिक** (Primate) वर्गीय प्राणी, अथवा प्राथमिक वास्तविक मनुष्य का एक भी चिह्न किसी को दृष्टिगोचर नहीं हुआ। ऐसा प्रतीत होता है कि प्राणि-जीवन का यह विकास केवल प्राचीन संसार (यूरप-एशिया-अफ्रीका) ही में हुआ था; और फिर, प्राचीन प्रस्तरयुग के अन्तिम चरण में, स्थलमार्ग-द्वारा—जो **बैहरिंग-जल-विभाजक** के कारण अब नष्ट हो गया है—प्राचीन संसार के मनुष्य, अमेरिका महाद्वीप को गये थे।

यूरोप के यह आदिम वास्तविक मनुष्य (जिनका हमको अभी तक पता चला है) उस समय भी स्पष्टतया—कम-से-कम—दो उपजातियों में विभक्त थे। इनमें से एक तो
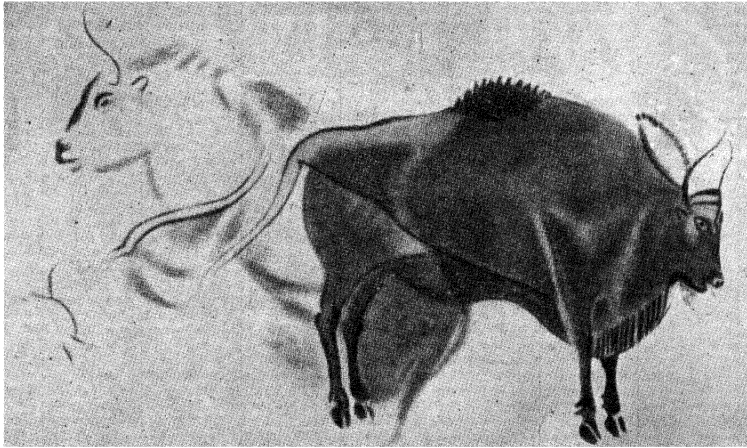
अल्टामीरा (उत्तरी स्पेन) की गुफाओं में बने हुए अद्भुत चित्रों में से एक। एक गुफा की दीवालें साँड़ आदि के चित्रों से पटी हुई हैं। ये चित्र हलके लाल से बने हैं और इनमें काले रंग से छायायें दिखलाई गई हैं। ये चित्र १५ हज़ार से लेकर २० हज़ार वर्ष पुराने हैं।

वास्तव में अत्यन्त ही उच्च वर्ग की थी; और इसके नर-नारी लम्बे और बड़े मस्तिष्क-वाले होते थे। इस जाति की एक स्त्री की खोपड़ी हमको मिली है। इसका भीतरी क्षेत्रफल
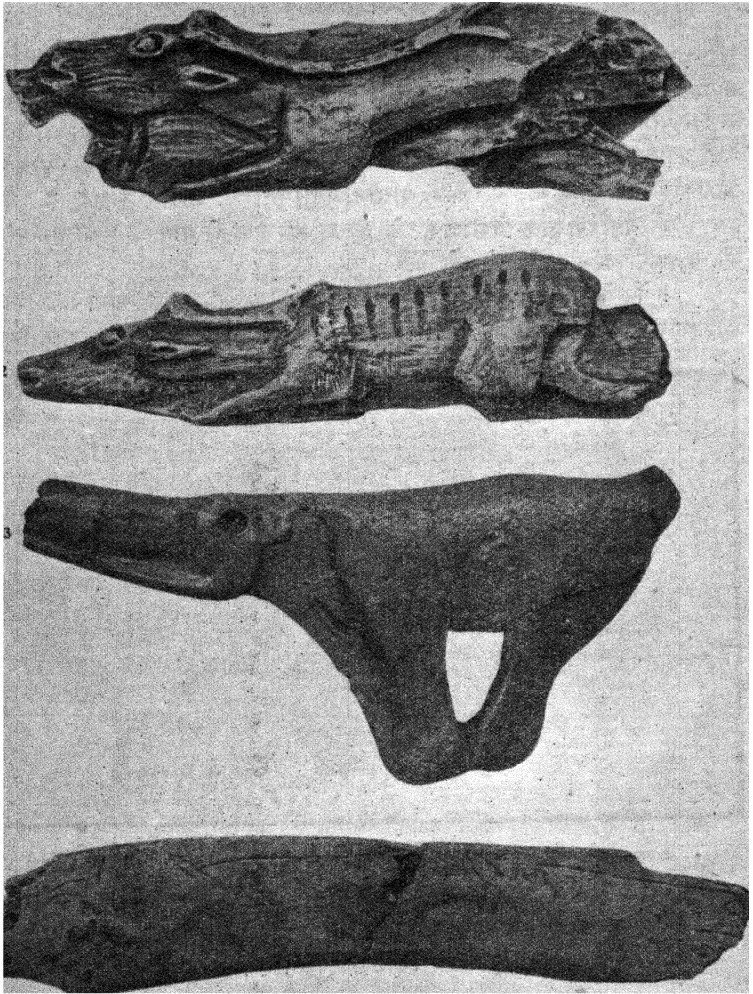
पाषाणयुग की हड्डी का काम।

१ और २ मैमथ के दाँत को तराश कर हिमदेशीय बारहसिंगे बनाये गये हैं।

३ कटार का क़ब्ज़ा जो मैमथ के आकार का बनाया गया है। और

४ हड्डी जिसमें घोड़ों के सिर बनाये गये हैं।

आज-कल के साधारण मनुष्यों से भी बड़ा है; और एक पुरुष का देह-पंजर लम्बाई में छः फ़ुट से भी अधिक बैठता है। इस जाति के मनुष्यों की देह का आकार-प्रकार उत्तरीय अमेरिका के प्राचीन निवासियों (Indians) से अधिक मिलता-जुलता था। **क्रोमैग्नान** (Cro-magnon) की गुहा में इनके कंकाल सर्वप्रथम मिलने के कारण लोगों ने इस जाति के पुरुषों का नाम "**क्रोमैगनार्ड** (Cro-magnards) के मनुष्य" रख दिया है। जङ्गली होते हुए भी यह जाति उच्च कक्षा की असभ्य जाति थी। **ग्रिमाल्डी** (Grimaldi) की गुहा में मिलनेवाले अन्य प्रकार के कंकाल द्वितीय जाति (Race) के हैं और इनके लक्षण वास्तव में हबशियों से मिलते हैं। वर्तमान काल में दक्षिणी अफ्रीका की **बुशमैन और हॉटनटॉट** (Bushmen and Hottentots) जातियाँ इनकी अन्यन्त निकटस्थ सम्बन्धी हैं। यह बड़ी रोचक बात है कि जिस समय मनुष्य-जाति का हमको सर्वप्रथम इतिहास मिलता है उस समय भी वह दो जातियों में विभक्त थी। और इसलिए हमारी कल्पना की दौड़ अनायास ही इस अनिश्चित निष्कर्ष पर पहुँचना चाहती है कि प्रथम जाति के पुरुष दूसरों की अपेक्षा अधिक **भूरे** (Brownish) अथवा गेहुँएँ रंग के थे; और वे शायद उत्तर या पूर्व की दिशा से आये थे; और दूसरी जाति का रंग इतना गेहुँआँ न था वह कुछ कुछ श्यामवर्ण था और दक्षिण के उष्ण कटिबंधीय भागों से आई थी।

और शायद चालीस सहस्र वर्ष प्राचीन इन असभ्यों में इतना मनुष्यत्व आ चुका था कि वे घोंघों, कौड़ियों आदि को छेदकर हार पिरोना, अपने शरीरों पर रंग लेपना, पत्थर तथा हड्डियों की खुदाई-द्वारा मूर्त्ति-निर्माण करना, चट्टानों तथा हड्डियों पर खुदे हुए चित्रों का बनाना, और सुन्दर चट्टानों के पृष्ठ-भाग तथा गुहाओं की चिकनी दीवारों पर पशु इत्यादि के साधारणतया भद्दे (पर कभी कभी अत्यन्त ही सुन्दर) चित्र खींचना जान गये थे। इनके बनाये हुए विविध प्रकार के शस्त्रास्त्र **नींडऽथॉलीय पुरुषों** की अपेक्षा अधिक छोटे और सुन्दर होते थे। और अब संग्रहालयों में इनके बनाये हुए औज़ारों, मूर्त्तियों और चट्टानों पर बनाये हुए चित्रों का अच्छा संग्रह हो गया है।

सर्वप्रथम आदिमकालीन मनुष्य व्याध का जीवन व्यतीत करते थे। जङ्गली घोड़े, जिनके छोटी-सी दाढ़ी हुआ करती थी, उनके प्रधान आखेट थे। उन दिनों वे गोचर-भूमि की खोज में फिरनेवाले इन पशुओं तथा **अरन** भैंसों (Bison) का पीछा किया करते थे। एक अत्यन्त प्रभावोत्पादक तत्कालीन चित्र से पता चलता है कि **मैमथ** (Mammoth) नामक भीमकाय पशु से भी ये लोग परिचित थे। उनमें से एक अस्पष्ट अथवा संदिग्ध के चित्र के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वे इन दानवाकार पशुओं को फँसाकर मार डाला करते थे।

आखेट पत्थरों को फेंककर अथवा बर्छे द्वारा किया जाता था। ऐसा मालूम पड़ता है कि धनुष का उपयोग उस समय तक उन्हें नहीं आता था और शायद उस समय तक उन्होंने पशुओं को पालतू बनाना भी न सीखा था। उस समय उनके पास कुत्ते न थे। तत्कालीन एक चित्र में घोड़े का सिर बना हुआ है, और अन्य एक या दो चित्रों में उसके मुँह में बटी हुई खाल अथवा ताँत के लगे होने से लगाम का बोध होता है। परन्तु उस युग और क्षेत्र के घोड़े इतने छोटे होते थे कि पुरुष उन पर सवार ही नहीं हो सकते थे और वे उनका भार-वहन करने में भी असमर्थ थे। और यदि घोड़ा पालतू कर लिया गया था तो वह सवारी के काम में न आकर बोझ लादने का काम देता होगा। यह बात भी संदिग्ध और असंभव मालूम होती है कि वे उस समय पशुओं के दूध का उपयोग भोजन के लिए करते रहे होंगे क्योंकि पशुओं के दूध का यह उपयोग बहुत कुछ अस्वाभाविक है।

पशु-चर्म के बने हुए डेरों के अस्तित्व की संभावना होने पर भी ऐसा प्रतीत होता है कि वे मकान नहीं बनाते थे। मिट्टी की मूर्त्तियाँ बनाना तो उनको आता था, परन्तु वे इतनी उन्नति न कर पाये कि मिट्टी के बर्तन बना लेते। भोजन बनाने के लिए उपयुक्त साधनों का अभाव होने के कारण हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि या तो वे भोजन पकाना ही न जानते थे अथवा उनकी पाक-विद्या अत्यन्त ही आद्यावस्था में थी। खेती करना, डलिया बनाना और कपड़ा बुनना उनको न आता था। चर्म अथवा समूर के वस्त्रों के उपयोग के अतिरिक्त उन जंगली पुरुषों की देह सर्वथा नंगी रहती थी और उसे वे रंगों से लेपे रहते थे।

सैकड़ों सदियों तक यूरोप के खुले हुए घास के मैदानों में इस प्रकार आखेट करते रहने के पश्चात्, जलवायु के परिवर्तित होने के कारण, यह आदिमकालीन मनुष्य भी धीरे धीरे अपने स्थान को बदलने लगे। यूरोप की जल-वायु भी तब प्रत्येक शताब्दी में पहले की अपेक्षा कम ठंडा एवं अधिक आर्द्र होती जा रही थी। हिमदेशीय बारह-सिंगे के उत्तर तथा पूर्व की ओर खिसक जाने पर—अरने भैंसे और घोड़े भी अब उन्हीं का अनुसरण कर रहे थे। घास के मैदानों में जंगल उत्पन्न होगये थे और अरने भैंसों तथा घोड़ों के स्थान में लाल हिरनों की भरमार हो चली थी। आवश्यकतानुसार अब अस्त्र-शस्त्र भी परिवर्तित होगये थे। नदियों तथा झीलों में मछलियाँ मारना मनुष्य के लिए अब अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हो गया था; और इसके साथ ही साथ हड्डियों के बने हुए अत्यन्त सुन्दर औज़ारों की संख्या भी इस समय ख़ूब बढ़ती जा रही थी। **डि मार्टिले** (De Mortillet) के कथनानुसार, "इस युग की बनी हुई हड्डी की सुइयों के सदृश सुन्दर सुइयाँ मध्ययुगीय पुनरुत्थान (Renaissance) के काल तक भी न बन सकी थीं। उदाहरणार्थ, रोमन लोगों की सुइयाँ भी इस युग की सुइयों का मुक़ाबिला न कर सकती थीं।"

आज से पन्द्रह या बीस सहस्र वर्ष पहले दक्षिणी स्पेन में एक नवीन जाति के पुरुष कहीं से घूमते घामते आगये थे जो पाषाण-शिलाओं पर बने हुए अत्यन्त ही अद्भुत चित्र छोड़ गये हैं। **मास-द एज़िल** (Mas d' Azile) नामक गुहा के नाम से (जहाँ ये चित्र पाये गये हैं) इस जाति को इतिहासज्ञ **एज़िलियन** (Azilians) कहते हैं। इन लोगों को धनुष-बाण चलाना आता था और शायद ये परों का बना हुआ शिरस्त्राण धारण किया करते थे। इनके बनाये हुए चित्र स्पष्ट होते थे, परन्तु अपनी इस चित्र-विद्या

अध्यापक रुटोट की बनाई हुई क्रो-मेग्नन मनुष्य
के धड़ की मूर्ति

को इन्होंने एक प्रकार का सांकेतिक रूप प्रदान कर दिया था। उदाहरणार्थ, 'मनुष्य' को अंकित करने के लिए ये लोग एक सीधी रेखा बनाकर उसको तीन-चार स्थलों पर आड़ी रेखाओं से काट देते थे। इस प्रकार लेखन-कला का सर्वप्रथम प्रादुर्भाव हुआ जान पड़ता है। आखेट के चित्रों के सामने बहुधा रेखायें खुदी हुई हैं—जो शायद किसी प्रकार का हिसाब-किताब सूचित करती हैं। एक चित्र में दो मनुष्य मधुमक्खियों के छत्तों को चुआते हुए प्रदर्शित किये गये हैं।

मधु-मक्खियों के बीच में मधु सञ्चय करने वाला मनुष्य
वह रस्सी की सीढ़ी पर है।

धनुर्धरों का युद्ध

इन मनुष्यों के पास पत्थरों के केवल ऐसे अस्त्र-शस्त्र थे जो वे पत्थरों की कत्तल काट कर बनाते थे। इस युग को 'प्राचीन पाषाण-युग' का नाम दिया गया है। उपर्युक्त पुरुष इस युग के अन्तिम चरण में उत्पन्न हुए थे। फिर, इनके पीछे, आज से कोई दस या बारह हज़ार वर्ष पूर्व, यूरोप में एक नवीन प्रकार के जीवन का अभ्युदय होने लगा। इस उत्तर-काल के मनुष्यों ने, न केवल पत्थरों के कत्तलों से, प्रत्युत पत्थर को घिस कर और उस पर पालिश करके नये प्रकार के पत्थर के औज़ार और हथियार बनाना सीख लिया था। उन्होंने खेती करना भी आरम्भ कर दिया था। और इसी समय से **नवीन पाषाण-युग** (Neolithic Age) का प्रारम्भ होता है।

कैसे कौतूहल की बात है कि सौ वर्ष भी नहीं हुए कि तस्मानिया (आस्ट्रेलिया के निकट एक द्वीप है) में, जो पृथ्वी के दूसरे सुदूर छोर पर स्थित है, मनुष्यों की एक ऐसी जाति रहती थी जिसका बौद्धिक एवं शारीरिक विकास उन आदिमकालीन मनुष्यों की अपेक्षा —जिनके चिह्नावशेष यूरोप में मिले हैं— कहीं अधिक न्यून था। भौगोलिक परिवर्तन के कारण तस्मानिया-निवासी अपने शेष समाज से बिछुड़ गये थे, और ऐसा मालूम होता है कि प्रतियोगिता, स्पर्धा तथा उन्नति के अभाव में, विकास के स्थान में इनकी उलटी अवनति हो गई थी। जिस समय यूरोपियन यात्री तस्मानिया पहुँचे उस समय इनका जीवन अत्यन्त ही निकृष्ट था और ये घोंघे और छोटे मोटे शिकार से अपना उदर पालन करते थे। उस समय ये लोग घर बनाना भी न जानते थे। उन लोगों के पास केवल बैठने और विश्राम करने के स्थान होते थे। हमारे ही समान मनुष्य होने पर भी आदिम वास्तविक मनुष्यों की भाँति न तो उनमें शारीरिक कार्य-कुशलता थी और न उनकी तरह इनमें ललित कला की शक्ति ही थी।

(१२)

मनुष्य के आदिम विचार

अब हम एक बड़ी ही कुतूहलपूर्ण कल्पना करते हैं। उस मानवी साहसपूर्ण व्यवसाय के आरम्भिक दिनों में मनुष्य होना कैसा मालूम होता होगा? चार सौ शताब्दी पूर्व जब मानव-सभ्यता का न तो बीज-वपन ही हुआ था और न उसकी फ़सल ही तैयार हुई थी। उन दिनों, उन आखेट और घूमने के सुदूरवर्ती दिनों में, मनुष्य क्या सोचता था और उसकी विचारशैली किस प्रकार की थी? मनुष्य की मानसिक धारणाओं का लेखबद्ध होना भी उस समय तक आरम्भ न हुआ था। अतएव, अन्य कोई उपाय न देखकर हमको उपर्युक्त प्रश्नों का उत्तर केवल कल्पनाओं और अनुमान के सहारे ही देना पड़ता है।

आदिम मनुष्यों के मानसिक भावों का पुनर्निर्माण करने के लिए आधुनिक वैज्ञानिकों को विविध मूल सोतों की खोज करनी पड़ी है। अभी हाल में **मन-विश्लेषणशास्त्र** (Psycho-Analysis) ने आदिम मानवी समाज के इतिहास पर बहुत कुछ प्रकाश डाला है। मनविश्लेषणशास्त्र वह विज्ञान है जो इस बात का विश्लेषण करता है कि बालक के अहंवादी भाव और मनोविकार समाज की आवश्यकताओं के अनुसार किस प्रकार रोके, दबाये, बदले और एक दूसरे से सम्बन्धित किये जाते हैं। आदिम मनुष्य के भावों का पुनर्निर्माण करने में उन असभ्य जातियों के विचारों और रीति-रिवाजों से भी बड़ी सहायता मिली है जो आज-कल विद्यमान हैं। आज-कल के सभ्य मनुष्यों में जो बहुत-से विचारशून्य अन्धविश्वास और दुराग्रह घुसे हुए हैं उनमें—तथा आज-कल की दन्त-कथाओं में—मानों आदिम समाज के विचार कठोर होकर सुरक्षित चले आते हैं। और अन्त में हम ज्यों-ज्यों अपने युग की ओर आते हैं त्यों-त्यों हमें चित्र, मूर्तियाँ, नक़्क़ाशी, चिह्न आदि अधिकाधिक संख्या में मिलते हैं। इनसे हमें यह अधिकाधिक स्पष्ट हो जाता है कि मनुष्य को सुरक्षित रखने और नक़ल करने के योग्य कौन-कौन-सी वस्तुएँ मालूम पड़ी थीं।

आदिम मनुष्य कदाचित् प्रायः वैसे ही सोचा करता था जैसे कि बालक सोचा करते हैं—अर्थात् धारावाहिक काल्पनिक चित्रों के रूप में। वह मन में चित्रों द्वारा विचार किया

करता था, या उसके मस्तिष्क में काल्पनिक चित्र आकर अंकित होते थे। और इन काल्पनिक चित्रों से जिस प्रकार के भी मनोवेग उत्पन्न होते थे वह उन्हीं के अनुसार व्यवहार करता था। आज भी बालक और अशिक्षित व्यक्ति इसी प्रकार व्यवहार करते हैं। मनुष्य के अनुभव में क्रम-बद्ध विचार करने की शक्ति का अपेक्षाकृत देर से विकास हुआ। पिछले तीन सहस्र वर्ष से पूर्व क्रम-बद्ध विचार करने की शक्ति ने मानुषी जीवन में कोई विशेष महत्त्वपूर्ण कार्य नहीं किया। और आज भी मनुष्य-जाति में वे लोग अत्यन्त अल्पसंख्यक हैं जो अपने विचारों को अपने वश में रखते हैं या उन्हें क्रमबद्ध कर सकते हैं। अधिकांश लोग तो अब भी कल्पना और मनोविकारों के आधार पर ही जीवन व्यतीत करते हैं।

वास्तविक मानव-कथा के प्रारम्भिक अंश में आदिम मनुष्य-समाज शायद छोटे छोटे कुटुम्बों में विभक्त था। जिस प्रकार आरम्भ के स्तनपायी जीवों के झुंड कुटुम्बों से उत्पन्न हुए थे (क्योंकि कुटुम्ब के लोग एक साथ रहते थे और वंश-वृद्धि करते थे) उसी प्रकार आरम्भिक मनुष्य-जातियों की भी उत्पत्ति हुई। किन्तु जातियों की इस उत्पत्ति से पहले व्यक्तियों के आदिकालीन अहंकार पर भी कुछ न कुछ नियन्त्रण हो गया था। बचपन में पिता का जो डर और माता का जो प्रेम था उसको यौवन और वृद्धावस्था में भी बनाये रखना आवश्यक था, तथा वर्ग के वृद्ध पुरुषों की युवा पुरुषों के प्रति जो स्वाभाविक ईर्ष्या होती है उसको भी कम करने की बड़ी आवश्यकता थी। इसके विपरीत माता छोटों की स्वाभाविक सलाहकार और रक्षक थी। मनुष्य के सामाजिक जीवन की उत्पत्ति इन दो परस्पर विरोधी बातों के घात-प्रतिघात से हुई। एक ओर बच्चों के बड़े होने पर उनकी यह सहज नैसर्गिक कामना थी कि हम बाहर जाकर मनमानी रीति से जोड़ी मिलावें, और दूसरी ओर इसके विपरीत पृथक् होकर रहने के ख़तरे और कठिनाइयाँ थीं। नर-वंश-विद्या के उद्भट विद्वान् श्रीयुत जे० जे० ऐटकिन्सन ने अपनी पुस्तक "प्राइमल ला" में यह दिखलाया है कि असभ्य जातियों का प्रचलित क़ानून—जिसमें नाना प्रकार के **निषेधात्मक आदेश** (Tabus) हैं—और जो उन जातियों के सामाजिक जीवन पर बड़ा प्रभाव डालते हैं—वास्तव में इस हेतु बना कि आदिम जङ्गली मनुष्य उन्नतिशील समाज की आवश्यकताओं के अनुसार अपना मानसिक संगठन करने को विवश हो गया। मन-विश्लेषण-विज्ञानवेत्ताओं की बाद की खोजों से ऐटकिन्सन साहब की कल्पनाओं की बहुत कुछ पुष्टि होती है।

कुछ विचारशील लेखकों का मत है कि आदिम असभ्य पुरुषों में वृद्ध कुलपति के प्रति जो आदर और भय था, तथा रक्षा करनेवाली वयस्क स्त्रियों के प्रति उनके मनोवेगों की जो प्रति-क्रियायें थीं—उन्होंने ही स्वप्नों तथा कल्पना के कारण अतिरंजित और प्रचुर होकर आदिम मनुष्य के विश्वासों अर्थात् धर्म का सूत्रपात किया। देवता और

देवियों की कल्पना का कारण भी कुलपति का भय और आदर, तथा रक्षा करनेवाली स्त्रियों के प्रति मनोवेगों की प्रति-क्रिया ही थी। शक्तिशाली और सहायक व्यक्तियों के प्रति इस आदर की भावना के साथ ही साथ उनकी मृत्यु के उपरान्त स्वप्न में उन्हें देखने के कारण वे असभ्य मनुष्य उनसे डरने लगे और यह समझने लगे कि मृत्यु के बाद वे और भी उत्कृष्ट पद पर पहुँच गये हैं। (असभ्यों) के लिए यह विश्वास करना बहुत सरल था कि वे (वृद्ध कुलपति या रक्षक स्त्रियाँ) वास्तव में मर नहीं गये हैं किन्तु मायारूप से ऐसे सुदूरवर्ती स्थान को हटा दिये गये हैं जहाँ जाकर उनकी शक्ति और भी अधिक बढ़ गई है।
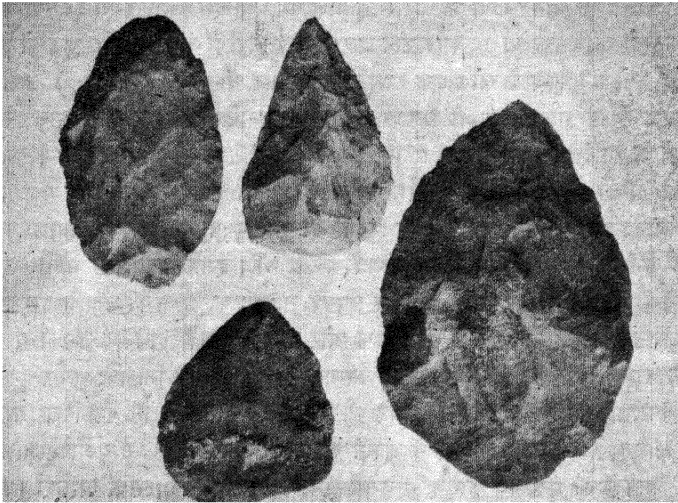
पाषाण-युग के अवशिष्ट चिह्न
सोमालीलैंड में मिले हुए ये पत्थर के औज़ार आकार-प्रकार में पश्चिमी और उत्तरी यूरप में मिले हुए औज़ारों के समान ही हैं।

वर्तमान-कालीन वयस्क पुरुषों की अपेक्षा शिशुओं के भय, कल्पनायें और स्वप्न कहीं अधिक स्पष्ट और वास्तविक होते हैं और आदिम-कालीन मनुष्य भी बहुत कुछ शिशुओं के समान ही थे। इसके अतिरिक्त वे पशुओं के अधिक निकट थे और वे यह समझते थे कि पशुओं में भी हमारे ही सदृश हेतु के भाव और मानसिक प्रतिक्रियायें होती

हैं। इसलिए वह पशु-सहायकों, पशु-रिपुओं और पशु-देवताओं की कल्पना कर सकता था। अद्‌भुत आकृति की चट्टान, लकड़ियों के ढेर, असामान्य वृक्ष इत्यादि प्राचीन पाषाण-युगीय मनुष्यों को कैसे महत्त्वपूर्ण, सार्थक और अनिष्टकारी अथवा हितैषी प्रतीत होते होंगे और स्वप्न तथा कल्पनाओं द्वारा उन पदार्थों के सम्बन्ध में कैसी कैसी सत्य समझी जानेवाली कहानियों तथा उपाख्यानों की सृष्टि होगई होगी—यह बात हम तभी भली भाँति समझ सकते हैं जब हम स्वयं कल्पनाशील बालक रहे हों। इन कहानियों में बाज़ बाज़ याद रखने और फिर से दोहराने के योग्य भी होती थीं और स्त्रियाँ छोटे छोटे बालकों को उन्हें सुनाती थीं। इस प्रकार परम्परा का आरंभ हुआ। आज-कल भी बहुत-से कल्पनाशील बच्चे अपने किसी प्यारे गुड्डे, पशु अथवा अन्य मनुष्याकृतीय अर्ध-मनुष्य को नायक बनाकर लम्बी-लम्बी कहानियाँ गढ़ डालते हैं। शायद आदिम मनुष्य भी इसी प्रकार कल्पनाशील थे फ़र्क़ केवल इतना ही है कि वे लोग अपने नायक को वास्तविक मानने को अधिक तैयार थे। क्योंकि सर्वप्रथम जिन वास्तविक मनुष्यों का हमको पता लगता है वे शायद बड़े बातूनी थे और इस अंश में वे नींडरथॉल निवासियों से भिन्न और अधिक उच्च श्रेणी के थे। यह भी संभव हो सकता है कि नींडरथॉल-निवासी सर्वथा गूँगे ही रहे हों। परन्तु स्मरण रखना चाहिए कि आदिम मनुष्य की भाषा में शायद थोड़े-से नाम ही रहे हों, और वे उन्हें चेष्टा-अभिनय तथा सांकेतिक चिह्नों द्वारा ही प्रकट करते रहे हों।

मानसिक विकास में कोई भी असभ्य जाति इतनी निम्न श्रेणी की नहीं है कि जिसमें कारण और परिणाम-सम्बन्धी किसी प्रकार का विज्ञान न हो। किन्तु आदिम मनुष्य परिणाम के साथ कारण का सम्बन्ध स्थापित करने में बहुत तीव्र न था। उसके लिए किसी परिणाम को किसी ग़लत कारण से सम्बन्धित कर देना बड़ा सरल था। वह कहता "तुम अमुक कार्य करो और अमुक बात होगी।" "तुम बालक को कोई विषैला फल दो और वह मर जायगा। तुम किसी वीर शत्रु का हृदय खा डालो और तुम बलवान् हो जाओगे।" यहाँ कारण-परिणाम के दो जोड़े हैं। इनमें एक ठीक है और दूसरा ग़लत। असभ्यों के मस्तिष्क में कार्य और परिणाम की जो व्यवस्था है उसे हम 'टोना-टोटका' कहते हैं। किन्तु 'टोना-टोटका' वास्तव में असभ्यों का विज्ञान है। आधुनिक विज्ञान से उसमें भेद यह है कि वह बिलकुल अव्यवस्थित है और उसमें वस्तु-परीक्षा करने की बिलकुल शक्ति या गुंजाइश नहीं है। और इसलिए वह बहुधा ग़लत होता है।

बहुत-सी बातों में कारण-परिणाम की ठीक ठीक संगति बैठाना कठिन नहीं था। और बहुत-से मिथ्या विचार अनुभव-द्वारा शीघ्र ही ठीक भी हो गये।

परन्तु आदिम मनुष्य की बहुत-सी ऐसी महत्त्वपूर्ण समस्यायें फिर भी शेष रह गई थीं जिनके कारण अथवा हेतु समझने का उसने बारम्बार प्रयत्न किया, किन्तु उसे उनके जो
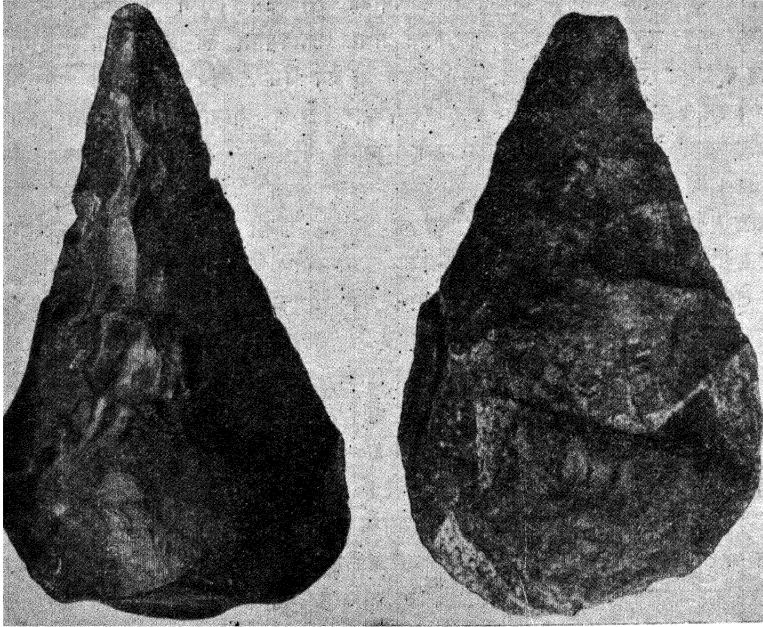
पाषाण-युग के दूर-दूर देशों में स्थित मनुष्यों की समानता

बाईं ओर चकमक का एक औज़ार है जो लन्दन की 'ग्रेज़ इन लेन' में खुदाई करते समय पाया गया था। दाहिनी ओर एक वैसा ही औज़ार है जिसे सोमाली-लैंड के आदिम असभ्य मनुष्यों ने गढा था।

समाधान या हेतु मिले वे ग़लत थे, परन्तु वे इतने ग़लत न थे (या इतने स्पष्ट रूप से ग़लत न थे) कि उनकी ग़लती उसे मालूम पड़ जाती। उसके लिए यह बात बड़े महत्त्व की थी कि वन में आखेट और पानी में मछलियों की बहुतायत हो तथा वह उनको सुगमता से

पा सके। इन कामों में उचित फल पाने की आशा से वह निःसन्देह सहस्रों कवचों, मन्त्रों और सगुनों इत्यादि की सहायता लेता और विश्वास करता था कि इनके द्वारा उसे उपर्युक्त कामों में सफलता प्राप्त होगी। इसके अतिरिक्त उसको मृत्यु और रोग की भी बड़ी चिन्ता लगी रहती थी। कभी तो महामारियों से जनता की मृत्यु होती थी और कभी बिना किसी स्पष्ट कारण के लोग या तो रोगग्रस्त हो मृत्यु के मुख में चले जाते अथवा निर्बल हो जाते थे। इन बातों ने भी आदिम असभ्य मनुष्य के जल्दबाज़ और भावुक मस्तिष्क को अवश्य ही बहुत कुछ उद्विग्न कर दिया होगा। स्वप्न और कल्पना-जनित अटकलों के कारण वह इन दुर्घटनाओं का कारण कभी किसी मनुष्य, पशु या वस्तु को समझता और कभी वह उनसे रक्षा पाने के लिए किसी दूसरे मनुष्य, पशु या वस्तु से प्रार्थना करने लगता। उसमें बालक-सुलभ भय और घबराहट की कमी न थी।

इस छोटी-सी मानव-जाति के आरंभ ही में ऐसे कुछ व्यक्ति अवश्य रहे होंगे जो यद्यपि औरों के समान ही भय और कल्पनाओं के शिकार थे किन्तु जिनका मस्तिष्क औरों से कुछ अधिक प्रौढ़ और दृढ़ था। इन लोगों ने सलाह या आशा देकर औरों के ऊपर अपना रोब जमा लिया होगा। उन्होंने किसी बात को अशुभ बतलाया तो किसी को आवश्यक कह दिया, किसी बात को शुभशकुन और किसी को अपशकुन घोषित कर दिया। टोने-टोटके में जो व्यक्ति पटु था, अर्थात् जो ओषधि का प्रयोग करता था, वही सर्वप्रथम पुरोहित या धर्माचार्य हुआ। वह उपदेश देता था, स्वप्नों का फल बतलाता था, वह लोगों को भावी दुर्घटनाओं की चेतावनी देता था और उन विचित्र अनुष्ठानों को करता था जिनसे लोगों का संकट दूर होता या उनका भाग्योदय होता था। आदिम और असभ्य लोगों का धर्म आज-कल के धर्मों के समान नहीं था। उसमें अधिकतर कुछ विधानों और नियमों का पालन करना ही पर्याप्त था। और आरंभिक धर्माचार्य आज्ञापूर्वक उन बातों को बतलाता था जो वास्तव में एक प्रकार का अविहित, आदिम और व्यावहारिक विज्ञान था।

———

(१३)

खेती का प्रारम्भ

यद्यपि पिछले पचास वर्षों में विद्वानों ने यह जानने के लिए बहुत अनुसंधान और विचार किया है कि खेती और बस्तियाँ बनाकर रहने का आरंभ कब और कैसे हुआ तथापि इस विषय में हम अब भी नितान्त अनभिज्ञ हैं। इस समय निश्चयपूर्वक हम केवल इतना ही कह सकते हैं कि ईसा से लगभग १५,०००—१२,००० वर्ष पूर्व, जब (पूर्वोक्त) एज़िलियन जाति दक्षिणीय स्पेन में निवास करती थी और जिस समय बचे बचाये प्राचीन आखेटजीवी लोग उत्तर तथा पूर्व दिशा की ओर बढ़ रहे थे, प्रायः उसी समय उत्तरी अफ्रीका वा मध्य-एशिया के किसी भू-भाग अथवा भूमध्य सागर की निचली घाटियों में, जो अब उपर्युक्त समुद्र के नीचे बैठ गई हैं, कुछ जातियाँ शताब्दियों से दो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समस्याओं को धीरे धीरे सुलझा रही थीं। वे दो समस्यायें थीं—खेती का आरंभ और पशुओं का पालतू बनाना। अपने पूर्वगामी आखेट-जीवियों के उलटे-सीधे गढ़े हुए हथियारों के सिवाय इन लोगों ने पालिश किये हुए पत्थर के औज़ार बनाना भी प्रारम्भ कर दिया था। इन लोगों ने यह भी जान लिया था कि टोकरियाँ बनाई जा सकती हैं और पौदों के रेशों को बुनकर कपड़ा भी तैयार किया जा सकता है। उन्होंने मिट्टी के भद्दे बर्त्तन बनाना भी आरंभ कर दिया था।

वे लोग क्रोमैग्नौन, ग्रिमाल्डी और एज़िलियन इत्यादि जातियों की प्राचीन शिला-युगीय मानवीय संस्कृति से उन्नति कर अब धीरे धीरे नवीन पाषाण-युग की ओर अग्रसर हो रहे थे। ये नवीन पाषाण-युगीय मनुष्य धीरे धीरे पृथ्वी के अधिक उष्ण भागों में फैलने लगे। और उनकी आविष्कृत कलायें तथा उनके पालतू किये हुए पशु अनुकरण और अभ्यास के कारण उन भूभागों में भी फैल गये जहाँ उपर्युक्त जाति के लोग नहीं पहुँच पाये थे। ईसा से कोई दस सहस्र वर्ष पूर्व, मनुष्य-जाति का अधिकांश—उन्नतिकर नवीन पाषाण-युगीय सभ्यता की कोटि तक पहुँच गया था।

वर्त्तमानकालीन पुरुषों को तो धरती की जुताई-बोआई, फ़सल की कटाई, मँड़ाई और पिसाई वैसी ही स्पष्ट और स्वाभाविक बातें मालूम होती हैं जैसी कि पृथ्वी की गोलाई। लोग पूछ सकते हैं कि इनके बजाय और कौन-सी क्रियायें की जा सकती थीं? और दूसरी तरकीब हो ही क्या सकती थी? परन्तु बीस सहस्र वर्ष पहले आदिम मनुष्य को यह कार्य-प्रणाली और यह तर्कशैली ही, जो आज हमें इतनी स्पष्ट और निश्चित मालूम पड़ती है, साफ़ तरह से समझ में न आती थी। कृषि-कार्य की सफल विधियाँ उसे एकाएक नहीं

मालूम हो गईं। उनको समझने और जानने के लिए उसे असंख्य प्रयोग करने पड़े और उसे कितनी ही भ्रमपूर्ण धारणाओं में से होकर निकलना पड़ा। और इस उपक्रम में उसे पग पग पर इन प्रयोगों का अनावश्यक विस्तार करना पड़ा और इन धारणाओं की मिथ्या व्याख्या करनी पड़ी। भूमध्य सागर के आस पास किसी भाग में जंगली गेहूँ अपने आप उत्पन्न होता था। गेहूँ बोना सीखने के बहुत पहले ही मनुष्य ने खाने के लिए उसके बीजों (दानों) का कुचलना (कूटना) और फिर उनको पीसना सीख लिया था। बीज बोने के पहले ही उसने कटाई आरम्भ कर दी थी।

और यह बड़ी आश्चर्यजनक बात है कि संसार में जहाँ कहीं फ़सल की बोआई तथा कटाई होती है वहाँ बोआई के साथ ही साथ रुधिरबलिदान—विशेषतया नरबलि-संबंधी सुदृढ़ आदिम विचारों के चिह्न अब भी दृष्टिगोचर होते हैं। और इन दोनों बातों के प्राथमिक संमिश्रण का अध्ययन बहुत मनोरञ्जक है। जो पाठक इस विषय का विस्तृत अध्ययन करना चाहें वे सर जे० जी० फ्रेज़र के **गोल्डन बाऊ** (Golden Bough) नामक सुप्रसिद्ध ग्रंथ को पढ़ें। परन्तु हमको यह याद रखना चाहिए कि यह संमिश्रण आदिम मनुष्य के शिशु-समान कल्पना-प्रिय और कथा-कहानी गढ़नेवाले मस्तिष्क में हुआ था। इस संमिश्रण को किसी तर्क के आधार पर सिद्ध करना असंभव है। ऐसा प्रतीत होता है कि संसार में १२ ०००—२०,००० वर्ष पहले के नवीन पाषाणयुगीय जन-समाजों में बीज बोने का समय आते ही नरबलि दी जाया करती थी। बलि किसी नीच अथवा जातिच्युत पुरुष की न दी जाती थी वरन् इस कृत्य के लिए युवक अथवा युवतियाँ (पर विशेषतया युवक ही) चुने जाते थे, और बलिदान होने तक उनकी अत्यंत मान-प्रतिष्ठा और पूजा-अर्चा होती थी। वह एक प्रकार का यज्ञ का देवता-राजा समझा जाता था, और उसके वध का विधान एक धार्मिक कृत्य हो गया था जिसको बूढ़े और जानकार लोग कराते थे और जो युगों से बराबर होते आने के कारण रूढ़ि-सम्मत हो गया था।

ऋतुओं का ठीक ठीक ज्ञान न होने के कारण पहले उन आदिम मनुष्यों को बोआई तथा बलि का समय निर्णय करने में बड़ी कठिनाई होती होगी। यह बात मानने के लिए कुछ प्रमाण मिलते हैं कि मानवी अनुभव के आरंभ में एक ऐसा भी समय था जब मनुष्य को वर्ष का कोई ज्ञान न था। काल-गणना, सर्वप्रथम चान्द्रमास-द्वारा की जाती थी; और लोगों का विश्वास है कि बाइबिल में वर्णित कुलपतियों की वर्ष-गणना, वास्तव में, चान्द्रमासों ही को वर्ष मान कर की गई है। और बेबिलन के पञ्चाङ्ग (Calendar) में इस बात के स्पष्ट चिह्न मिलते हैं कि बीज बोने का समय निर्णय करने के लिए तेरह चान्द्रमासों ही के आधार पर हिसाब लगाने (गणना करने) का प्रयत्न किया गया है।
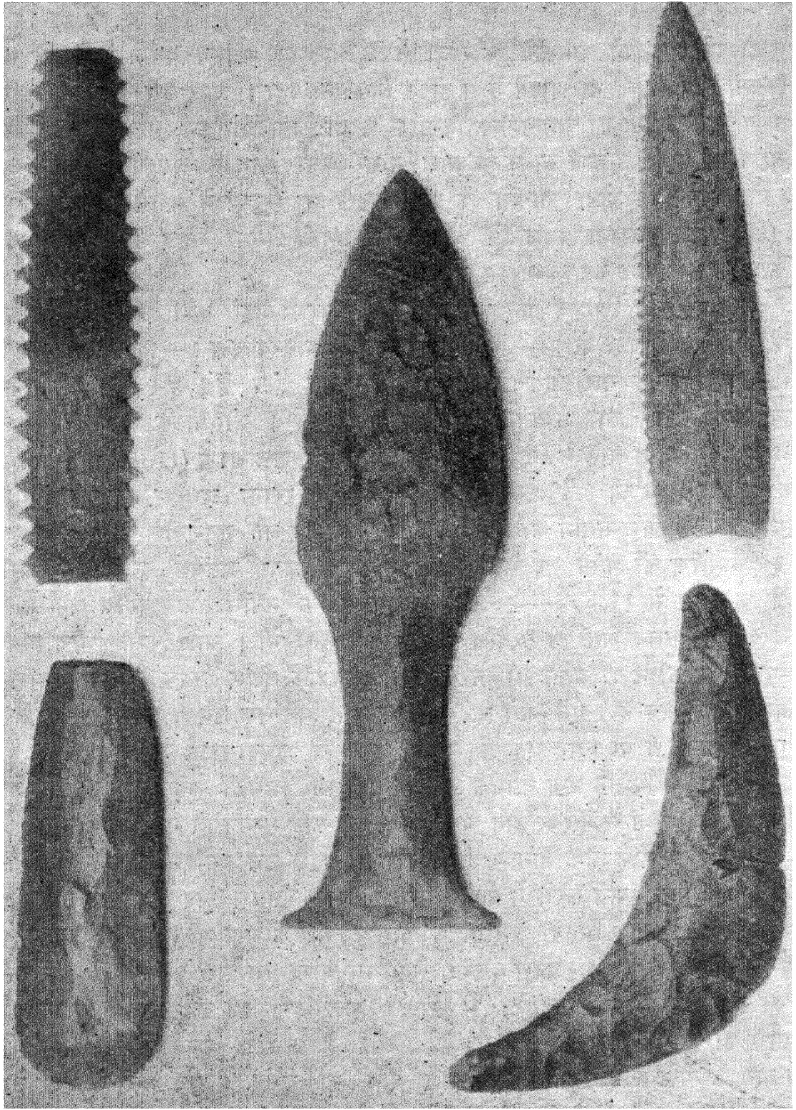
नवीन पाषाण-युग के चकमक पत्थर के औज़ार ।

पञ्चाङ्ग पर चान्द्रमासों का यह प्रभाव वर्तमान काल के पञ्चाङ्गों में भी पाया जाता है। और यदि रूढ़ियों के कारण हमारी बुद्धि कुंठित न हो गई होती तो हमको खीष्ट-धर्म में ईसामसीह को सूली दिये जाने तथा समाधि से पुनः उठने की तिथियों के वार्षिक उत्सवों
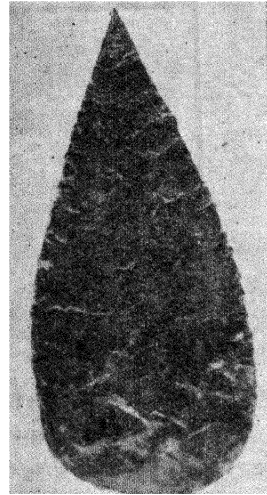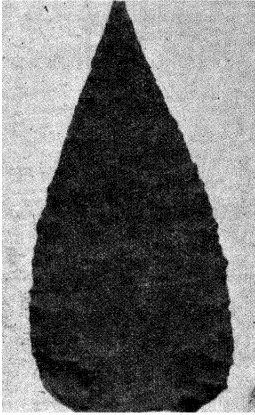
१ २

आज-कल के नवीन पाषाणयुगीय अस्त्र।

हाल में आस्ट्रेलिया के आदिम निवासियों के बनाये हुए ठीक पाषाणयुगीय शैली के बर्छों के सिरे (१) तार के चीनी के इंसुलेटर से बनाया गया (२) टूटी हुई काँच की बोतल से बनाया गया।

को उचित समय—सौर तिथियों—पर न मनाकर, चन्द्रमा के क्षय तथा वृद्धि के अनुसार, परिवर्त्तनशील तिथियों पर मनाना अत्यन्त अद्भुत प्रतीत होगा।

यह बात संदिग्ध है कि आदिम कृषक तारों को देखना जानते थे या नहीं, परन्तु यह अधिक संभव मालूम होता है कि इधर-उधर घूम फिर कर जीवन व्यतीत करनेवाले गोपालकों ने पहले-पहल तारों की ओर ध्यान दिया क्योंकि उनसे उन्हें दिशा जानने में सुविधा मालूम हुई। किन्तु जैसे ही यह ज्ञात हुआ कि उनसे ऋतुओं का समय निश्चित किया जा सकता है वैसे ही कृषि के लिए उनका महत्त्व एक-दम बढ़ गया। और किसी

विशिष्ट तारे के उत्तर अथवा दक्षिण दिशा की ओर गमन करने पर बीज बोने के समय का बलिदान दिया जाने लगा। उस नक्षत्र के विषय में किसी कथा का गढ़ लेना और उसकी पूजा करना आदिम मनुष्य के लिए प्रायः अनिवार्य हो गया।
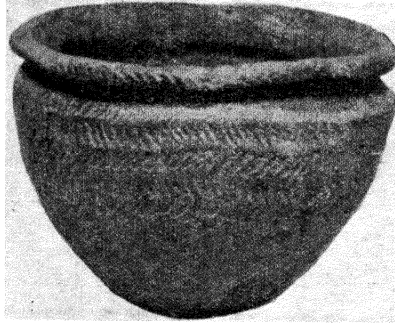
नवीन पाषाण-युग की कारीगरी का नमूना।
यह टेम्स नदी के कछार में माठेलेक के पास खुदाई
करते समय पाया गया था।

अतएव यह सहज ही में समझा जा सकता है कि नवीन पाषाण-युग के आरम्भिक संसार में रुधिरबलि तथा नक्षत्रों के सम्बन्ध में जानकारी रखनेवाले सयाने और अनुभवी पुरुषों का समाज में कैसा उच्च एवं विशिष्ट स्थान रहा होगा।

इन सयाने स्त्री-पुरुषों की शक्ति का एक और कारण यह था कि लोग अशुद्धता और अपवित्रता से डरते थे और ये उन्हें बतला सकते थे कि शुद्ध होने के उपाय क्या हैं। जादूगरों के साथ जादूगरनियाँ और पुरोहितों के साथ पुरोहितानी भी सदा होती आई हैं। आरम्भिक पुरोहित वास्तव में इतना धार्मिक पुरुष न था जितना कि वह व्यावहारिक विज्ञान का जानकार था। उसका विज्ञान प्रायः अनुभवमूलक या प्रत्यक्षमूलक और अधिकतर दोषपूर्ण था। वह उसे जन-साधारण से बड़ी सावधानी से छिपाकर रखता था। किन्तु इतना सब होने पर भी यह मानना ही पड़ेगा कि उसका मुख्य उद्देश्य ज्ञान था और उस ज्ञान का प्रधान उपयोग व्यावहारिक था।

बारह या पन्द्रह हज़ार वर्ष हुए ये नवीन पाषाण-युगीय जन-समाज (जिनमें पुरोहित और पुरोहितानियों के वर्ग थे और जिनमें ये लोग परंपरा से चले आ रहे थे) तथा उनके जुते

हुए खेत, उन्नतिशील गाँव और प्राचीरयुक्त क्षुद्र नगर, संसार के समस्त उष्ण एवं जल-पूरित भागों में फैलते जा रहे थे। फिर, शताब्दियों पर्य्यन्त, इन विविध जातियों के भावों का प्रसार और उनका पारस्परिक विनिमय होता रहा। आदिम कृषक-समाज की इस संस्कृति को इलियट स्मिथ और रिवर्स जैसे विद्वानों ने सौर्य-पाषाणी संस्कृति (Heliolithic Culture) का नाम दिया है जो सर्वथा उपयुक्त न होते हुए भी, विज्ञान-वेत्ताओं-द्वारा इसका अधिक सार्थक नामकरण न होने तक, हमको व्यवहार करना ही पड़ेगा। भूमध्य सागर और पश्चिमी एशिया के किन्हीं भागों में उत्पन्न होकर, यह सभ्यता शताब्दियों पर्यन्त पूर्व की ओर तथा एक द्वीप से दूसरे द्वीप में फैलती हुई—प्रशान्त महासागर पार कर—शायद अमेरिका में भी पहुँच गई होगी जहाँ उत्तर दिशा से आनेवाले मङ्गोल जाति के लोगों के अधिक प्राचीन और अविकसित रहन-सहन के ढंग से उसका संमिश्रण हुआ।

जहाँ कहीं ये गेहुँए रङ्गवाली जातियाँ अपनी सौर्य-पाषाणी संस्कृति को लेकर गईं वहाँ इनके साथ ही साथ कुछ अद्भुत विचार एवं अनुष्ठान भी—सर्वांश में नहीं तो अधिकांश में तो—अवश्य ही पहुँच गये। और इनमें से कुछ तो ऐसे अद्भुत हैं कि उनका ठीक ठीक अर्थ या कारण समझाने के लिए किसी मस्तिष्क-विशेषज्ञ की आवश्यकता होगी। ये लोग सूच्याकार महान् शिखर और बड़े बड़े टीले बनाते, तथा बृहत् पाषाण-शिलाओं के मण्डल निर्माण कर खड़े किया करते थे। इनके बनाने का उद्देश्य शायद यह था कि इनसे पुरोहितों को ज्योतिष-सम्बन्धी निरीक्षण करने में सहायता मिलती थी। वे अपने समस्त अथवा कुछ मृतकों के शवों को सुरक्षित रखते थे। ये अपनी देह में गुदना गुदाते और **खतना** (Circumcision) कराते थे। इनमें शिशु-प्रसव के समय पिता को शयनागार में विश्राम के लिए भेजने की **कावेड** (Cauvade) नामक अत्यन्त प्राचीन प्रथा प्रचलित थी और इनमें 'स्वस्तिका' नामक सौभाग्यसूचक चिह्न का प्रचार था जो ख़ूब प्रसिद्ध है।

यदि हम पृथ्वी के नक़्शे में बिंदुओं द्वारा उन स्थानों को दिखलावें जहाँ उपर्युक्त रीति-रिवाजों के चिह्न अब भी मिलते हैं तो संसार के समशीतोष्ण और निम्नोष्ण किनारों को मिलाकर एक मेखला-सी बन जायगी जिसका विस्तार स्टोनहैंज और स्पेन से लेकर मेक्सिको और पेरू तक होगा। किंतु अफ्रिका में भूमध्यरेखा के नीचे, उत्तर-मध्य यूरप और उत्तरी एशिया में ये बिंदु न दिखलाई देंगे। क्योंकि इन स्थानों में वे जातियाँ रहती थीं जो प्रायः स्वतंत्र रीति से अपना विकास कर रही थीं।

(१४)

नवीन पाषाण-युगीय आद्य सभ्यतायें

लगभग दस सहस्र वर्ष पूर्व पृथ्वी के मानचित्र की बाह्य रूपरेखा प्रायः वैसी ही थी जैसी आज-कल। जिब्राल्टर की **समुद्र-ग्रीवा** (Straits) के आरपार बनी हुई वह प्राचीन रोक—जो अटलांटिक सागर के जल को भूमध्य सागर की घाटी में प्रविष्ट होने से रोक रही थी—प्रायः उस समय तक जल के वेग के कारण नष्ट हो चुकी थी जिससे वर्त्तमान भूमध्य सागर बन चुका था, और उसकी **बाह्य तटरेखा** (coast line) भी प्रायः आज-कल ही की भाँति हो गई थी। हाँ, कास्पियन समुद्र आज-कल की अपेक्षा कहीं अधिक लम्बा-चौड़ा था और काकेशस पर्वतमाला के उत्तर की ओर शायद कृष्ण सागर से भी जा मिला था। मध्य-एशिया के अंतर्वर्त्तीय इन समुद्रों के चारों ओर की भूमि—जहाँ अब पठार और मरुस्थल दृष्टिगोचर होते हैं—तब उपजाऊ और मनुष्यों के बसने योग्य थी। संसार भी उस समय साधारणतया आज-कल की अपेक्षा अधिक आर्द्र और उपजाऊ था। यूरोपीय रूस की भूमि तब कहीं अधिक अनूपदेशीय तथा झीलों से परिपूरित थी और बेहरिंग समुद्र-ग्रीव की ओर एशिया भी शायद अमेरिका से स्थल-द्वारा मिला हुआ था।

वर्त्तमानकाल में मनुष्यों की जो जो प्रधान जातियाँ समझी जाती हैं, उनका पृथक् पृथक् वर्गीकरण करना उस समय भी संभव था। तत्कालीन संसार के उष्ण एवं समोष्ण भू-भागों और समुद्र-तटों पर,—जो आज-कल की अपेक्षा तब कहीं अधिक उष्ण और वनों से आच्छादित थे—सौर-पाषाणी संस्कृतिवाली भूरी जाति के लोग बसते थे, और वे ही भूमध्यसागर के तटस्थ प्रदेशों पर बसनेवाले बहुसंख्यक बर्बर एवं मिस्रियों तथा दक्षिण की ओर पूर्वीय एशिया में रहनेवाले जन-समाज के पुरखा थे। इस महान् जाति के बहुत-से भेद थे; भूमध्य सागर और अटलांटिक के निकटवर्त्ती प्रदेशों में बसनेवाली आईबीरिया अथवा भूमध्य देशीय गेहुँए रंग की जातियाँ, हामवंशीय जातियाँ—जिनके अंतर्गत बर्बर एवं मिस्र-देशवासी समझे जाते हैं—भारत के अधिक काले द्रविड़, पूर्व भारतीय जातिसमूह, **क्षुद्र एशिया** (Polen Asia) की बहुत-सी जातियाँ और न्यूज़ीलेंड के 'माओरी'—ये सभी इस मानव-समाजरूपी वृक्ष की न्यूनाधिक महत्त्वपूर्ण शाखायें हैं। यह ठीक है कि पश्चिम में बसनेवाली

लापलेण्डीय
इस्थोनियादेशीय
फ़िनलैण्डदेशीय
ऐस्किमो
स्कैण्डिनेवियादेशीय
हूण
अमरीका के ताम्रवर्ण
आदिमनिवासी
जापानी
मेक्सिको देशीय
पेरूदेशीय
ट्यूटन
स्लावजातीय
तुर्क
मंगोल
मंगोलियन भेद
सिदियादेशीय
उत्तरी चीनदेशवासी
चीन देश
उत्तर यूरपदेशीय भेद
ग्रीक
यवन
मीडूस
केल्ट
आयर्लैंड देशीय
केल्ट-आइबीरियन
वेल्स देशीय
आर्मीनियन
पार्सीक
गोरखाली
ब्रह्मदेशीय
स्याम देशीय
इटली
भारतीय आर्य
सौर पाषाणी सभ्यता वाली सावले रंग की जातियाँ
भूमध्यसागरस्थ
आइबीरियन
जातियाँ
मिस्रदेशीय
सेमाइट
सुमेरियन
भारतवर्ष
द्रविड़
मलय
बर्बर
इण्डो-एशियन
मलयदेशीय
ऐलामी
हब्शी
एशियायी हब्शी
आग्नेय एशिया के द्वीपवासी
अण्डमान द्वीपवासी
नवीन पाषाण युगीय जातियाँ
आस्ट्रेलिया के आदिमनिवासी
न्यूज़ीलेण्ड के मावरी
क्रोमेग्नार्ड वर्ग
ग्रिमाल्डी वर्ग
बुशमेन
प्राचीनपाषाणयुगीय बाद की जातियाँ
टस्मानियादेशीय
निएण्डरथलवासी मनुष्य
वास्तविक मनुष्य
पिल्टडाउन मनुष्य
पिथेकैन्थ्रपस
हाइडलबर्ग मनुष्य
पाषाण युग की आरंभिक जातियाँ
वृक्षवासी मर्कट
पृथ्वीवासी मर्कट
मनुष्यजातियों के संबंध में जो वर्तमान कालीन विचार हैं उनका सार।
[यह याद रहे कि भिन्न भिन्न मनुष्य-जातियां आपस में स्वतन्त्रतापूर्वक विवाह-संबंध करती हैं]

एक सचित्र 'मय' स्तंभ।

इसमें एक सर्प देवता और एक पुजारी दिखलाये गये हैं। बीभत्स चेहरों को देखिए।

जातियों का रंग पूर्ववालों की अपेक्षा अधिक उज्ज्वल था परन्तु वहाँ भी इन सर्व प्रधान भूरी जातियों से पृथक् होकर—मध्य एवं उत्तरीय यूरोप के वनों में—नीली आँखो वाले, अपेक्षाकृत अधिक गौर एवं सुन्दर मनुष्यों का एक वर्ग अधिक ख्याति प्राप्त करत जा रहा था। इस वर्ग को अब बहुत-से लोग **नार्ड** (Nord) कह कर पुकारते हैं। पूर्वोत्तर

एशिया के अधिक खुले भू-भागों में इस भूरे जन-समाज का एक अन्य भेद सर्वथा विपरीत दशा में पाया जाता था। वहाँ के लोगों की आँखें अधिक तिरछी, गालों की हड्डियाँ ऊँची, देह कुछ पीली और केश ख़ूब काले तथा सीधे होते थे। यह मंगोल जाति थी। दक्षिणी अफ्रीका, आस्ट्रेलिया और दक्षिण-एशिया के बहुत-से उष्ण कटिबंधीय द्वीपों में उस समय 'हबशी' जाति के लोग पाये जाते थे और मध्य अफ्रीका में मिश्रित जातियाँ रहती थीं। आजकल अफ्रीका की प्रायः सभी **रंगीन जातियाँ** (Coloured People) इन उत्तरीय भूरी और दक्षिणीय भूरी जातियों के मेल से उत्पन्न हुई मालूम पड़ती हैं।

यह बात सदैव याद रखनी चाहिए कि बादलों की भाँति मनुष्य-जातियों का भी अत्यंत स्वच्छन्दता और सुगमता-पूर्वक पृथक्करण, ऐक्य, मिश्रण और पुनर्मिलन हो जाता है, और वे निर्बाध रूप से मिश्रित होकर वंशवृद्धि भी कर सकती हैं। मानव-जातियों का प्रसार वृक्षों की उन शाखाओं के समान नहीं होता जिनका पुनर्मिलन असंभव हो जाता है। अवसर आते ही जातियाँ एक दूसरे से घुल-मिल जाती हैं। यदि यह बात न भुलाई जाय तो हम बहुत-से क्रूर दुराग्रहों से भली भाँति बच सकते हैं। 'जाति' शब्द का अत्यन्त ही शिथिलतापूर्वक उपयोग करने के कारण लोग बहुधा उसके आधार पर अत्यन्त ही असंबद्ध एवं असंगत सिद्धान्तों को गढ़ना प्रारंभ कर देते हैं। ऐसे लोगों की परिभाषा के अनुसार, 'ब्रिटिश' अथवा 'यूरोपियन' भी पृथक् जाति कहलावेंगे। परन्तु वास्तव में देखा जाय तो प्रायः समस्त ही यूरोपीय जातियों में गेहुँए, गोरे, अधगोरे और मंगोलों के अंशों का अस्तित्व दृष्टिगोचर होता है।

मानव-विकास के नवीन पाषाण-युग में मंगोल-जाति के लोगों ने सर्वप्रथम अमेरिका में प्रवेश किया था। प्रकाश्य रूप से ऐसा प्रतीत होता है कि वे बेहरिंग नामक समुद्रग्रीव की राह से वहाँ पहुँच कर दक्षिण-दिशा की ओर फैल गये थे। उत्तर में उन्हें कैरिबू (Caribou) नामक अमेरिका के बर्फ़ीले बारहसिंहों के, और दक्षिण में अरने भैंसों (Bison) के बड़े बड़े झुण्ड मिले। परंतु जिस समय ये लोग दक्षिणी अमेरिका में पहुँचे तो **तक्ष-दन्तीय** (Glyptodon) नामक भीमाकार जीव, और मंथर गतिवाले तथा हाथी के समान ऊँचे और बेडौल भीमाकृतीय वन्य-पशु (Megatherium) वहाँ विद्यमान थे। इस अंतिम भीमकाय परन्तु निस्सहाय एवं असमर्थ पशु-जाति को इन्होंने संभवतः समूल नष्ट कर डाला।

अमरीका जानेवाले अधिकांश क़बीले सभ्यता में नवीन पाषाणयुग के भ्रमणशील और शिकारी जीवन से आगे नहीं बढ़ सके। उन लोगों ने लोहे का उपयोग नहीं जान पाया। उनके पास प्राकृतिक रूप में पाई जानेवाली दो ही धातुएँ—सोना और ताँबा

थीं। परन्तु मैक्सिको, युकेटन और पेरू की परिस्थिति ऐसी थी कि वहाँ जमकर खेती हो सकती थी। यहाँ ईसा से लगभग एक सहस्र वर्ष पूर्व प्राचीन संसार के समानान्तर, परन्तु उससे सर्वथा भिन्न प्रकार की, अद्भुत सभ्यतायें उत्पन्न हुईं। प्राचीन संसार की अधिक पुरातन आदिम सभ्यताओं की भाँति इन जन-समाजों में भी बीज बोआई और कटाई के अवसरों पर नरबलि देने की रीति ने भली भाँति जड़ पकड़ ली। भेद केवल इतना ही था कि प्राचीन संसार में तो—जैसा हमको आगे चलकर स्पष्ट हो जायगा ये आदिम विचार अन्य विचारों-द्वारा न्यून-संकीर्ण होकर—अंततोगत्वा—सर्वथा ही ढँक गये थे, किंतु अमेरिका में, इसके सर्वथा विपरीत, इन विचारों ने उन्नति कर अत्यन्त उग्र रूप धारण कर लिया। अमेरिका के सभ्य प्रदेश उस समय वास्तव में पुरोहितों-द्वारा शासित धर्म-राज्य हो रहे थे। उनके युद्धनेताओं और शासकों को शास्त्रिक नियमों और शकुन-अपशकुनों के कठोर नियंत्रण में रहना पड़ता था।

इन पुरोहितों ने ज्योतिष में अच्छी निपुणता प्राप्त कर ली थी। और इनका वर्ष-संबंधी ज्ञान बैबिलोनिया निवासियों से भी कहीं अधिक बढ़ा-चढ़ा था। युकेटन में इनकी अपनी एक जुदी लेखन-शैली थी जो 'मय' लेखन-कला कहलाती है और जो अत्यन्त ही अद्भुत और जटिल है। इसको पढ़ने और समझने के लिए जितने प्रयत्न अब तक किये गये हैं उनसे केवल यही निष्कर्ष निकलता है कि जिन वर्ष-पञ्चाङ्गों को तैयार करने में पुरोहितवर्ग अपनी सारी बुद्धि लगा देता था, केवल उन्हीं जटिल पञ्चाङ्गों—सारणियों—को लिखने के लिए ही इस लेखनशैली का उपयोग किया जाता था। 'मय' सभ्यता की कला ई० स० ७०० या ८०० के लगभग अपनी चरम सीमा पर जा पहुँची थी।

इन लोगों के पत्थर के खुदाई के काम में आकार देने की शक्ति और अधिकांश सुन्दरता देखकर आजकल का दर्शक दंग रह जाता है और वह उसकी विषमता तथा एक प्रकार की उन्मादपूर्ण रूढ़ि और जटिलता देखकर जो उसके विचारों के परे हैं—घबड़ा उठता है। प्राचीन संसार में इसके समकक्ष और कोई कला नहीं है। प्राचीन संसार में उसकी समानता और वह भी बहुत दूर की समानता अति प्राचीन भारतीय शिल्पकला से की जा सकती है। 'मय' कला में सर्वत्र ही सर्प और परों का संमिश्रण दिखलाई पड़ता है। प्राचीन संसार की जो वस्तु इन 'मय' चित्रों से सबसे अधिक मिलती है वह है यूरोपियन पागलख़ानों में बंद लोगों के बनाये एक प्रकार के जटिल चित्र। ऐसा मालूम होता है कि 'मय' दिमाग़ प्राचीन संसार के दिमाग़ से सर्वथा भिन्न

ढंग पर विकसित हुआ है। उसके विचारों में एक प्रकार का विचित्र फेर है और हमारे प्राचीन संसार की सम्मति के अनुसार तो उनका दिमाग़ अवश्य ही पागलों का दिमाग़ था।

यह सम्मति कि इन मति-भ्रष्ट अमरीकन सभ्यताओं का कारण वहाँ के लोगों की मानसिक दुर्बलता और मति-भ्रष्टता थी इस बात से पुष्ट होती है कि उनको मनुष्य का रुधिर बहाने का असाधारण शौक़ था। मेक्सिको की सभ्यता में तो विशेषरूप से नर-रक्त बहाया जाता था और वहाँ साल में हज़ारों ही आदमियों का बलिदान कर दिया जाता था। बध्य पुरुषों की देह जीवितावस्था ही में चीर डालना और धड़कते हुए हृदय को निकाल लेना एक ऐसा कृत्य था जिसने तत्कालीन अद्भुत पुरोहितवर्ग के जीवन और मस्तिष्क दोनों ही पर पूर्ण आधिपत्य कर रक्खा था। सार्वजनिक जीवन और राष्ट्रीय सभी प्रकार के उत्सवों में इस विषम एवं भयंकर कृत्य का संपादन करना तब आवश्यक समझा जाता था।

अध्यापक करार के काल्पनिक चित्र के आधार पर निर्मित नवीन पाषाण-युग का यूरोपियन योद्धा।

इन जातियों में भी जन-साधारण का जीवन अन्य बर्बर किसानों के जीवन के समान ही था। इनके मिट्टी के बर्तन, कपड़े और रँगाई के काम बहुत अच्छे होते थे। 'मय' लेख केवल पत्थरों पर ही नहीं खोदे जाते थे, प्रत्युत चमड़े इत्यादि पर लिखे और चित्रित भी किये जाते थे। यूरोप और अमेरिका के संग्रहालयों में ऐसे अनेक गूढ़ 'मय' लेख रक्खे हुए हैं जिनमें तिथियों के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं पढ़ा जा सका है।

पेरू में भी इसी प्रकार की लेखन-शैली का प्रारंभ हुआ था। परन्तु वहाँ इनके स्थान में रस्सियों में गाँठें लगाकर लेख रखने की प्रथा चल पड़ी। सहस्रों वर्ष पूर्व चीन में भी स्मृति-सहायतार्थ रस्सियों का इसी प्रकार उपयोग किया जाता था।

पुरानी दुनिया में भी ई० पू० ४०००—५००० वर्ष से पहले—अर्थात् उपर्युक्त सभ्यताओं से तीन अथवा चार सहस्र वर्ष पूर्व—ऐसी आदिम सभ्यतायें वर्त्तमान थीं जो इन अमेरिकन सभ्यताओं से भिन्न नहीं कही जा सकतीं। मंदिर इनके आधार थे; इनमें भी खूब नरबलि दी जाती थीं और इनके पुरोहित-गण भी ज्योतिष-शास्त्र के अनन्य भक्त थे। भेद केवल इतना ही था कि प्राचीन संसार (पुरानी दुनिया) की ये आदिम सभ्यतायें जहाँ एक दूसरे पर घात-प्रतिघात-द्वारा विकसित हो वर्त्तमान अवस्था तक पहुँच गईं, वहाँ आदिम अमेरिकन सभ्यतायें ज्यों की त्यों बनी रहीं। इनमें से प्रत्येक की दुनिया निराली और दूसरों से सर्वथा पृथक् थी। यहाँ तक कि मेक्सिको-निवासियों को यूरोपियनों के अमरीका-आगमन तक भी पेरू देश के संबंध में तनिक-सा भी ज्ञान न था। और वहाँ के प्रधान खाद्य पदार्थ, अर्थात् आलू को मेक्सिकोवाले जानते भी न थे।

युगों पर्यन्त ये लोग अपने देवताओं पर चकित होते रहे, बलिदान करते रहे और अपनी जीवन-लीला समाप्त कर गये। 'मय' कला का अलंकारिक सौन्दर्य अत्यन्त उच्च कक्षा तक पहुँच गया। मनुष्यों के हृदय अनुराग-रंजित होते रहे और जातियाँ एक दूसरे से युद्ध करती रहती थीं। अकाल और सुकाल, महामारी और आरोग्यता के चक्र इन जातियों पर भी सदा चलते रहते थे। पुरोहितों ने सुदीर्घ शताब्दियों में अपनी वर्षसारिणी और नर-मेधों के विधानों को अधिक जटिल बना दिया परन्तु अन्य दिशाओं में उन्होंने कोई उन्नति न की।

(१५)

सुमेरिया, प्राचीन मिस्र और लेखन-कला

पुरानी दुनिया का रङ्गमञ्च नई दुनिया से अधिक विस्तृत और विविध दृश्य-प्रदर्शक है। ईसामसीह से छः हज़ार अथवा सात हज़ार वर्ष पूर्व, एशिया के हरे-भरे भू-भागों और नील नदी की घाटी में, लगभग पेरू के समकक्ष, बहुत-से अर्ध-सभ्य समाजों का प्रादुर्भाव हो चला था। उस समय उत्तरीय फ़ारस, पश्चिमीय तुर्किस्तान और दक्षिणीय अरब आजकल की अपेक्षा अधिक उपजाऊ थे; और अत्यन्त पुराणकालीन समाजों के चिह्न भी यहीं मिलते हैं। किंतु इराक़ के दक्षिणी भाग और मिस्र देश में सर्वप्रथम नगरों, मंदिरों और क्रमबद्ध सिंचाई के ढंग का प्रादुर्भाव हुआ और इस बात का प्रमाण मिलता है कि इन स्थानों का सामाजिक संगठन बर्बर लोगों के ग्राम्य-नगरों से अधिक उन्नति कर चुका था। उस समय दजला और फ़रात नामक नदियाँ पृथक् पृथक् होकर फ़ारस की खाड़ी में गिरती थीं; (और आजकल की भाँति समुद्र-समागम से प्रथम आपस में मिल न जाती थीं)। इन्हीं दो नदियों के मध्यवर्ती भू-प्रदेश में सुमेर नामक जाति ने अपने प्रथम नगर निर्माण किये थे। वास्तविक रूप से ठीक ठीक निर्णय न होते हुए भी इतना अवश्य कहा जा सकता है कि मिस्र देश के महान् इतिहास का प्रारम्भ भी लगभग इसी समय हुआ था।

ऐसा प्रतीत होता है कि इस 'सुमेर' जाति के पुरुषों का रङ्ग गेहुँआ और नाक उठी हुई होती थी। वे एक विशेष प्रकार की लेखन-प्रणाली का उपयोग करते थे जिसे अब पढ़ा जा सकता है और इनकी भाषा का ज्ञान भी अब लोगों को हो गया है। इन लोगों ने काँसे का व्यवहार खोज निकाला था और वे धूप में सुखाई हुई ईंटों के बड़े बड़े शिखराकार मन्दिर बनाते थे। इस देश की मिट्टी बहुत अच्छी होती है; और यह जाति इस पर लिखा करती थी। इससे इनके लेख आज पर्यन्त सुरक्षित हैं। इनके पास ढोर, भेड़, बकरी और गदहे थे परन्तु घोड़े न थे। बरछे और चर्म-निर्मित ढालों को लेकर और पास-पास खड़े होकर ये लोग पैदल युद्ध करते थे। इन लोगों के वस्त्र ऊन के होते थे और ये अपने सिरों को मुड़ा हुआ रखते थे।

ऐसा प्रतीत होता है कि प्रत्येक सुमेरियन नगर स्वतंत्र राज्य था। प्रत्येक नगर का अपना अलग देवता और अलग पुरोहित होता था। परन्तु कभी कभी एक

नगर दूसरे नगरों पर अपना प्रभुत्व स्थापित करके उनके निवासियों से कर वसूल करता था। 'निप्पर' नामक स्थान में प्राप्त हुए एक अत्यन्त प्राचीन लेख से पता चलता है कि 'ऐरेक' नामक सुमेर जातीय नगर का एक समय 'साम्राज्य' था। यह प्रथम साम्राज्य है जिसका वर्णन इतिहास में मिलता है। इस नगर के देवता तथा पुरोहित-राजा का दावा था कि उसका शासन फ़ारस की खाड़ी से लेकर लाल समुद्र-पर्यन्त माना जाता था।

ई० पू० २२०० के बैबिलन के राजा हन्मुराबी की इट। लेख की लिपि को सूच्याकार ध्यान से देखिए, इस लेख में यह लिखा है कि सूर्य का एक मंदिर बनवाया गया।
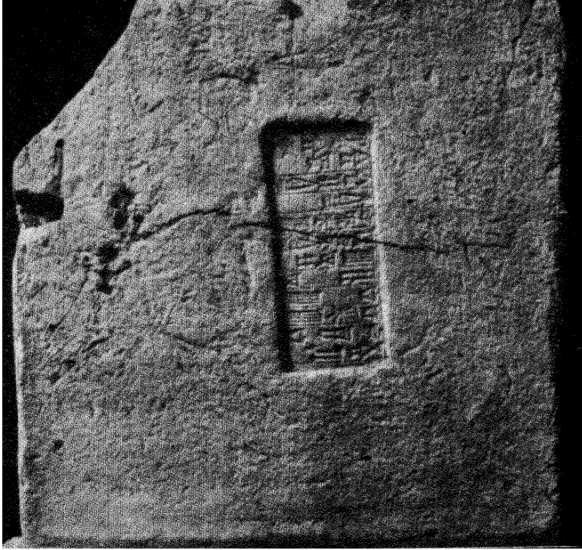
स्मरण रखना चाहिए कि संसार का यही सर्व-प्रथम ऐसा साम्राज्य है, जिसके सम्बन्ध में कुछ लेख उपलब्ध हुए हैं।

सर्वप्रथम लिखना चित्रित बातों को संक्षेप करने का ढंग मात्र था। नवीन पाषाण-युग के प्रारम्भ होने से पहले ही लोगों ने लिखना प्रारम्भ कर दिया था। पूर्वोल्लिखित एज़िलियन चट्टानों के चित्रों में लेखन-कला का आरम्भ दिखलाई पड़ता है। बहुत से-चित्रों में आखेट तथा आक्रमण दिखलाये गये हैं और अधिकांश में मनुष्यों की आकृति स्पष्ट रूप से खींची गई है। परन्तु कहीं कहीं चित्रकार ने, सिर तथा अंगादि के बनाने के झंझट में न पड़, मनुष्यों को केवल एक सीधी और एक अथवा दो आड़ी रेखाओं से प्रदर्शित किया है। इससे लोक संमत संक्षिप्त चित्र-लेखन-प्रणाली का चल उठना बड़ा सरल था। सुमेरिया,

में मिट्टी के ऊपर लकड़ी से लिखा जाता था। इससे लिपि के चिह्न शीघ्र ही बिगड़ जाते थे और यह पहचानना कठिन हो जाता था कि वे किस वस्तु को दिखलाने के लिए लिखे गये थे। परन्तु मिस्र में दीवारों और पैपाइरस की छाल पर (जो संसार का सर्व-प्रथम काग़ज़ था) चित्र बनाने की चाल थी जिससे चित्रों में से निदर्शित वस्तुओं का सादृश्य सदा बना रहता था। लकड़ी की (क़लमों) लेखनी से लिखने के कारण नोकदार अक्षर लिखे जाते थे। इससे सुमेरिया की लिपि को सूच्याकार या कीलाक्षर कहते हैं।

मिस्र के प्रथम वंश की आबनूस की बेलनाकार मुद्रा। इन्हें १९२१ में ब्रिटिश स्कूल आफ़ आर्कियोलोजी के लोगों ने ऐबीउस की एक समाधि से प्राप्त किया था। इनसे ब्लाक छापने की प्राचीन रीति का पता चलता है।

जब चित्र इसलिए खींचे जाने लगे कि उनसे प्रदर्शित वस्तु का बोध न करा कर उससे मिलती-जुलती अन्य किसी वस्तु का बोध कराया जाय तब इस महत्त्वपूर्ण उन्नति के कारण मानव-जाति लेखन की ओर एक पग और आगे बढ़ी। आजकल भी उपर्युक्त अवस्था के बच्चों को भी इस प्रकार के चित्र, जो चित्रित तो कुछ करते हैं पर जिनका आशय कुछ और होता है, अत्यन्त प्रिय लगते हैं। जब हम गुलाब और चन्द्र के चित्र खींचते हैं तो बालक अनुमान-द्वारा यह जानकर प्रसन्न होता है कि इन चित्रों से

गुलाबचन्द्र नामक सेठ का तात्पर्य है। इस प्रकार उन शब्दों को जो चित्रों-द्वारा अंकित नहीं किये जा सकते, शब्द-खण्डों में विभक्त कर, प्रत्येक खण्ड को चित्र-द्वारा अंकित कर संपूर्ण शब्दों को रूप प्रदान किया जा सकता है। सुमेरिया की भाषा बहुत-से शब्द खण्डों के समूह से बनी थी और इस समय की बाज़ बाज़ अमरिडियन भाषाओं के समान थी। वह इस खण्ड-चित्रण-शैली से सरलतापूर्वक लिखी जा सकती थी क्योंकि जिन शब्दों के भावों को चित्र-द्वारा नहीं सूचित किया जा सकता था उनको शब्दों के खण्ड करके दिखलाया जा सकता था। मिस्रदेश की लेख-प्रणाली का भी इसी प्रकार क्रम-विकास हुआ

सक्कारा के पिरामिड
दाहिनी ओर का सोपानवाला पिरामिड
संसार की सबसे प्राचीन पत्थर
की इमारत है।

था। बाद में जब ऐसे विदेशी लोगों ने इन चित्र-लिपियों को सीखा और प्रयोग किया, जिनकी भाषा के शब्द इतनी सुविधा से शब्द-खण्डों में विभक्त न होते थे, तो उनके हाथों में इन चित्र-लिपियों ने सुधर कर और सरल होकर अन्त में वह रूप पाया जिसे हम वर्ण-माला लेखन-प्रणाली कहते हैं। बाद की वर्ण-मालायें सुमेरिया के सूच्याकार और
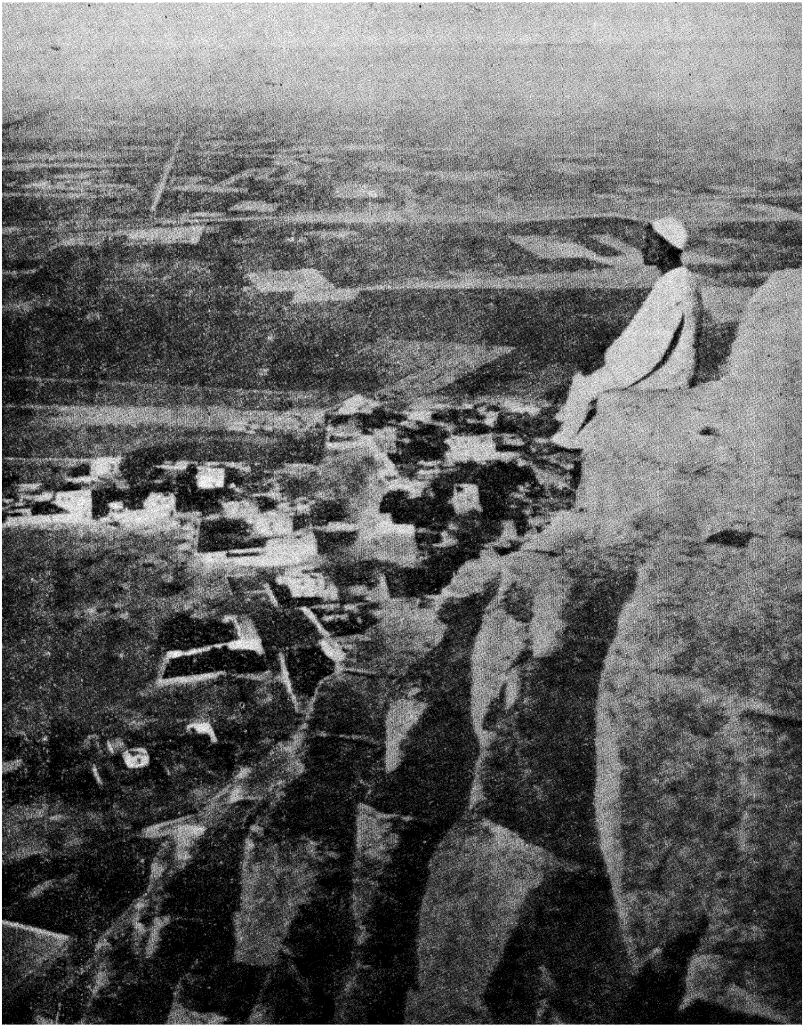
चिओप्स के विशाल पिरामिड के शिखर से विहंगम दृश्य
इससे पता लगता है कि आस-पास के मैदान पर इन स्मारकों का कैसा आधिपत्य है।
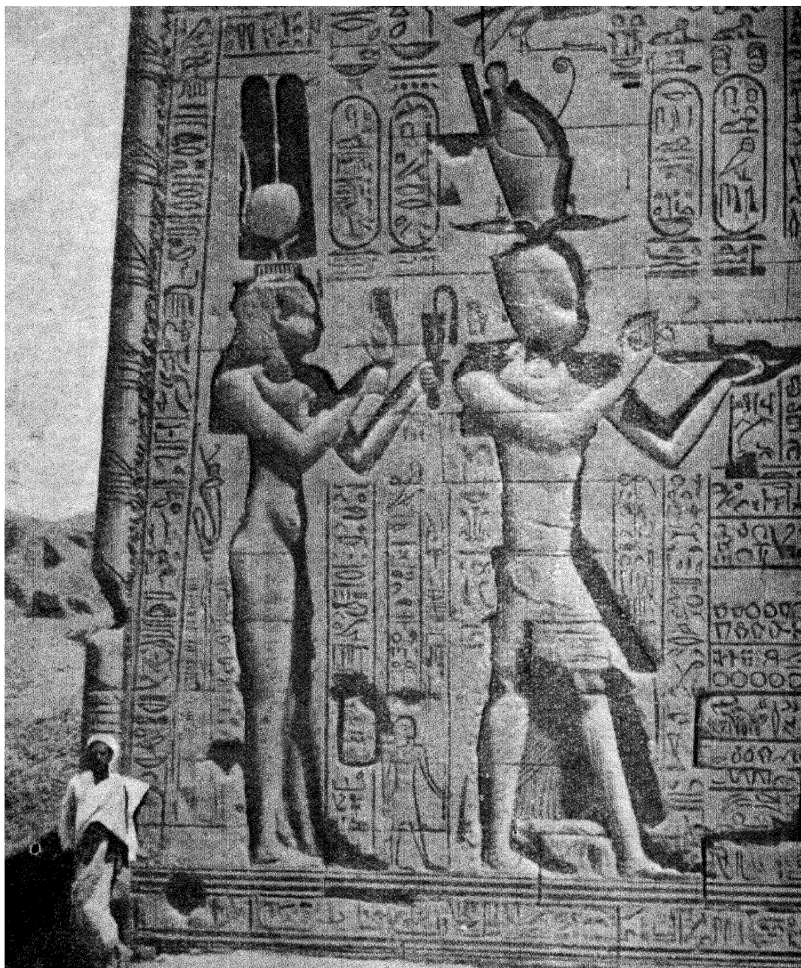
डएडरेह में हथोर का मन्दिर

मिस्र की चित्रमय लेखन-प्रणाली (पुरोहितों की लेखन-शैली) के संमिश्रण से बनी। कुछ दिनों बाद चीन में एक प्रकार की लोकसम्मत चित्र-लेखन प्रणाली चल निकली। किन्तु वह वर्णमाला की अवस्था तक नहीं पहुँच पाई।

मानवीय समाज के विकास में लेखन-कला का आविष्कार अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसी के द्वारा समझौते, क़ानून और आदेश लेखबद्ध हो सकते थे। इसी के कारण प्राचीन नगर राज्यों से अधिक बड़े राज्यों का निर्माण हो सका तथा धारावाहिक रूप से ऐतिहासिक चेतना हुई। राजा अथवा पुरोहितों की जहाँ दृष्टि अथवा शब्द तक न पहुँच सकते थे, वहीं अब इनकी सहायता से, इनकी मुद्रा और आज्ञा पहुँचने लगी, यही नहीं, वरन् उनकी मृत्यु के उपरान्त भी ये अनुशासन बने रह सकते थे। यह जान कर कौतूहल होता है कि प्राचीन सुमेरिया में मुद्रा का व्यवहार खूब होता था। राजा, सरदार और व्यापारी अपनी अपनी मुद्रा (मुहर) रखते थे जो कभी कभी अत्यन्त कुशलतापूर्वक खुदी हुई होती थी। ये मुहरें मिट्टी के पत्रों पर, उनको प्रमाणित करने की इच्छा से अंकित कर सुखा दी जाती थीं, जिससे मुहर का चिह्न स्थायी हो जाता था। पाठकों को स्मरण रखना चाहिए कि मेसोपोटामिया (इराक़) में असंख्य वर्षों तक चिट्ठी-पत्री, लेख और हिसाब-किताब, सब कुछ ही, इन अपेक्षाकृत स्थायी खपड़ों पर ही लिखे जाते थे और इसी से हमको (वर्तमान समय में) इतनी तत्कालीन ज्ञान-राशि पुनरुपलब्ध हो सकी है।

काँसा, ताँबा, सोना, चाँदी और अमूल्य दुर्लभ पदार्थ की तरह, उल्कोद्भव लोह का ज्ञान सुमेरिया और मिस्र, दोनों ही देशों को, अत्यन्त प्राचीन काल से था।

प्राचीन संसार के प्रथम नागरिक देशों—मिस्र और सुमेरिया की दैनिक जीवन-चर्या प्रायः एक-सी ही रही होगी और सड़कों पर चलनेवाले गदहों तथा ढोरों की विशेषता के अतिरिक्त, तत्कालीन मानव-जीवन, तीन सहस्र वर्ष पीछे के अमेरिका के 'मय-नगरों' के नागरिक जीवन से बहुत कुछ मिलता-जुलता रहा होगा। शान्ति के समय जन-समाज बहुधा सिंचाई और कृषि-कार्य में लगा रहता था, लोग केवल धार्मिक उत्सवों के दिनों में छुट्टी मानते थे। उस समय लोगों के पास रुपया-पैसा न था। और न उन्हें इसकी आवश्यकता ही प्रतीत होती थी। उनका अल्प और यदा-कदा व्यापार वस्तुओं के विनिमय-द्वारा होता था। केवल राजाओं और शासकों के पास ही आवश्यकता से कुछ अधिक सम्पत्ति थी और वे आवश्यकता पड़ने पर सुवर्ण तथा रौप्य के खण्डों और रत्नादिक के द्वारा वस्तु मोल लेते थे। तत्कालीन संसार में मानव-जीवन पर मन्दिरों का प्रभुत्व जमा हुआ था। सुमेरिया में विशाल शिखराकार मन्दिरों का रिवाज था जिनकी छत पर से ग्रहों का निरीक्षण किया जाता था। परन्तु मिस्र के बृहत् परिमाणवाले मन्दिरों में केवल एक ही खण्ड

होता था। सुमेरिया में पुरोहित ही सर्वोच्च शासक एवं अत्यन्त भव्य व्यक्ति समझा जाता था। इसके विरुद्ध मिस्र में पुरोहित से भी बड़ा एक व्यक्ति और था जो उस देश के मुख्य देवता का मूर्तिमान् अवतार समझा जाता था; वह मिस्र का अधीश्वर फराओ या दैवीराजा था।

उन दिनों संसार में बहुत परिवर्तन न होते थे। परिश्रम तथा रूढ़ियों का अनुसरण करते हुए लोग अपने दिन प्रसन्नतापूर्वक बिता देते थे। विदेशी प्रायः वहाँ न आते थे; और यदि कोई आ भी जाता था तो उसे दुख उठाना पड़ता था। पुरोहितगण लोगों का जीवन प्राचीन नियमों के अनुसार नियंत्रित करता था, बुआई का समय जानने के लिए नक्षत्रों का निरीक्षण करता था, बलिदान के शकुनों को बतलाता और स्वप्नों की चेतावनियों की व्याख्या करता था। पूर्वानुवर्ती मानव-जातीय बर्बरता को सर्वथा भुला कर, और भविष्य की चिन्ता न कर, लोग परिश्रम और अनुराग में ही दिन व्यतीत कर सुख से मर जाते थे। कभी कभी इनका शासक दयालु होता था। मिस्र का पैपी 'द्वितीय' ऐसा ही राजा था। इसने नब्बे साल राज्य किया। कभी कभी कोई महत्वाकांक्षी और धन तथा यश-लोलुप शासक उनके पुत्रों को सैनिक बनाकर आस-पास के नगर-राज्यों पर आक्रमण करने और उन्हें लूटने के लिए भेज देता, अथवा बड़ी बड़ी इमारतें बनवाकर उनसे परिश्रम कराता था। चिआप्स, चैफ़रन और माइसैरिनस ऐसे ही यशलोलुप राजा थे। इन्होंने गेज़ा नामक स्थान में विशालकाय सूच्याकार समाधियाँ बनवाई हैं जिन्हें पिरामिड कहते हैं। इस स्थान में सबसे बड़ी समाधि ४५० फ़ीट ऊँची है और इसमें लगे हुए पत्थरों का बोझ ४८ लाख, ८३ हज़ार टन है। (एक टन २८ मन के बराबर होता है)। यह सब पत्थर नील नदी-द्वारा नावों में लाया गया था और मनुष्य की मांस-पेशियों के बल-बूते पर ही वह यथास्थान लगाया गया था। इनके निर्माण करने में तो, मिस्र-देश, किसी महायुद्ध की अपेक्षा कहीं अधिक थक गया होगा।

(१६)

आदिम पशुचारणोपजीवी जातियाँ

ई० पू० ६००० से लेकर ई० पू० ३००० तक केवल मेसोपोटामिया और नील नदी की घाटी ही में मनुष्य खेती करने और नगर-राज्य नहीं बनाने लगे थे; प्रत्युत जहाँ कहीं आबपाशी का सुभीता और साल भर भोजन-सामग्री मिलने का निश्चय होता था वहीं अनिश्चित एवं कष्टदायक आखेट और घूमने-फिरने का जीवन छोड़कर मनुष्य स्थायीरूप से बसने लगे। इस समय एसीरियन (असुर) नामक एक जाति टाइग्रीस (फ़रात) नदी के ऊपरी भाग में बस कर नगरों की नींव डाल रही थी। एशिया माइनर (एशियायी कोचक) की घाटियों और भूमध्यसागर के तटों तथा द्वीपों में अन्य छोटी-छोटी जातियाँ सभ्य होती जा रही थीं। इसी समय बहुत सम्भव है कि भारत और चीन के अनुकूल भागों में भी सभ्य जीवन का विकास हो रहा हो। यूरोप महाद्वीप के बहुत-से भागों में, जहाँ झीलें मछलियों से परिपूर्ण थीं, छोटी-छोटी जातियाँ जल में लट्ठे गाड़ कर और उन पर घर बनाकर बहुत काल पूर्व से ही निवास करने लगी थीं और खेती के साथ साथ आखेट और मछली मारने का काम भी किया करतीं। परन्तु प्राचीन संसार के अधिकांश भागों में इस प्रकार की बस्ती बसाना भी असंभव था। कहीं धरातल अधिक कड़ा था, तो कहीं वन अत्यन्त सघन थे, कहीं सूखा पड़ता था तो कहीं ऋतुएँ ऐसी अनिश्चित थीं कि वहाँ तत्कालीन मानव-समाज इन सब असुविधाओं को अपने औज़ारों और (नगण्य) भौतिक विज्ञान के सहारे जीतकर नहीं रह सकता था।

आदिम सभ्यताओं की परिस्थिति में किसी स्थान पर बसने के लिए मानव-समाज को निरन्तर मिलनेवाले जल की, उष्णता की और धूप की आवश्यकता थी। जहाँ ये आवश्यकतायें पूरी न होती थीं वहाँ मनुष्य का केवल शिकारी के रूप में आखेट के लिए अथवा चरवाहे के रूप में ऋतु के अनुसार घास, चारे की तलाश में कुछ काल-पर्यन्त तो रहना सम्भव था, परन्तु वहाँ स्थायी रूप से बसना किसी प्रकार न हो सकता था। बहुत सम्भव है कि आखेटमय जीवन के स्थान में चरवाहे की भाँति जीवन व्यतीत करना भी मनुष्य ने बहुत ही धीरे धीरे सीखा हो। यह भी सम्भव है कि जंगली ढोरों और (एशिया में) जंगली घोड़ों का पीछा करते करते ही मनुष्य के हृदय में इनको 'धन' समझने का भाव उत्पन्न हुआ हो और उन्होंने इन्हें घाटियों में बन्द करना सीखा हो तथा इनकी रक्षा के लिए वे भेड़ियों, जङ्गली कुत्तों और अन्य अपहारक पशुओं से भी लड़े-भिड़े हों।
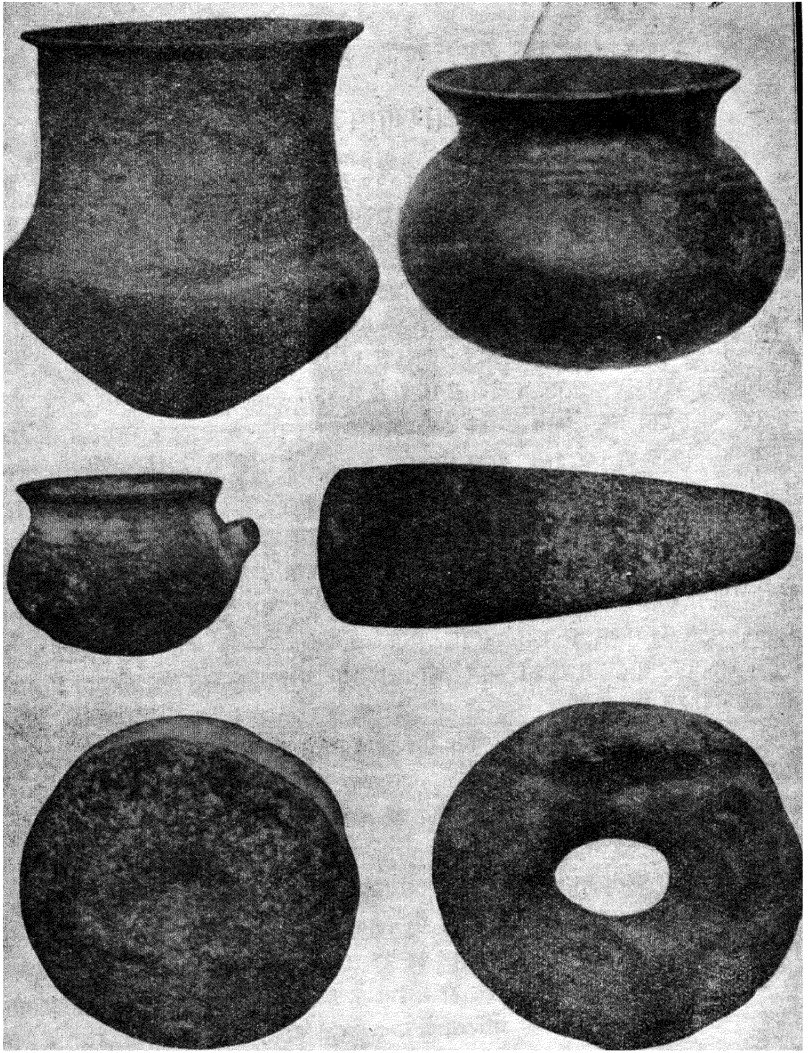
झीलों पर रहनेवाले लोगों के मिट्टी के बर्तन और औज़ार ।

वर्तमान काल का झील पर बसा हुआ एक गाँव। बोर्नियो द्वीप के ये घर ई० पू० ६००० के यूरोपियन नवीन पाषाण-युग के घरों के सर्वथा समान हैं।

आदिम सभ्यकाल में जिस प्रकार किसान जातियाँ विशेष रूप से बड़ी नदियों की घाटियों में उन्नति कर रही थीं, ठीक उसी प्रकार शीत-ऋतु में एक स्थान में और ग्रीष्म-ऋतु में दूसरे स्थान में घास-चारे की तलाश में सदा घूमने फिरनेवाली सर्वथा विभिन्न पशुचारणोपजीवी जातियाँ भी उन्नति कर रही थीं। किसानों की अपेक्षा वे अधिक

दृढ़ और बलवान् होती थीं। इनकी संख्या कम थी और इनकी संतति भी अधिक न होती थी। इनमें स्थायी मन्दिरों का अभाव था और इनका पुरोहित-वर्ग भी सुसंगठित न था उनके पास अधिक सामान भी न था। परन्तु इन कारणों से पाठक यह न समझ लें कि इनकी जीवन-चर्या कुछ कम उन्नतिशील थी। बहुत-सी बातों में तो इनका यह स्वतंत्र जीवन किसानों के जीवन की अपेक्षा कहीं अधिक परिपूर्ण था। यह चरवाहा जन-समाज-रूपी शृङ्खला में एक कड़ी के समान न था। वह अधिक स्वावलंबी होता था। ये गोप नेता को अधिक महत्त्व देते थे और वैद्य का दर्जा शायद उससे कुछ कम समझा जाता था।
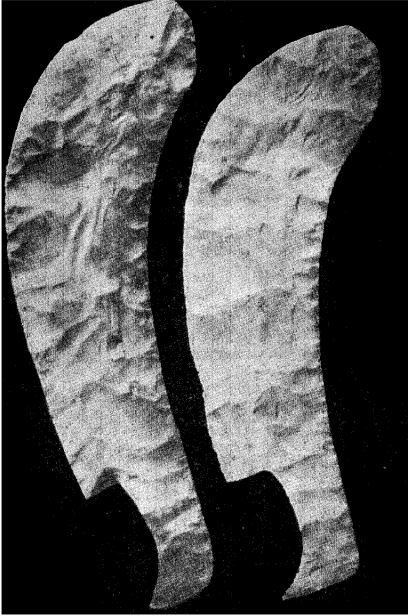
ई० पू० ४५०० के चकमक के चाकू। १९२२ ई० में ब्रिटिश स्कूल आफ़ आर्कियोलोजी ने इन्हें प्रथमवंश की समाधियों में से खोद निकाला था।

विस्तृत भू भागों पर विचरण करने के कारण इन पशुचारणोप-जीवी जातियों का जीवन-संबंधी दृष्टि-कोण अधिक विशद होता था। कभी वह किसी एक बसे हुए भू भाग के निकट आ जाते थे तो कभी दूसरे के। वह अपरिचित और नये लोगों को देखने का आदी हो गया था। दूसरे प्रतिस्पर्द्धी क़बीलों (वर्गों) से कभी मिलकर और कभी उनके विरुद्ध चाल चल कर उसे गोचर-भूमि का प्रबंध करना पड़ता था। पर्वतों के दर्रों और पथरीले स्थानों में आते जाते रहने के कारण उसे हल चलानेवाली जातियों की अपेक्षा धातुओं का ज्ञान अधिक था और बहुत संभव है कि धातु-शोधन-क्रिया में वह उनसे अधिक निपुण रहा हो। कदाचित् काँसे की, और अधिक

मिस्र में भ्रमणशील लोग ।
मध्य मिस्र के बेनीहसन नामक प्राचीन स्थान के निकट की एक समाधि
की दीवाल पर ये चित्र बने हैं । इनमें ई० पू० १८९५ के लगभग
मिस्र में सैमिटिक जाति के एक भ्रमणशील क़बीले
का आना दिखलाया गया है ।

संभव है कि लोहे को शोधन करने की रीति का आविष्कार इन्हीं घूमने-फिरनेवाले लोगों ने किया हो । मध्य यूरोप में, आदिम सभ्यता के केन्द्र से बहुत दूर लोहे को गला कर और साफ़ कर उससे बनाये हुए कुछ अत्यन्त प्राचीन औज़ार मिले हैं ।

इसके विपरीत स्थान-विशेष पर बसी हुई जातियाँ मिट्टी के बर्तन, कपड़े इत्यादि अन्य वाञ्छनीय वस्तुएँ बना रही थीं । कृषि-कार्य करनेवाली और पशु-चारणोपजीवी जातियों की पारस्परिक विभिन्न जीवन-चर्या के इस प्रकार उन्नति करने पर, दोनों के बीच थोड़ी बहुत पारस्परिक लूट अथवा व्यापार-वृत्ति होना आवश्यम्भावी था । विशेष-कर सुमेरिया में, जिसके दोनों ओर मरुस्थल और परिवर्त्तनशील ऋतुवाले प्रदेश थे, साधारणतया निरन्तर घूमने फिरनेवाली जातियाँ, आज-कल के कंजर आदि जिप्सी जातियों के समान,
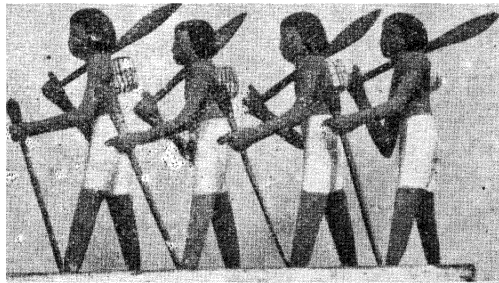
मिस्र देश के किसान काम पर जा रहे हैं ।
ब्रिटिश म्यूज़ियम में रक्खे हुए एक
प्राचीन और अद्भुत रीति
से रँगे हुए आदर्श पर ।

जोते और बोये हुए खेतों के निकट आ डेरा डाल थोड़ी-बहुत बर्त्तनों की मरम्मत के साथ ही साथ, व्यापार और लूट-खसोट अवश्य ही करती होंगी। (परन्तु ये लोग आज-कल के जिप्सियों (कंजरों) की भाँति मुर्ग़ियाँ न चुराते थे क्योंकि यह भारतीय पक्षी ई० पू० १००० के लगभग पालतू हुआ है और इससे पूर्व जङ्गली था।) ये लोग रत्नादिक और धातु तथा चमड़े के बने हुए सामान लाते थे। और यदि वे शिकारी हुए तो उनके पास पशुचर्म भी होते थे और इनके बदले में ये मिट्टी के बर्तन, मालायें, काँच, कपड़े इत्यादि तैयार वस्तुएँ ले जाते थे।

सुमेरिया और मिस्र के उस सुदूरवर्ती आदिम सभ्यकाल में इन घूमने फिरनेवाली और अधूरी बसी हुई जातियों के तीन प्रधान भेद तीन पृथक् भू-भागों में विद्यमान थे। व्याध और चरवाहे का जीवन व्यतीत करनेवाली, गौरकाय, भूरे केश, तथा नीली आँखों की 'नॉर्ड' नामक निम्न श्रेणी की जाति यूरोप के सुदूरस्थ वनों में निवास करती थी। ई० पू० १५०० से पहिले आदिम सभ्यताओं को इस जाति का अधिक ज्ञान न था। सुदूर पूर्वीय एशिया के घास के मैदानों में बहुत-से 'हूण' जाति के मंगोल क़बीले घोड़े को पालतू बना रहे थे और शिशिर तथा ग्रीष्म ऋतुओं में भिन्न भिन्न स्थानों में डेरे डालने के लिए स्थान-परिवर्त्तन की इन्हें आदत पड़ती जा रही थी। रूसी दलदल और तत्कालीन अधिक विस्तृत कास्पियन समुद्र के कारण नॉर्डिक और मंगोल जातियों में संभवतः कुछ सम्पर्क न था क्योंकि रूस के अधिकांश भाग में उस समय दलदल या झीलें थीं। इन दो जातियों के अतिरिक्त, सीरिया और अरब प्रदेशों की मरुभूमि में—जो अब अधिकाधिक शुष्क होती जाती थीं—साँवले-गोरे या गेहुएँ रंग की सेमिटिक जातियाँ, बकरी और भेड़ों के ग़ल्ले और गदहों के झुण्ड एक गोचर-भूमि से दूसरी गोचर-भूमि (चरागाह) को ले जाया करती थीं। सेमिटिक गड़रियों और दक्षिणीय फ़ारिस में 'एल्लामी' कहानेवाली कुछ एक हबशी जातियों का व्यापारी और लुटेरों के रूप में आदिम सभ्यताओं से सर्वप्रथम सम्पर्क हुआ था। और फिर, अन्त में, उनमें साहसी नेताओं के उत्पन्न होने पर, ये ही लोग प्राचीन सभ्यताओं के विजेता बन बैठे।

ई० पू० २७५० के लगभग, 'सारगन' नामक एक महान् सेमिटिक (अरब) नेता कुल सुमेरिया को जीतकर फ़ारिस की खाड़ी से लेकर भूमध्य सागर-पर्य्यन्त समस्त भूमंडल का स्वामी बन बैठा था। यह व्यक्ति नितांत निरक्षर बर्बर था; और 'अक्कादिया' कहलानेवाले इसके जाति-भाइयों ने सुमेरिया की लेखनप्रणाली को सीखकर उस भाषा को अधिकारी-वर्ग और विद्वानों की भाषा बना लिया था। उसके स्थापित साम्राज्य का दो शताब्दी के बाद पतन हो गया; और फिर 'एल्लामिया' के एक आक्रमण के

इस स्तभ म अक्कद क राजा नरमांसन का ऐश्वय प्रदर्शित किया गया है। यह राजा प्रथम सारगौन का पुत्र था। वह बड़ा भवन-निर्माता तथा प्रसिद्ध विजेता हो गया है। यह स्तंभ ईरान देश के सूसा नामक स्थान के खँडहरों में सन् १८९८ में पाया गया था।

पश्चात् 'अम्मोरिया' नामक एक नवीन अरब-जाति ने सुमेरिया में धीरे धीरे अपना शासन स्थापित कर लिया। इन लोगों ने बैबिलन (बाबुल, बबेरु) नामक एक छोटे से नगर को जो नदी के ऊपरी भाग में था—अपनी राजधानी बनाया। और इसी कारण उनका साम्राज्य प्रथम बैबिलन—साम्राज्य के नाम से विख्यात है। इस साम्राज्य को हम्मुरबी नामक एक महान राजा ने अपने शासन-काल में (ई० पू० २१०० लगभग) दृढ़ किया। इसने जो क़ानून बनाये वे इतिहास में सबसे प्राचीन माने जाते हैं।

मेसोपोटामिया की अपेक्षा नील नदी की घाटी पर आक्रमण करना कठिन है। परन्तु हम्मुरबी के समय के लगभग, सेमिटिक लोगों ने मिस्र पर भी आक्रमण करके उसे जीत लिया और वहाँ फ़राओ-वंश के हिक्सास अथवा गोपराज-वंश का आरम्भ हुआ जो कई शताब्दियों तक रहा। परन्तु इन सैमिटिक विजेताओं का मिस्रदेश के मूल-निवासियों से कभी पूरा पूरा संमिश्रण नहीं हुआ। वहाँ के मूल-निवासी उनसे द्वेष ही रखते रहे और इनको सदा विदेशी और बर्बर ही समझते रहे; और अन्त में जन-साधारण ने क्रांति कर इनको ई० पू० १६०० में देश से निकाल बाहर किया।

परन्तु सुमेरिया में तो सैमिटिक जातियाँ सदा के लिए ही बस गई थीं। वहाँ दोनों जातियों का सम्मिश्रण हो गया था और बैबिलन (बबेरु) साम्राज्य भाषा और भाव में सैमिटिक हो गया था।

(१७)

समुद्र-यात्रा करनेवाली आदिम जातियाँ

सर्वप्रथम नावों या जहाज़ों का चलन पचीस अथवा तीस सहस्र वर्ष पूर्व प्रारम्भ हो गया होगा। अधिक प्राचीन काल में नहीं तो कम से कम नवीन पाषाण-युग के प्रारम्भ तक तो मनुष्य लकड़ी के लट्ठे अथवा फूली हुई खाल के सहारे अवश्य ही पानी में तैरने लगा होगा। जब से हमें मिस्र और सुमेरिया का पता चलता है तभी से हम वहाँ टोकरी की भाँति बिनी हुई और चमड़े से मढ़ी हुई नाव का उपयोग होता हुआ पाते हैं। इनके रंध्रों में पुरानी रस्सी इत्यादि कूट कर भर दी जाती थी जिससे उनमें होकर नाव के भीतर पानी न आने पावे। वहाँ अब भी इस प्रकार की नावों का उपयोग होता है। आयरलैंड और वेल्स में आज भी ऐसी नावें व्यवहार की जाती हैं। अलास्का में 'सील' के चमड़े की बनी हुई नावों-द्वारा अब भी बेहरिंग का समुद्र-ग्रीव पार करते हैं। हाँ, तो फिर औज़ारों की उन्नति होने पर लट्ठों को खोखला कर उनसे नाव का काम लिया जाने लगा। और तदुपरांत, स्वाभाविक रीति से, धीरे धीरे नाव, जहाज़ इत्यादि का आगमन हुआ।

कदाचित् नूह की किश्ती की कथा में किसी प्राचीन पोत-निर्माता के कृत्य की स्मृति सुरक्षित है। इसी प्रकार सम्भव है कि जल-प्रलय की कथा में—जो संसार के बहुत-से लोगों में प्रचलित है—भूमध्य सागर की तलहटी के जल-प्लावित होने की घटना का वर्णन हो।

पिरामिडों के बनने से बहुत काल पहले ही लाल समुद्र में जहाज़ चलने प्रारम्भ होगये थे; और भूमध्य सागर तथा फ़ारस की खाड़ी में ई० पू० ७००० से भी पहले इनका चलन जारी था। परन्तु इनमें मछुओं के जहाज़ों की संख्या ही सबसे अधिक थी, किंतु कुछ डाकू अथवा व्यापारियों के जहाज़ भी थे। मानव-प्रकृति को देखते हुए हम प्रायः निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि ये प्राचीन मल्लाह अवसर मिलने पर तो डाका डालते थे और विवश होने पर व्यापार करते थे।

आदिम जहाज़ अन्तरस्थ (भू-भागों से घिरे हुए) समुद्रों में चला करते थे जहाँ वायु अनियमित रूप से चलती थी: और बहुधा कई दिनों तक समुद्र शान्त बना रहता था। इन्हीं कारणों से ये समुद्र-यान, थोड़ी-बहुत सहायता पहुँचाने के अतिरिक्त, अधिक उन्नति न कर सके। खुले समुद्रों में जा सकनेवाले रस्सी से कसे, पालदार जहाज़ों

का विकास पिछले चार सौ वर्षों में हुआ। प्राचीन काल के जहाज़ डाँड़ों से खेये जाते थे और समुद्र-तट के निकट ही चला करते थे और वायु-प्रकोप के चिह्न प्रकट होते ही बन्दर में घुस जाते थे। फिर, बड़े बड़े चपटी तलीवाले एक खन के जहाज़ (गैली) बनना प्रारम्भ होने पर, डाँड़-द्वारा उनको चलाने के लिए, दासों की आवश्यकता हुई जिसके लिए युद्धबंदियों की माँग होने लगी।

अरब और सीरिया में भ्रमणशील जातियों के रूप में सैमिटिक लोगों का प्रादुर्भाव हम देख चुके हैं। हम यह भी देख चुके हैं कि उन्होंने किस प्रकार सुमेरिया को जीत कर पहले अक्कादी और बाद में प्रथम बाबुल-साम्राज्य स्थापित किये। पश्चिम में ये ही सैमिटिक जातियाँ समुद्र-गामी होती जा रही थीं। इन्होंने भूमध्य सागर के पूर्वी किनारे पर बंदरगाहों की एक शृंखला-सी स्थापित कर दी थी जिनमें टायर और सिडन मुख्य थे। और बाबुल में हम्मुरबी के शासन-काल तक ये लोग व्यापारियों, पर्यटकों और उपनिवेश-संस्थापकों की हैसियत से सारे भूमध्य सागर के आस-पास फैल गये थे। ये समुद्र-गामी सैमिटिक लोग फ़िनीशियन कहलाते थे। वे स्पेन में बहुत बस गये थे और इन्होंने आइबीरियन बास्क लोगों को समुद्र-तट से हटाकर भीतर प्रायद्वीप में भगा दिया था। वे जिब्राल्टर की जलग्रीव के द्वारा समुद्र के किनारे किनारे अपने जहाज़ों के बेड़े चलाया करते थे। उन्होंने अफ्रीका के उत्तरी तट पर उपनिवेश स्थापित किये। इनमें फ़िनीशियन लोगों का बसाया हुआ एक नगर कार्थेज था जिसके विषय में आगे चल कर हमें बहुत कुछ कहना है।

किन्तु भूमध्य सागर में चपटी तलीवाले एक खण्ड के जहाज़ों को सर्वप्रथम फ़िनीशियनों ने नहीं चलाया। उनके अभ्युदय के पहले ही इस समुद्र के किनारों और द्वीपों में बहुत-से छोटे-बड़े नगर आबाद थे जिनको ऐसी जाति या जातियों ने बसाया था जो बाह्यरूप से पश्चिम के बास्क और दक्षिण के बर्बर और मिस्रवासियों से रक्त और भाषा के द्वारा संबंधित थीं। ये जातियाँ ईजियन जातियाँ कहलाती थीं। ध्यान रहे कि ये लोग यूनानियों से भिन्न थे। इतिहास में यूनानियों का प्रादुर्भाव बहुत बाद में हुआ है। ईजियन लोग प्राक्-यूनानी थे। किन्तु उन्होंने यूनान और एशियायी कोचक में अपने नगर आबाद कर लिये थे। इन नगरों में माइसीनी और ट्राय के नाम उदाहरण के लिए दिये जा सकते हैं। क्रीट के द्वीप में नोसस (Cnossos) नाम का एक विशाल और समृद्धि-शाली नगर भी इन्होंने स्थापित किया था।

केवल पिछली अर्द्ध शताब्दी ही में पुरातत्त्ववेत्ताओं की श्रमपूर्वक खुदाई के कारण इस ईजियन जातीय सभ्यता के विस्तार का हमको पता चला है। नोसस की तो अब

अत्यन्त ही सम्यक् रीति से खोज कर ली गई है; और यह भी सौभाग्य ही की बात है कि
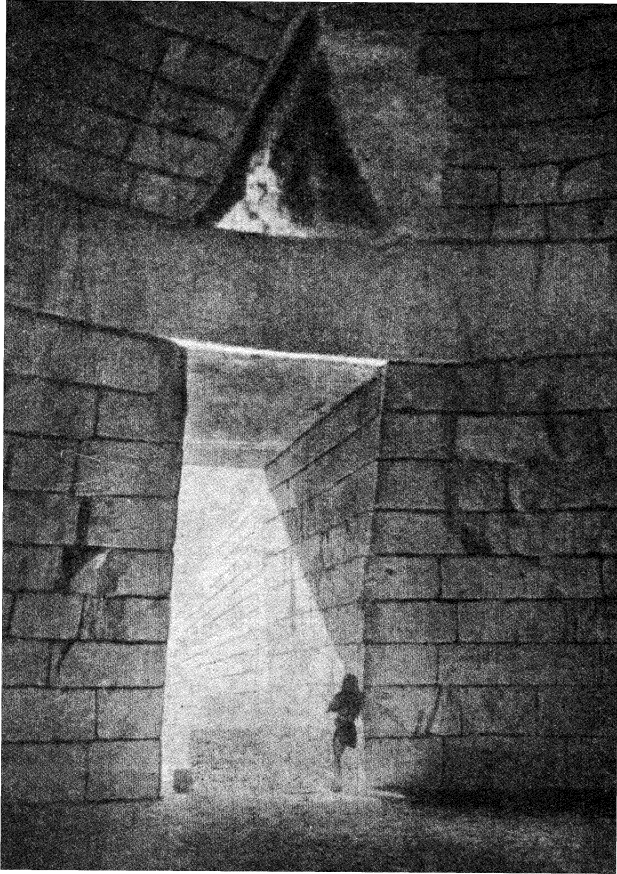
माइसीनी का कोषागार।

यहाँ पर इसके पश्चात् कोई अन्य ऐसा बड़ा नगर स्थापित नहीं हुआ जिसके द्वारा

इन भग्नावशेषों का विनाश हो सकता। इस विस्मृतप्राय सभ्यता की जानकारी हमको मुख्यकर इसके खँडहरों में मिली हुई वस्तुओं ही के द्वारा प्राप्त हुई है।

नोसस का इतिहास भी मिस्र के इतिहास के बराबर ही प्राचीन है। ई० पू० ४००० में भी इन दोनों देशों का पारस्परिक समुद्री व्यापार ख़ूब तेज़ी पर था; और ई० पू० २५००, अर्थात् 'सारगोन प्रथम' और 'हम्मुरबी' के बीच के समय में तो 'क्रीट की सभ्यता का सूर्य' मध्याह्न में था।

नोसस को क्रीट सम्राट् और उनकी प्रजा का एक विस्तृत भवन कहना ही अधिक उपयुक्त होगा। उस समय वहाँ क़िलेबन्दी न थी। यह (क़िलेबंदी) तो फ़िनीशियन लोगों ने अधिक बलशाली हो जाने पर उस समय बनाई थी जब उत्तर की ओर समुद्र से नवीन, परन्तु अधिक भयंकर डाकुओं के, अर्थात् यूनानियों के आक्रमण होने लगे।

जिस प्रकार मिस्र के राजाओं की उपाधि 'फ़ैराओ' थी, उसी भाँति यह 'फ़िनी-शियन' शासकगण 'मिनोश' कहलाते थे। इनके ऐश्वर्यपूरित प्रासादों में सदा जल-धारायें (नहरें) प्रवाहित होती रहती थीं और उनमें स्नानागार-सरीखी बहुत-सी ऐसी ऐसी अन्य सुविधायें भी थीं जिनका हमको अन्य प्राचीन भग्नावशेषों में चिह्न तक भी नहीं मिलता। इन प्रासादों में महान् उत्सव, आमोद-प्रमोद और जिमनास्टिक के खेल होते थे। जिस प्रकार स्पेन देश में, इस समय, वृषभ-युद्ध होता है, ठीक उसी प्रकार उस समय वहाँ भी होता था—यहाँ तक कि वृषभ से युद्ध करनेवाले पुरुषों के वस्त्रादिक भी आज-कल ही की भाँति होते थे। तत्कालीन स्त्री-समाज के वस्त्रादिकों में आधुनिक भावों का निदर्शन होना भी एक अचरज की बात है; वे चोलियाँ और लहँगो के जैसे मिलते-जुलते वस्त्र धारण करती थीं। इन क्रीट-निवासियों के बनाये हुए मिट्टी के बर्तन और वस्त्र, मूर्त्तिकारी और चित्रकला, रत्नादिक, हाथीदाँत, एवं धातु-सम्बन्धी तथा पच्चीकारी के काम बहुधा अत्यन्त ही सुन्दर होते थे। इनकी अपनी लेख-प्रणाली भी थी, परन्तु उसको अभी तक कोई पढ़ अथवा समझ नहीं सका है।

यह विलासमय सुखद जीवन बीसियों शताब्दी पर्यन्त चलता रहा। ई० पू० २००० के लगभग 'नोसस' और बैबिलन (बबेरु) में अत्यन्त सुखमय जीवन व्यतीत करनेवाले सभ्य पुरुष अच्छी ख़ासी संख्या में थे। ये लोग खेल-तमाशों में और धार्मिक उत्सवों में सम्मिलित होते थे। वे घरेलू दासों से अपनी सेवा कराते थे; और दासों से व्यापार या कारीगरी का काम कराकर धनोपार्जन करते थे। सूर्योत्तापित एवं नील समुद्र से घिरे हुए नोसस के धनिकों को अपना जीवन अत्यन्त ही सुरक्षित समझ पड़ता होगा। उस समय

अर्धबर्बर गोपराजों-द्वारा शासित मिस्रदेश इसके मुक़ाबले में हीन एवं क्षीण ही प्रतीत होता होगा। यदि उन दिनों कोई व्यक्ति तत्कालीन राजनैतिक प्रगति का मनन करता तो वह यह अवश्य देखता कि सभी कहीं सेमिटिक जाति के लोग फैलते जा रहे थे तथा वे मिस्र और सुदूरवर्ती बेबिलन साम्राज्य के शासक थे। वे टाइग्रीस (फ़रात) नदी के ऊपरी भाग में निनेवा नामक नगर स्थापित कर रहे थे और पश्चिम दिशा में हरक्यूलीस के स्तंभों—अर्थात् जिब्राल्टर के जलग्रीव—तक पहुँच कर दूर देशों में उपनिवेश स्थापित कर रहे थे।
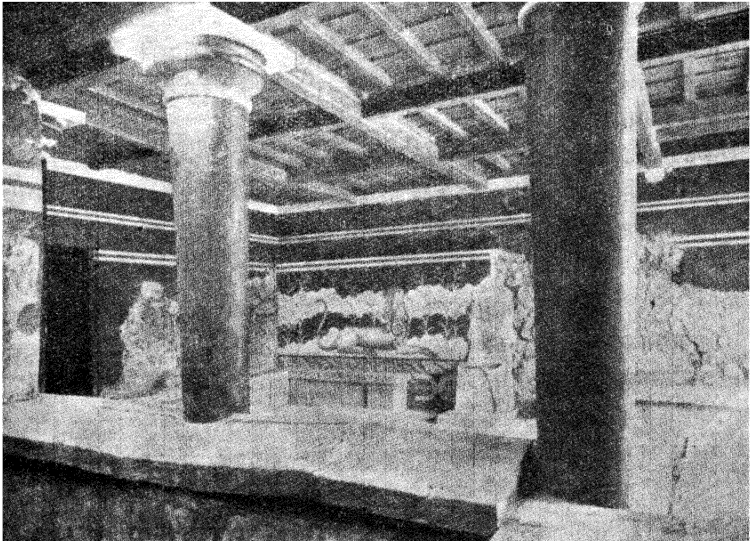
नोसस का महल
सिंहासन-भवन की चित्रांकित दीवालें।

नोसस में अवश्य ही कुछ क्रियाशील और कुतूहलपूर्ण चतुर व्यक्ति थे क्योंकि बाद की यूनानी दंतकथाओं में क्रीट-निवासी डीडलस नामक एक चतुर कारीगर की भी कथायें हैं जिनमें बतलाया गया है कि उसने एक प्रकार की उड़ने की कल बनाने का उद्योग किया

था जो बाद में बिगड़ गई और समुद्र में गिर पड़ी। वह कल शायद 'ग्लाइडर' (हवा में तैरनेवाला विमान) हो।

नोसस के तत्कालीन और हमारे आज-कल के जीवन की समताओं और विषमताओं की तुलना करना कौतूहलवर्द्धक है। ई० पू० २५०० के क्रीट-निवासी भद्र पुरुष के लिए लोहा एक अलभ्य धातु थी जो कभी कभी किसी उल्का के साथ पृथ्वी पर आ जाती थी क्योंकि उस समय तक लोगों को उल्का के लोहे का ही ज्ञान था। लोगों ने तब तक कच्चे लोहे को साफ़ कर लोहा निकालना नहीं सीखा था। क्रीट-निवासी लोहे को एक अद्भुत पदार्थ समझते थे। वे उसके उपयोगों से अपरिचित थे। उस समय की तुलना वर्तमान काल से कीजिए। आज-कल हमारे जीवन के प्रत्येक पहलू में किसी न किसी रूप में लोहा अवश्य वर्तमान है। उस समय के क्रोट-निवासी को घोड़ा भी कथानकों में वर्णित कोई विचित्र पशु मालूम होता होगा जो कृष्ण सागर के उस पार के सुदूरवर्ती भयंकर ठण्डे उत्तरी देशों में रहता था।

उसकी दृष्टि में सभ्यता भी ईजिया, ग्रीस और एशिया माइनर तक ही परिमित थी जहाँ इन्हीं के समान जीवन व्यतीत करनेवाली और शायद इन्हीं की-सी भाषा-भाषी लीडियन, कैरियन और ट्रोजन आदि जातियाँ निवास करती थीं। यह ठीक है फ़िनीशियन और ईजियन जातियाँ स्पेन और उत्तरी अफ़्रीका में भी बसी हुई थीं, परन्तु वे स्थान उसकी कल्पना से परे थे। इस समय तक इटली निर्जन थी और सघन वनों से आच्छादित थी। वहाँ एशिया माइनर की 'ईट्रस्कन' नामक गेहुँएँ रङ्गवाली जाति ने अभी पदार्पण न किया था। और कदाचित् एक दिन यह क्रीट-वासी भद्र पुरुष बन्दरगाह की ओर चला गया और वहाँ उसने एक बंदी देखा जिसने उसका ध्यान आकर्षित कर लिया क्योंकि उसका रंग बहुत गोरा और उसकी आँखें नीली थीं। कदाचित् इस क्रीटन ने इस बन्दी से बातचीत करने का भी उद्योग किया किन्तु उसे एक ऐसी बोली में उत्तर मिला जिसे वह समझ नहीं सका। यह प्राणी कृष्ण सागर के उस पार के प्रदेशों से पकड़ कर लाया गया था और क्रीट-वासी को वह नितान्त असभ्य और जंगली प्रतीत होता होगा। परन्तु वह वास्तव में आर्य-जाति का था जिसकी संस्कृति का हम शीघ्र ही आगे चलकर वर्णन करेंगे। उसकी इसी जंगली बोली ने कालान्तर में संस्कृत, फ़ारसी, यूनानी, लैटिन, जर्मन और इँगलिश आदि संसार की प्रधान भाषाओं के विभिन्न रूप धारण कर लिये।

जिस समय नोसस उन्नति की चरम सीमा पर था उस समय उसकी उपर्युक्त अवस्था थी। वह बुद्धिमान्, साहसी, समृद्धिशाली और सुखी था। परन्तु ई० पू० १४४० के लगभग उस पर सहसा वज्रपात हुआ। मीनोस राजाओं के राजप्रासाद नष्ट हो गये और

आज तक न तो उन भग्नावशेषों की किसी ने मरम्मत की और न कोई वहाँ जाकर आबाद ही हुआ। हम यह नहीं जानते कि यह दुर्घटना कैसे हुई। खुदाई करनेवालों को यहाँ इतस्ततः बिखरे हुए पदार्थ मिलते हैं जो ऐसा मालूम पड़ता है कि लूटने के कारण बिखर गये। वहाँ अग्नि-दहन के चिह्न भी मिले हैं। किन्तु इनके साथ ही साथ यहाँ प्रलयकारी भयंकर भूकम्प के चिह्न भी दिखलाई पड़ते हैं। स्वयं प्रकृति ने ही नोसस को नष्ट कर दिया हो—या यह भी संभव है कि भूकम्प के आरम्भ किये हुए विध्वंस-कार्य की पूर्ति यूनानियों ने कर दी हो।

(१८)

मिस्र, बैबिलन और ऐसीरिया

मिस्र देशवासियों ने सेमिटिक जातीय गोपराजों की अधीनता कभी हृदय से स्वीकार न की थी और अन्त में, ई० पू० १६०० के लगभग, प्रबल देश-प्रेम के आन्दोलन ने विदेशियों को निकाल बाहर किया। तदुपरांत वहाँ एक ऐसे नवीन युग का प्रारम्भ हुआ जिसको आधुनिक मिस्र देशीय पुरातत्त्ववेत्ता 'नवीन साम्राज्य' के नाम से पुकारते हैं। पूर्वकथित हिक्सौस के आक्रमण से पहले मिस्र देश भली भाँति सुसंगठित न हुआ था किंतु अब उसमें एकता हो गई थी। अधीनता एवं विद्रोह के कारण जन-समाज में सैनिक भावों की पूर्ण जागृति भी हो गई थी। फैराओ अब आक्रमणशील विजेता हो गये। मिस्र में हिक्सोस ने घोड़े और रथ का प्रवेश किया था। अब मिस्रवाले उनका पूरा पूरा उपयोग करने लगे। थौथमीज़ तृतीय और ऐमिनोफ़िज़ तृतीय के शासन-काल में मिस्र की सीमा एशिया महाद्वीप में यूफ्रेटीज़ नदी तक जा पहुँची थी।

अब हम, किसी समय एक दूसरे से सर्वथा पृथक् रहनेवाली, मेसोपोटामिया और नील नदी की सभ्यताओं के आपस के सहस्रवर्षीय युद्ध-युग में प्रवेश करते हैं। इस द्वंद्व-युद्ध में पहले मिस्र देश की जीत रही। वहाँ के सत्रहवें वंश (जिसमें तृतीय थौथमीज़ और तृतीय एवं चतुर्थ एमिनोफिज़ तथा हतासु नामक महान् महाराज्ञी हुई) और उन्नीसवें वंश के द्वितीय रैमिसीज़—जिसको कुछ एक पुरुष हज़रत मूसा का समकालीन इतिहास-प्रसिद्ध फैराओ समझते हैं—के सरसठ वर्षीय लम्बे शासनकाल में मिस्र उन्नति और वैभव की चरम सीमा पर पहुँच गया था। परन्तु इन युगों के बीच में प्रथम तो सीरिया के असुरों और तत्पश्चात् दक्षिण की ओर इथोपिया के हबशियों-द्वारा जीते जाने के कारण इस देश को कई बार अवनति के गड्हे में गिरना पड़ा था। उधर मेसोपोटामिया पर, प्रथम तो बेबिलन-निवासियों का और तत्पश्चात्, कुछ काल के लिए, दमिश्क-निवासी सीरियन और हित्ति जाति का शासन स्थापित हो गया था। इन सीरियनों ने एक बार तो मिस्र को भी जीत लिया था। निन्नेव-निवासी असुरों का कभी उत्थान और कभी पतन होता था। कभी तो इनके नगर पर शत्रुओं का अधिकार हो जाता था, और कभी असुर लोग बैबिलन पर राज्य करते और मिस्र तक छापा मारते थे। स्थान के संकोच के कारण हम यहाँ मिस्र की सेनाओं तथा एशिया माइनर, सीरिया और मेसोपोटामिया के भिन्न भिन्न सेमिटिक लोगों की सेनाओं की गति का वर्णन नहीं कर सकते। इन सेनाओं में लड़ाई के असंख्य रथ रहते थे क्योंकि अब मध्य एशिया का घोड़ा इन प्राचीन सभ्यताओं में

फैल गया था। वह अभी तक केवल युद्ध में और वैभव दिखाने के लिए ही उपयोग में लाया जाता था।

निन्नेव को जीतनेवाले मित्तानी के राजा तुषरत्त और असीरिया के राजा तिगलैथ पाइलेसैर (प्रथम) के सदृश महान् विजेता, उस सुदूर कालीन मन्द प्रकाश में संसार के

आबू सिम्बल का मन्दिर
द्वार पर रैमसीज़ द्वितीय की मूर्तियाँ हैं।

रंग-मंच पर प्रकट होकर पुनः अन्तर्धान हो जाते हैं। फिर असुर जाति की सैन्य-शक्ति अपने समय में सबसे अधिक बलवान् हो जाती है। अन्त में तिगलैथ पाइलैसैर (तृतीय) ने ई० पू० ७४५ में बैबिलन को जीतकर उस साम्राज्य की नींव डाली जिसे आधुनिक इतिहासज्ञ नवीन असुर-साम्राज्य कहते हैं। सभ्य संसार में लोहे का व्यवहार भी अब उत्तर की ओर से आकर प्रारम्भ हो गया था। आरमीनियन जाति की पुरोगामी हित्ति जाति ने इस धातु का उपयोग सर्वप्रथम असुरों को बताया था और सरगोन

द्वितीय नामक एक राज्यापहारी असुर ने अपने सैन्यदल को इससे सुसज्जित किया था। ऐसीरिया ही प्रथम शक्ति थी जिसने ही 'लौह और रुधिर' के (अर्थात् ज़बर्दस्ती से दूसरों को जीतने के) सिद्धांत का संसार में प्रतिपादन किया था। सरगौन के पुत्र सैन्नाचैरिब ने अपनी सेना लेकर मिस्र देश पर आक्रमण किया। परन्तु उसको किसी सैन्य-शक्ति

स्फ़िंक्स का मार्ग
यह नील नदी से कर्नक के विशाल मंदिर तक गया है।

ने नहीं हराया। उसकी हार महामारी के कारण हुई। फिर सैन्नाचैरिब के पौत्र असुर वनिपाल ने (जो इतिहास में अपने यूनानी नाम सारडानापालस के नाम से अधिक प्रसिद्ध है) मिस्र को ई० पू० ६७० में जीत लिया। परन्तु उस समय मिस्र विजित देश था क्योंकि वहाँ उस समय हब्शी वंश का राज्य था। सारडानापालस ने वहाँ एक विजेता को हटा कर दूसरा विजेता स्थापित कर दिया।
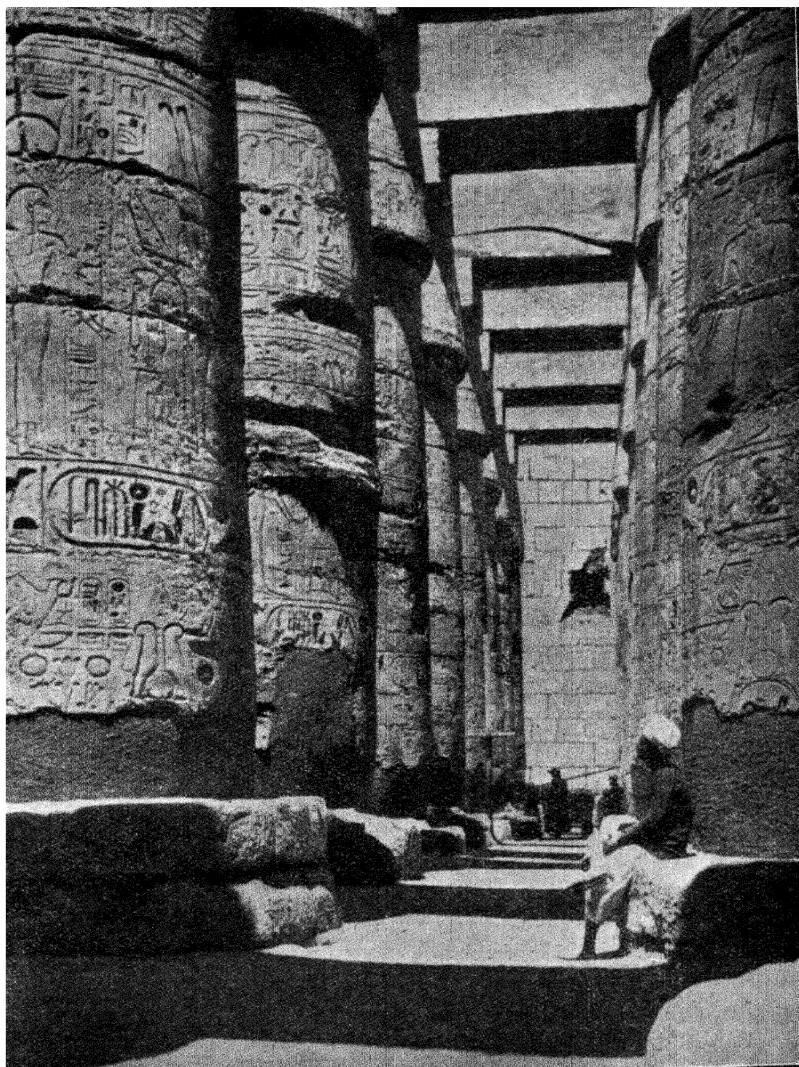
कार्नक का स्तंभोंवाला विशाल भवन

अणुवीक्षण यंत्र-द्वारा देखने पर 'अमीबा' नामक जन्तु-विशेष बारम्बार घटता और बढ़ता दृष्टिगोचर होता है; यदि हम इस बृहत्काल के इतिहास के—दस शताब्दियों के सुदीर्घ समय के—विविध राजनैतिक मानचित्र तैयार करावें तो मिस्र भी हमको ठीक उसी प्रकार घटता और बढ़ता दीख पड़ेगा। इस युग में हमको बैबिलन और ऐसीरिया, हित्ति और सीरिया के विविध सैमिटिक राज्यों का आवागमन, एक दूसरे का हड़पना और फिर उगल देना दीख पड़ेगा और एशिया माइनर से पश्चिम दिशा की ओर केदिया और लीडिया के (जिसकी राजधानी उस समय सार्डिस नामक नगर में थी) ईजियन जातीय राज्य भी दृष्टिगोचर होंगे। परन्तु ई० पू० १२०० के लगभग, और शायद इससे भी पहले से, प्राचीन संसार के उपर्युक्त मानचित्र में पूर्वोत्तर एवं पश्चिमोत्तर दिशा से नवीन प्रकार के नाम आने प्रारम्भ होने लगेंगे और ये नाम ऐसी बर्बर जातियों के होंगे जो लोहे के शस्त्रों का प्रयोग करती थीं और जिनके पास घोड़ों के रथ थे। इनके कारण अब ईजियन और सैमिटिक सभ्यताओं को उत्तरीय सीमा की ओर कष्ट भोगना पड़ रहा था। ये सब नवीन जातियाँ प्राचीन आर्य-भाषा की, भिन्न भिन्न रूपान्तरवाली, पृथक् पृथक् बोलियाँ बोलती थीं।

इस समय कैस्पियन और कृष्ण सागर के पूर्वोत्तर कोण से 'मीड' और पार्सीक जातियाँ घुस रही थीं; और सीथियन तथा सारमेनियन जाति-समूह भी घुस रहे थे। परन्तु अत्यन्त प्राचीन हो जाने के कारण इनके ये आवागमन स्पष्ट नहीं हैं। इनके अतिरिक्त आर्मीनियन जाति भी पूर्वोत्तर अथवा पश्चिमोत्तर कोण से आ रही थीं। और उत्तर पश्चिमीय समुद्र-सीमा पार करके बालकन प्रायद्वीप की राह इतिहास में यूनानी कहानेवाली सिमेरियन, फ्रिजियन और हैलेन नामक उपजातियाँ आ रही थीं। विविध आर्य उप-जातियाँ—पूर्व और पश्चिम के नगरों पर समान रूप से आक्रमण कर—डाकुओं की भाँति लूट-मार करती थीं। ये बलवान् गोपालक—जो लूट-मार करने लग गये थे—एक ही जाति के और एक ही प्रकार के लोग थे। पूर्व दिशा की ओर तो ये लोग अभी तक केवल सीमान्त प्रदेशों में धावा ही बोला करते थे; परन्तु पश्चिम में इन्होंने नगरों पर अधिकार जमा सभ्य ईजियन जन-समाज को खदेड़ना प्रारम्भ कर दिया था। अन्त में, तंग आकर ईजियन लोग आर्यों की पहुँच से बाहर अपने नवीन गृह बसाने लग गये। कुछ लोग नील नदी के 'डेल्टा' में बस गये थे किन्तु वहाँ से उन्हें मिस्रवाले हटा रहे थे। कुछ लोग, जैसे ईट्रस्कन, एशिया माइनर से चलकर समुद्र की राह मध्य इटैली के सघन बनों में जाकर निवास करने लगे; और बाज़ों ने भूमध्य सागर के दक्षिण-पूर्वीय तट पर जाकर नगर बसाये। ये पिछले लोग आगे चलकर इतिहास में 'फ़िलिस्तीन' कहलाये।

अतीतकालीन सभ्यताओं के रंग-मंच पर इस प्रकार से उद्दंडता-पूर्वक आ धमकनेवाली इन आर्य-जातियों का सविस्तर वर्णन हम अगले अध्याय में करेंगे। यहाँ पर तो हम ई० पू० १६०० से लेकर ६०० पर्य्यन्त उत्तरीय वनों और बीहड़ स्थानों से निकल, पुरातन सभ्यता के गढ़ में, धीरे धीरे धारावाही रूप से निरन्तर आनेवाली इन बर्बर जातियों-द्वारा उत्पादित, केवल उथल-पुथल का ही दिग्दर्शन कराना चाहते हैं।

और एक अगले अध्याय में हम फ़िनिशियन और फ़िलिस्तीन समुद्रतटों के पीछे की पहाड़ियों में रहनेवाली यहूदी नामक एक छोटी-सी सैमिटिक जाति का भी वर्णन करेंगे जो इस युग के अंतिम चरण में संसार में महत्त्व प्राप्त करती जा रही थी। इन्होंने एक ऐसा साहित्य उत्पन्न किया जो आगे के इतिहास में बहुत महत्त्वपूर्ण प्रमाणित हुआ। इनके साहित्य में इतिहास, काव्य, ज्ञान और भविष्यवाणी की पुस्तकें थीं जो सामूहिक रूप से यहूदी इंजील कहलाती हैं।

आर्य-जातियों के आगमन पर भी मिस्र और मेसोपोटामिया में ई० पू० ६०० के पश्चात् तक कोई परिवर्त्तन नहीं हुआ। यूनानियों के द्वारा 'ईजियन' जाति की पराजय और नोसस का पतन एवं विनाश भी मिस्र और मेसोपोटामिया-वासियों को बहुत दूर देश की हलचल मालूम हुई होगी। इन राज्यों में जिनमें सभ्यता का लालन-पालन हुआ था एक के

एक उभरा हुआ पत्थर का चित्र जिसमें मिस्र देश की दासियाँ बढ़िया भोजन ले जाते हुए दिखलाई गई हैं।

बाद दूसरे वंश आये और चले गये किंतु मानव-जीवनचर्या का क्रम जैसा का तैसा ही बना रहा। हाँ, ज्यों ज्यों दिन बीतते जाते थे त्यों त्यों उसमें विषमता बढ़ती जाती थी और वह अधिक परिष्कृत होती जाती थी। मिस्र में अधिक प्राचीन काल के संचित स्मारकों के पार्श्व में—अर्थात् पिरामिडों के पार्श्व में—जिनको बने हुए तब ३,००० वर्ष व्यतीत

हो चुके थे और जिनको जनता उस समय भी आजकल की भाँति देखती थी—अब और नवीन एवं भव्य इमारतें बनने लगी थीं; ये विशेषकर सत्रहवें और उन्नीसवें वंश के शासन-काल में बनी थीं। कारनक और लक्सर के भव्य मंदिर इसी समय बने थे। निनेवा के प्रधान स्मारक चिह्न,—विशाल मंदिर, मनुष्याकृति पक्षयुक्त बैल, राजाओं, रथों और सिंहों के आखेट के उभरे हुए चित्र,—सभी ई० पू० १,६०० से लेकर ६०० पर्य्यन्त निर्माण किये गये थे। बैबिलन की भी अधिकांश विभूति इसी युग की है।

हमको मेसोपोटामिया और मिस्र दोनों ही देशों के इस समय के राजलेख, लेन-देन के हिसाब, कथायें, कवितायें और निजी पत्र प्रचुर संख्या में मिलते हैं। इनसे हमें पता लगता है कि मिस्रदेशीय 'थीबिस' और बैबिलन जैसे नगरों में धनाढ्य एवं प्रभावशाली मनुष्यों का जीवन प्रायः आधुनिक सुखी एवं धनी लोगों ही के सदृश शिष्ट एवं विलासमय था। ये लोग अत्यन्त सुन्दर पदार्थों से सुसज्जित सुंदर गृहों में निवास कर, नियमपूर्वक, आडम्बर-सहित अपनी जीवन-यात्रा पूरी किया करते, रत्नादिक धारण करते और कामदार बहुमूल्य वस्त्र पहनते थे। इनके यहाँ भोज भी होते थे और उत्सव भी; और वाद्य एवं नृत्य के द्वारा ये एक दूसरे का मनोरंजन करते थे। निपुण दास इनकी सेवा में रहते थे; और सुयोग्य वैद्य तथा दाँत बनानेवाले इनका इलाज करते थे। उन दिनों लोग न तो बहुधा यात्रा ही करते थे और न बहुत दूर की ही यात्रा करते थे, परन्तु ग्रीष्मागमन पर नील एवं यूफ्रेटीज़ नदी में चित्तरंजनार्थ नौका-विहार करने की बहुत चाल थी। लदौनी के लिए गदहे व्यवहार किये जाते थे; घोड़े अभी तक केवल राजोत्सव और युद्ध के समय ही रथ खींचते थे। ख़च्चर एक अद्भुत पशु समझा जाता था और ऊँट केवल मेसोपोटामिया तक ही परिमित था; मिस्र में उसका आगमन नहीं हुआ था। तब, लोहे के बर्तन अत्यन्त ही थोड़े थे; व्यवहार में आनेवाली धातु अधिकतर काँसा और ताँबा ही थीं। वस्त्रों का बनाना तो लोग भली भाँति जानते थे परन्तु रेशम का तब तक उन्हें ज्ञान न था। सुन्दर रंग बिरंगे काँच का भी आविष्कार हो गया था परन्तु काँच की वस्तुएँ अधिकतर छोटी ही होती थीं। परिष्कृत साफ़ काँच तब तक न बना था। और न तब तक काँच का उपयोग चश्मा, दूरबीन आदि के लिए ही होने लगा था। लोग दाँतों के छेदों को भरने के लिए उनमें सुवर्ण तो भरते थे परन्तु उस समय चश्मा लगाने की चाल न थी।

पुराणकालीन थीबिस अथवा बैबिलन के और आज-कल के जीवन में एक विषम भेद था—सिक्केदार रुपयों का अभाव। उस समय अधिकांश व्यापार वस्तुओं के विनिमय-द्वारा ही किया जाता था; परन्तु आर्थिक मामलों में बैबिलन मिस्र देश से कहीं

अधिक आगे था। वहाँ विनिमय के लिए सोने और चाँदी का व्यवहार किया जाता था और इन धातुओं के टुकड़े या शलाकाएँ (पाँसे) बना ली जाती थीं। सिक्कों के चलन से पहले सर्राफ़ या कोठीवाल हुए जो इन बहुमूल्य धातुओं के खंडों या पाँसों पर अपना नाम और उन खंडों या पाँसों का वज़न अंकित कर देते थे। कोठीवाल उन पर तौल के साथ ही साथ अपना नाम भी अंकित कर देते थे। लोग आवश्यक वस्तुओं की ख़रीदारी के लिए अपने पास रत्नादिक रखते थे। अधिकांश नौकर और श्रमजीवी लोग उन दिनों क्रीतदास थे जिन्हें परिश्रम के बदले रुपया न देकर वस्तुएँ दी जाती थीं। फिर रुपये का चलन बढ़ने पर, दासता दिन पर दिन घटने लगी।

यदि कोई आधुनिक व्यक्ति प्राचीन संसार के इन शिरमौर नगरों में पहुँच जाता तो उसे वहाँ के भोज्य पदार्थों में मुर्ग़ी और अंडा इन दो अत्यन्त आवश्यक सामग्रियों का अभाव बहुत ही खलता। फ़रासीसी रसोइए को तो बैबिलन में तनिक भी आनन्द न आता। ये पदार्थ पश्चिमी देशों में पूर्व के देशों से अन्तिम ऐसीरियन साम्राज्य के समय में आये थे।

अन्य वस्तुओं की भाँति धर्म भी अत्यन्त परिष्कृत हो गया था। उदाहरणार्थ नरबलि देने की प्रथा कभी की लोप हो चुकी थी और उसके स्थान में पशु अथवा रोटी की बलि देकर यह कृत्य पूरा किया जाता था। (परन्तु फ़िनिशियन और विशेषकर उनके अफ़्रीका के सबसे बड़े उपनिवेश में रहनेवाले कार्थेजनिवासियों पर—पश्चात् काल में मनुष्य-बलि देने का आरोप लगाया जाता था।) अतीत काल में किसी महान् नेता का देहावसान होने पर उसकी समाधि पर न केवल भाले और धनुष तोड़ने की प्रथा थी, वरन् उसकी स्त्रियों तथा दास आदिक का भी इस विचार से वध कर दिया जाता था कि प्रेतलोक की यात्रा करते समय वह निरस्त्र एवं परिकरहीन न रहे। इस भयानक परंपरा की स्मृति के स्वरूप मिस्रदेश में मृतक के साथ उसके मकान, दूकान, भृत्य तथा पशुओं के छोटे छोटे नमूने क़ब्र में गाड़ने का सुन्दर रिवाज चल निकला जिनके कारण हम तीन हज़ार और इससे भी अधिक पूर्वकाल की इन प्राचीन जातियों के सुरक्षित और सभ्यतापूर्ण जीवन का सुन्दर और सर्वांगपूर्ण हाल जान सके हैं।

उत्तरीय वनों और मैदानों से आर्यों के आने के पूर्व प्राचीन संसार की दशा ऊपर लिखे अनुसार थी। भारत और चीन में साथ ही साथ उन्नति हो रही थी। इन दोनों भू-भागों की लम्बी चौड़ी घाटियों में गेंहुएँ रंग की जातियों के कृषिप्रधान नागरिक राज्य स्थापित होते जा रहे थे। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि भारत के नागरिक राज्यों ने मिस्र अथवा मेसोपोटामिया के नागरिक राज्यों के समान न तो उन्नति की और न उनका पारस्परिक मिश्रण ही हुआ। ये प्राचीन सुमेर अथवा अमेरिका की 'मय' सभ्यता के समकक्ष

थे। चीन के इतिहास में दंतकथायें इतनी अधिकता से भरी हुई हैं कि जब तक वहाँ के इतिहासवेत्ता उनकी काट-छाँट न करें तब तक उस देश का आधुनिक ढङ्ग का इतिहास तैयार नहीं किया जा सकता। कदाचित् चीन उस समय भारत से अधिक उन्नत था। यहाँ के शैंगवंशीय सम्राट् मिस्रदेशीय सत्रहवें वंश के समकालीन थे; और मांडलिक राजाओं के ढीले-ढीले साम्राज्य पर ये पुरोहित-राजे शासन करते थे। भिन्न भिन्न ऋतुओं में सामयिक
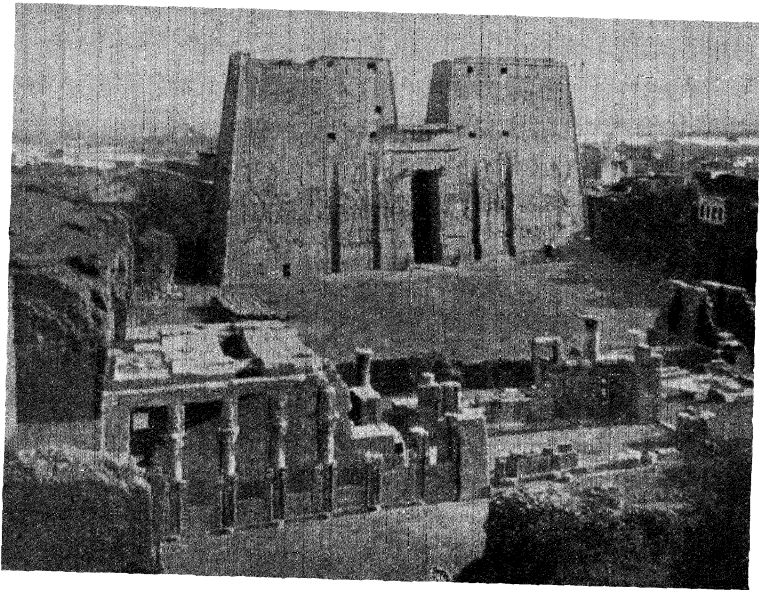
ऐद्फ़ू में होरस का मंदिर

बलिदान करना इन आरम्भिक सम्राटों का मुख्य कर्तव्य था। शैंगवंशीय के समय के बने हुए काँसे के सुन्दर बर्तन आज तक मिलते हैं, और उनके सौंदर्य और कारीगरी को देखकर हमें बरबस मानना पड़ता है कि जब तक किसी देश में कई शताब्दियों से सभ्यता न रही हो तब तक वहाँ उनका बनाना असंभव है।

(१९)

आदिम आर्य-जातियाँ

अब से चार सहस्र वर्ष पहले, अर्थात् ईसवी पूर्व दो हज़ार के लगभग, मध्य-एशिया तथा मध्य और दक्षिण-पूर्वीय यूरोप आज-कल की अपेक्षा शायद अधिक उष्ण, आर्द्र और वनाच्छादित थे। उस समय प्राय: पृथ्वी के इन भू-भागों में—कास्पियन समुद्र से लेकर राइन नदी-पर्यन्त—नीले नेत्रवाली, गौर वर्ण नार्ड-जातियों की टोलियाँ घूमा करती थीं। ये लोग एक मातृभाषा से निकली हुई, विभिन्न होते हुए भी, एक दूसरी से बहुत कुछ समानता रखनेवाली, बोलियाँ बोलते थे। उस सुदूर काल में शायद इन लोगों की संख्या अधिक न थी और बैबिलन-निवासियों को (जिन्हें हम्मुर-बी क़ानून सिखला रहा था) उनका आभास भी न था और न उन दिनों सर्वप्रथम विदेशी आक्रमण के कारण दु:ख उठानेवाले, प्राचीन एवं सभ्य मिस्रदेशीय समाज को ही इनके अस्तित्व का कुछ पता था।

इन नार्ड-जातियों के भाग्य में संसार के इतिहास-रूपी रंगमंच पर अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य करने लिखे हुए थे। ये जातियाँ वनों और जंगलों को साफ़ कर खेती किया करती थीं। इनके पास सर्वप्रथम ढोर ही थे, घोड़े नहीं थे। घूमते समय ये लोग अपने डेरों तथा अन्य सामग्री को बैलों के भद्दे छकड़ों में लाद देते थे। वे लोग किसी स्थान पर रहने का अवसर आ पड़ने पर, कभी कभी, मिट्टी और सरकण्डों के झोंपड़े भी बना लेते थे। कृष्ण-वर्ण जातियाँ मुर्दों को धूमधाम से धर्ती में दबाकर रखती थीं किंतु यह जाति अपने प्रधान पुरुषों के शव का दाह करती थी; फिर उनकी राख विशेष प्रकार के बर्तनों में रखकर धरती में गाड़ दी जाती थी और उनके ऊपर वर्तुलाकार टीले निर्माण कर दिये जाते थे। ऐसे गोल टीले, उत्तरीय यूरोप में सभी जगह मिलते हैं। परन्तु कृष्ण-वर्ण जातियाँ मृतकों का दाह न कर, बैठी हुई मुद्रा में, उन्हें धरती में दबाकर ऊपर से लम्बा ऊँचा टीला बना देती थीं।

आर्य लोग बैलों-द्वारा धरती जोत कर गेहूँ बोते थे, परन्तु वे अपने खेतों के पास आबाद नहीं होते थे। फ़सल काटकर आगे चल देते थे। काँसे का व्यवहार तो ये करते ही थे, पर ईसवी पू० १५०० के लगभग इनको लोहे का भी पता चल गया था और
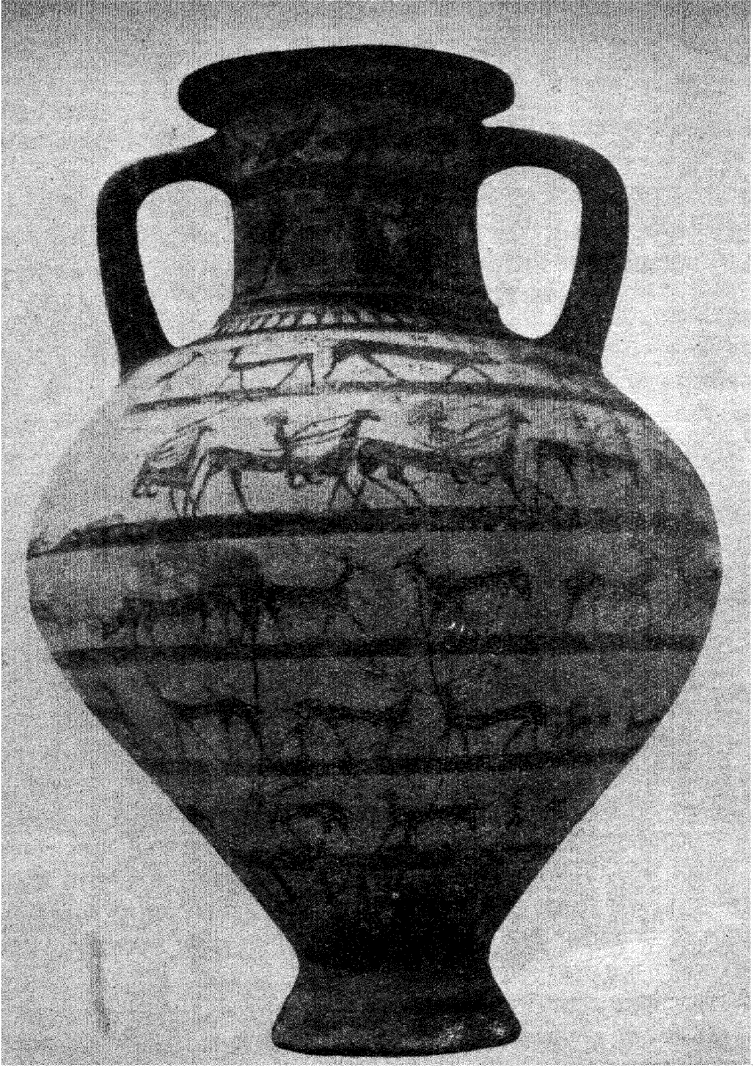
एक अत्यन्त प्राचीन सुन्दर सुरा-घट
उपर्युक्त घोड़ों और अन्य पशुओं की तुलना पीछे दिये हुए अल्टामीरा चित्र और आगे दी हुई यूनानी फ्रीज़ से कीजिए ।

इसे गलाकर साफ़ करने का तरीक़ा भी शायद इन्होंने ढूँढ़ निकाला था। हमारा अनुमान है कि घोड़े से काम लेना भी इन्होंने लगभग इसी समय सीखा और आरंभ में वह केवल रथादिक खींचने ही के काम में आता था। भूमध्य सागर के चारों ओर बसी हुई अन्य अधिक सुव्यवस्थित जातियों की भाँति, मन्दिर, आर्यों के सामाजिक जीवन के केन्द्र न थे। इनके प्रधान पुरुष पुरोहित न थे बल्कि जाति के नेता होते थे। उनके समाज में धार्मिक अथवा राजकीय विभाग न था बल्कि उनमें कुलीन वर्ग होते थे। अत्यन्त प्राचीन-काल से ही कुछ वर्ग-विशेष विशिष्ट एवं समाज के नेतृत्व के योग्य समझे जाते थे।

आर्य-जातियाँ अत्यन्त वाङ्मयी थीं। ये अपने भ्रमणशील जीवन को भोजों-द्वारा आनन्दमय बनाते थे। भोज के अवसर पर ख़ूब मदिरा-पान होता था; और विशिष्ट प्रकार के भाट या चारण उन्हें पढ़कर या गाकर गीत सुनाया करते थे। सभ्य होने के पूर्व, लेखन-कला से अनभिज्ञ होने के कारण, चारणों की स्मरण-शक्ति ही इनके जीते-जागते साहित्य थे। उत्सवादिक में श्रोताओं के मनोरंजनार्थ गीतों और कथाओं का प्रचार होने के कारण इनकी बोली कालान्तर में अत्यन्त मधुर हो गई और भावव्यंजना का साधन बन गई। आर्य-भाषा से निकलनेवाली भाषाओं के आधुनिक उत्कर्ष का वास्तविक रहस्य कुछ अंशों में यही है। विविध आर्य-जातियों के इतिहास और दन्तकथायें, इसी प्रकार, इन चारणों के गीतों-द्वारा विकसित होकर संसार में काव्य, पुराण, सागा एवं वेद आदि के नाम से प्रसिद्ध हो गईं।

इन जातियों का सामाजिक जीवन अपने नेताओं के गार्हस्थ्य जीवन में ही केन्द्रीभूत हो रहा था। वह मुख्य कमरा, जहाँ इनके प्रधान पुरुष अस्थायी रूप से निवास करते थे, लकड़ी का बनाया जाता था। उसके अतिरिक्त ढोरों के झोपड़े, तथा कृषि-कार्योपयोगी छोटी छोटी इमारतें भी अवश्य होती थीं। परन्तु आर्यों का जीवन-केन्द्र साधारणतया वही दालान—या मुख्य कमरा—होता था जहाँ वे भोजों में सम्मिलित हो, चारणों का गायन सुना करते थे और खेलों तथा वादविवादों में भाग लेते थे। इसके चारों ओर गोशाला और अश्वशाला होती थीं। प्रधान एवं अन्य विशिष्ट पुरुष सपत्नीक, अलिन्द अथवा मञ्च पर सोते थे और अन्य साधारण पुरुष जहाँ-तहाँ जा सोते थे। भारत में यही प्रथा अब तक है। शस्त्र, आभूषण, औज़ार तथा अन्य निजी वस्तुओं के अतिरिक्त, अन्य सब पदार्थ वर्ग में सबके साझे के समझे जाते थे। उनमें एक प्रकार का कुलपति-प्रधान वर्ग-तंत्रवाद (Communism) था। ढोर तथा चरागाह सब जाति के हित के लिए थे और उन पर जाति के प्रधान पुरुष का स्वत्व माना जाता था। नदियाँ तथा वन इस समय तक किसी की मिलकियत न थे।

मैसोपोटामिया और नील नदी की महान् सभ्यताओं के उन्नति-काल में मध्य-एशिया के पश्चिमीय भागों तथा मध्य यूरोप के लोगों की रहन-सहन इसी प्रकार की थी। ये लोग जन-संख्या में बढ़ते जा रहे थे। ये लोग ईसा मसीह के जन्म से एक और दो सहस्र वर्ष के बीच के युग में संसार की सौर पाषाणी जातियों को सर्वत्र दबा रहे थे। ये लोग फ्रांस, ब्रिटेन और स्पेन में आ रहे थे। पश्चिम की ओर इनकी बाढ़ दो तरंगों-द्वारा पहुँची थी। ब्रिटेन और आयर्लैंड में पहले जो लोग पहुँचे वे काँसे के शस्त्र व्यवहार करते थे। इन्होंने उन जातियों का या तो विनाश ही कर डाला या उनको अपने अधीन कर लिया जिन्होंने कार्नेक (ब्रिटनी) और स्टोन हैञ्ज तथा ऐवबरी (इँग्लेंड) के विशाल पत्थर के स्मारक बनवाये थे। आयर्लैंड तक पहुँचनेवाली यह उपजाति गौएडैलिक—कैल्ट्स के नाम से विख्यात है। ब्रिटेन में इनसे निकटवर्ती जाति की एक तरंग आई जिनमें शायद दूसरी जातियों का रक्त भी मिला था। इन्होंने वहाँ लोहे का व्यवहार प्रचलित किया। यह जाति ब्रिथॉनिक कैल्ट्स के नाम से प्रसिद्ध है। वेल्स-निवासियों की भाषा का उद्गम इन्हीं से है।

इनके सजातीय कैल्टिक दक्षिण की ओर स्पेन में अग्रसर हो रहे थे। ये लोग सौर पाषाणी वास्क लोगों के तथा पूर्वीय समुद्रतट पर बसे हुए सैमिटिक फिनीशियनों के उपनिवेशों के सम्पर्क में आ रहे थे। इसी समय इटेलियन नामक इनके अन्य बन्धु-बान्धव, इटैली प्रायद्वीप के घने जंगलों में अग्रसर हो रहे थे। उन्हें सदैव ही विजय प्राप्त न होती थी। इतिहास में सर्वप्रथम ईसवी पूर्व आठवीं शताब्दी में टाइबर नदी के किनारे बसा हुआ रोम, व्यापारिक नगर के रूप में, प्रकट होता है जहाँ लैटिनीय आर्यों की बस्ती थी और उस समय नगर का शासन इट्रस्कन जाति के सर्दारों तथा राजाओं के हाथ में था।

दूसरे छोर पर भी अन्य आर्य-जातियाँ इसी प्रकार से दक्षिण की ओर अग्रसर हो रही थीं। वहाँ, ईसवी पूर्व एक हज़ार से बहुत पहले ही, संस्कृत-भाषा-भाषी जातियाँ पश्चिमीय दर्रों की राह से उत्तरीय भारत में जा पहुँची थीं। वहाँ वे आद्य कृष्ण-वर्ण द्राविड़ी सभ्यता के सम्पर्क में आईं और उनसे उन्होंने बहुत-कुछ शिक्षा भी ग्रहण कर ली थी। उनके अतिरिक्त, अन्य आर्य-जातियाँ अपनी जाति की वर्तमान पहुँच से बहुत दूर मध्य-एशिया की पर्वत-मालाओं पर फैल गईं। पूर्वी तुर्किस्तान में नीले नेत्रवाली गौर वर्ण जातियाँ अब भी पाई जाती हैं। परन्तु अब वे मंगोल-भाषा बोलती हैं।

कैस्पियन और काले सागर के मध्य की हित्ति जाति तो ई० पूर्व हज़ार के प्रथम ही आर्मीनियम लोगों में घुल-मिलकर आर्य बन चुकी थी। और ऐसीरिया तथा बैबीलान-निवासियों को भी पूर्वोत्तर कोण से आनेवाले इन नवीन एवं बलिष्ठ बर्बर योद्धाओं की सूचना मिल चुकी थी। इन आक्रमणकारी क़बीलों में सिथियन, मेद और पार्सीक उपजातियों के नाम मुख्य हैं।

नीपर के टीले
हाल की खुदाइयों से यह सिद्ध हुआ है कि इस स्थान पर एक नगर ई० पू० ६०००-५००० वर्ष के लगभग आबाद था।

परन्तु प्राचीन संसार की सभ्यता पर बाल्कन प्रायद्वीप की राह से आर्य-जातियों का अत्यन्त प्रबल आघात हुआ था। ई० पू० १००० से सदियों पहले ही, ये जातियाँ दक्षिण की ओर अग्रसर होकर एशिया माइनर में प्रवेश कर रही थीं। फ़िजियन आदिक प्रमुख जाति-समूह यहाँ सर्वप्रथम आये। उसके बाद क्रमानुसार ईओलिक, आयोनिक और डोरियन नामक यूनानियों का आगमन हुआ। ई० पू० १००० तक यूनान और उसके

आस-पास के द्वीपों से उन्होंने प्राचीन ईजियन सभ्यता का नामोनिशान भी उड़ा दिया था। माइसीनी और तिरयिन नगर नष्ट हो गये थे और नोसस की स्मृति भी लुप्तप्राय हो गई थी। ई० पू० के पहले से ही यूनानी लोग समुद्र-यात्रा करने लगे थे। वे क्रीट तथा रोड्स द्वीपों में जा बसे थे। भूमध्य सागर के तट पर प्राचीन फिनिशियन जातियों-द्वारा स्थापित नगरों की तरह इन्होंने सिसली और दक्षिण इटली में उपनिवेशों की स्थापना प्रारंभ कर दी थी।

इस प्रकार जिस समय ऐसीरिया के शासक तृतीय तिगलैथ पाइलैसैर, द्वितीय सारगौन और सारडानपालस बैबिलन, सीरिया और मिस्र से युद्ध कर रहे थे, उस समय सभ्यता का पाठ पढ़कर आर्य-जातियाँ इटली, ग्रीस और उत्तरीय फ़ारिस में अपने कार्य के लिए उसका प्रस्तार कर रही थीं। ईसवी पूर्व नवीं शताब्दी से लेकर अगली छः शताब्दी पर्यन्त के इतिहास का मुख्य विषय यही है कि किस प्रकार इन आर्य-जातियों ने अपने बल, साहस और शक्ति से सैमिटिक, ईजियन और मिस्रदेशीय पुराणकालीन सभ्यताओं को दबा दिया। युद्ध में तो आर्यजातियाँ सर्वत्र ही विजयी हुईं, पर उनके हाथ में राजदण्ड आ जाने पर भी, उनका और सैमिटिक तथा मिस्र-जातियों के विचारों एवं कार्य-प्रणाली का पारस्परिक संघर्ष अनेक वर्षों तक चलता रहा। वास्तव में यह संघर्ष शेष इतिहास में बराबर चलता आया है और एक प्रकार से यह संघर्ष आज भी चला ही जा रहा है।

(२०)

अंतिम बैबिलन-साम्राज्य
और
प्रथम दारा अर्थात् दारयवहुष (डेरियस) का साम्राज्य

यह हम अभी बता चुके हैं कि सम्राट् तिगैलथ-पाइलैसेर तृतीय और सारगौन द्वितीय के शासन-काल में ऐसीरिया की सैनिक शक्ति कितनी प्रबल हो गई थी। इस राजा का वास्तविक नाम 'सारगौन' न था; यह उपनाम तो उसने विजित बैबिलन-निवासियों को प्राचीन अक्कादिया-साम्राज्य के दो सहस्र वर्ष पुराने संस्थापक 'सारगोन प्रथम' की स्मृति ताज़ी कराकर उन्हें प्रसन्न करने के लिए ही धारण किया था। परन्तु इस प्रकार विजित होने पर भी बैबिलन नगर जन-संख्या और महत्त्व के विचार से निनेव से कहीं अधिक उच्चश्रेणी का था; और नगर के प्रधान देवता—बेल मरदक—तथा व्यापारियों और पुरोहितों के साथ शासक वर्ग को शिष्टतापूर्वक नम्र व्यवहार ही करना पड़ता था। ई० पू० ८ वीं शताब्दी का इराक़ (मैसोपोटामिया) उस असभ्य दशा से कहीं आगे बढ़ गया था जब नगर को जीतते ही लूट-मार प्रारम्भ कर दी जाती थी। इसके विपरीत, यहाँ पर तो स्वयं विजेतागण विजितों को प्रसन्न रखने का प्रयत्न करते थे। ऐसीरिया का यह नवीन साम्राज्य सारगौन की मृत्यु के बाद डेढ़ सौ वर्ष तक और चलता रहा; और, जैसा कि हम अभी कह चुके हैं, असुर बनिपाल का राज्य मिस्र देश के निम्न भागों तक अवश्य पहुँच गया था।

परन्तु ऐसीरिया के इस ऐक्य और शक्ति का अत्यन्त ही शीघ्रतापूर्वक अंत हो गया। फ़ैराओ सामेटिकस 'प्रथम' के नेतृत्व में मिस्रवासियों ने इन विदेशियों को निकाल दिया और निको 'द्वितीय' के राज्यकाल में मिस्र देश ने सीरिया को युद्ध-द्वारा जीतने के प्रयत्न प्रारम्भ कर दिये। अधिक निकटवर्त्ती शत्रुओं से भिड़ने के कारण ऐसीरिया भी उस समय डटकर उनका सामना न कर सका। और फिर, मैसोपोटामिया के दक्षिण-पूर्वीय कोण से आनेवाले 'कैल्डियन' नामक अरबों ने उत्तर-पूर्व की मेद तथा पार्सीक आर्य-जातियों

की सहायता से ई० पू० ६०६ में (अब हमें तिथियों का ठीक ठीक ज्ञान हो गया है) निन्नेव नगर पर आक्रमण करके उसे जीत लिया।

इस प्रकार हार खाते ही ऐसीरिया के टुकड़े टुकड़े हो गये। उत्तर की ओर तो सायाज़ेरस की अधीनता में पूर्व में भारत की सीमा तक पहुँचनेवाला मेद-साम्राज्य स्थापित हो गया था; इसकी राजधानी 'एकवताना' नामक नगर में थी। निन्नेव का प्राचीन नगर भी अब इसी साम्राज्य के भीतर था। इसके दक्षिण में अर्धचन्द्राकार, नवीन कैल्डियन साम्राज्य था जो द्वितीय बैबिलन साम्राज्य के नाम से प्रसिद्ध है। महान् नैबुकैडनैज़र—बाइबिल में वर्णित नैबुकैडनैज़र—के शासन-काल में यह साम्राज्य अत्यन्त वैभवशाली हो गया था। बैबिलन का अंतिम महान् युग—सबसे महान् युग—इसी समय प्रारंभ हुआ। कुछ समय तक तो इन दोनों साम्राज्यों में ख़ूब ही मेल-जोल रहा; यहाँ तक कि नैबुकैडनैज़र की कन्या का विवाह भी सायाज़ेरस से हो गया।

इसी बीच में सीरिया में सम्राट् निको द्वितीय सुगमतापूर्वक विजय करता रहा। ई० पू० ६०८ में उसने मैगिडो के युद्ध में जूडा के (जिसका सुविस्तृत वर्णन आगे

मीडिया और द्वितीय (चाल्डिया) के साम्राज्यों का सम्बन्ध दिखलानेवाला नक़शा महान् नेबूचदनेज़ार के शासन-काल में।

अपने पूर्ण विस्तार में डेरियस का सम्राज्य (कर देनेवाले देश)
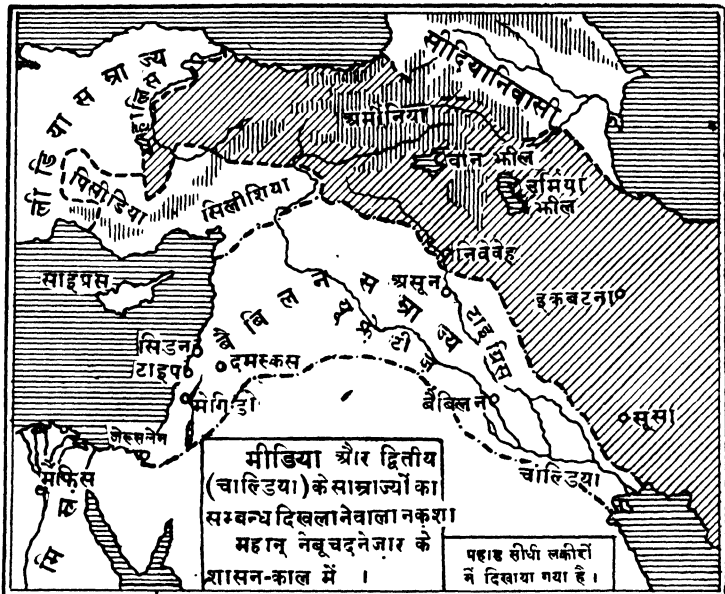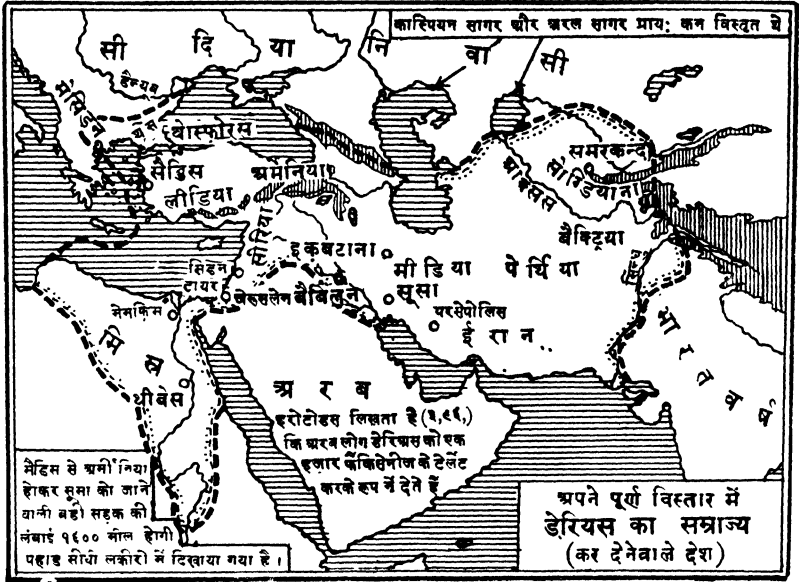
चलकर किया जायगा) राजा जोशाया को युद्ध में हरा कर मार डाला। इस विजय के बाद वह यूफ्रेटीज़ नदी की ओर विजय-लालसा से बढ़ा किन्तु वहाँ उसे क्षीणप्राय ऐसीरिया के स्थान में पुनरभ्युदयशील प्रबल बैबिलन का सामना करना पड़ा। यहाँ कैल्डियन लोगों ने मिस्रवालों के दाँत ऐसे खट्टे किये कि सम्राट् निको के पैर उखड़ गये और उसको मिस्र की ओर लौटते ही बन पड़ा। इस प्रकार बैबिलन की सीमा अब, बढ़कर, मिस्रदेश की सीमा तक जा पहुँची।

द्वितीय बैबिलन-साम्राज्य, ई० पू० ६०६ से लेकर ५३९ पर्यंत, अनिश्चित रूप से फलता-फूलता रहा। अर्थात् जब तक इसका अधिक बलशाली उत्तरीय पड़ोसी, मेद-साम्राज्य, से मेल रहा तब तक वह जीवित रहा। सरसठ वर्ष के इस क्षुद्र काल में बैबिलन के प्राचीन नगर में केवल जीवन ही शांति और सुखमय न था किन्तु वहाँ विद्या की भी उन्नति हो रही थी।

ऐसीरिया के सम्राटों और उनमें भी विशेषतया साडन पालस के शासन-काल में बैबिलन में विद्या की बहुत चर्चा थी। असुर होते हुए भी यह सम्राट् पूरा—सोलह आना—बैबिलन का नागरिक होकर उसके रंग में रँग गया था। इसी के राज्यकाल में यहाँ एक पुस्तकालय स्थापित हुआ था जिसमें काग़ज़ पर लिखी हुई पुस्तकों के स्थान में—सुमेरियन जाति के समय से इराक़ में व्यवहार की जाने-वाली—मिट्टी की तख़्तियाँ रक्खी रहती थीं। यह एकत्रित मसाला अब खोदकर निकाल लिया गया है और ऐतिहासिक दृष्टि से संसार में सर्वोत्कृष्ट एवं अमूल्य समझा जाता है। कैल्डियन वंशज बैबिलन के अंतिम सम्राट् नवोनिदस का साहित्यिक प्रेम इससे भी कहीं अधिक बढ़ा-चढ़ा था। यह पुरातत्त्व का अनुसन्धान कराया करता था। अन्वेषकों ने जब सारगौन प्रथम की राज्यारोहण-तिथि खोज करके ठीक ठीक निश्चित कर ली, तो इस सम्राट् ने इस घटना की पुण्यस्मृति में लेख खुदवाकर एक स्मारक स्थापित किया। परन्तु उसके साम्राज्य में फूट के चिह्न दिखलाई पड़ने लगे थे। अपने साम्राज्य पर एक स्थान से दृढ़ शासन करने की इच्छा से उसने भिन्न भिन्न स्थानों के स्थानीय देवताओं की मूर्तियों को बैबिलन में मँगाकर वहाँ उनके मंदिर बनवा दिये। पश्चात् काल में रोमन-जाति ने भी इसी उपाय का सफलतापूर्वक अवलंबन किया था; परन्तु बैबिलन-निवासियों के प्रमुख आराध्य देव बेल मरदक के प्रबल पुरोहित-वर्ग में इसके कारण घोर ईर्ष्या उत्पन्न हो गई और वह नवोनिदस को पदच्युत करने और उसका उपयुक्त स्थानापन्न प्राप्त करने का प्रयत्न करने लगे। उन्होंने निकटवर्ती मेद-साम्राज्य के पार्सीक शासक साइरस को इसके उपयुक्त समझा। इस साहसी शासक ने पूर्वीय एशिया माइनर के अन्तर्गत लीडिया नामक स्थान के ऐश्वर्यशाली क्रीसस नामक राजा को हराकर खूब प्रसिद्धि प्राप्त कर ली थी। इस राजा ने बैबिलन पर
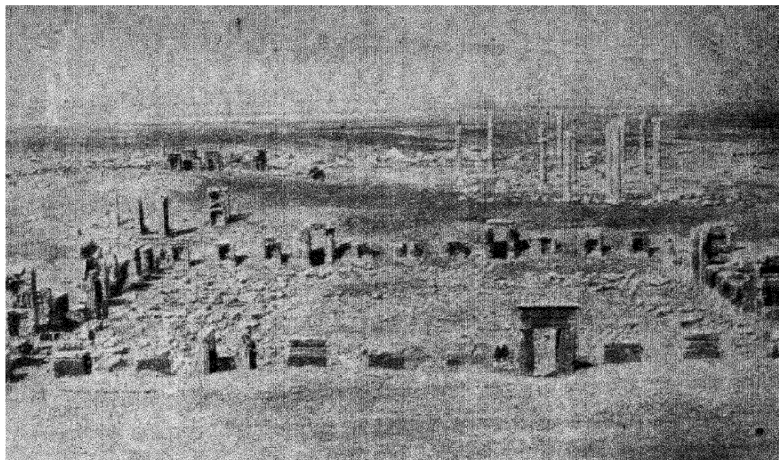
पार्सीक सम्राट्

पार्सिपोलिस के खँडहर

पार्सीक-साम्राज्य की राजधानी। इसे सिकन्दर ने जलाकर नष्ट कर दिया था।
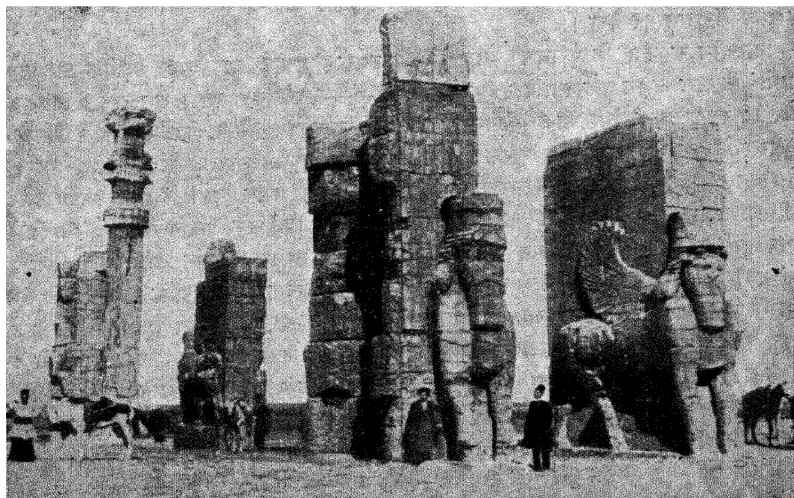
पार्सिपोलिस में ज़रज़ीस का विशाल द्वार।

आक्रमण किया। नगर-प्राचीर के बाहर युद्ध हो रहा था किन्तु नगर-द्वार शत्रुओं के लिए खोल दिये गये (ई० पू० ५३८) और उसके सैनिक, बिना लड़े-भिड़े ही, नगर में घुस आये। बाइबिल में लिखा है कि सम्राट् नवोनिदस का पुत्र, युवराज वैलशजर, भोज में रँगरलियाँ कर रहा था कि किसी अज्ञात हाथ ने, 'मैंने मैंने तिकैल अपहरसिन' रहस्यमय वाक्य अग्नि के समान प्रज्वलित अक्षरों में सामने की दीवार पर अंकित कर दिया। इस पहेली के समान वाक्य का अर्थ पैग़म्बर डैनियल ने इस प्रकार बतलाया—"परमेश्वर ने तेरे शासन का अन्त कर दिया। तेरे रा य के दिन पूरे हो गये; जाँचने पर तुझमें कमी पाई गई और तेरा राज्य मेद और पार्सीकों को दे दिया गया"। दीवार पर लिखे हुए इस वाक्य का ज्ञान बेल-मरदक के पुरोहितों को भी होगा। बाइबिल के अनुसार वैलशजर का उस रात्रि को वध कर दिया गया। नवोनिदस बन्दीगृह में डाल दिया गया और नगर पर इस प्रकार शान्तिपूर्वक शत्रुओं का अधिकार हो गया कि बैल-मरदक की सेवा में तनिक-सी बाधा भी न पड़ सकी।

बैबिलन और मेद-साम्राज्य का इस प्रकार संपूर्णतया एकीकरण हो जाने के पश्चात्, साइरस के पुत्र कैम्बिसस ने मिस्र को भी अपने अधीन कर लिया। परन्तु बाद में वह पागल हो गया और एक दुर्घटना से अकस्मात् मर गया। उसके स्थान पर साइरस का प्रधान सलाहकार, मेद-जातीय हैस्तास्पैस का पुत्र, देरियस प्रथम (दारयवहुष) के नाम से राज-सिंहासन पर बैठा।

प्राचीन सभ्यता के पुरातन गढ़ में डेरियस प्रथम का यह पार्सीक-साम्राज्य—आर्यों के उस समय तक स्थापित हुए साम्राज्यों में—सबसे बड़ा था। समूचा एशिया माइनर और सीरिया, असीरिया और बैबिलन के प्राचीन साम्राज्य, मिस्र, काकेशस और कास्पियन के पास के प्रदेश, मीदिया, फ़ारस और सिंधु नदी पर्य्यंत भारत, यह सब भू-भाग इसके साम्राज्य के अंतर्गत थे। राजपथ और घोड़ों, घुड़सवारों और रथों के आविर्भाव हो जाने पर ही इतने बड़े साम्राज्य की सृष्टि हो सकी थी। इसके पहले तो बैल, गदहे और रेगिस्तानी ऊँट ही आवागमन के लिए अत्युत्तम साधन समझे जाते थे। इस बृहत् एवं नवीन साम्राज्य के अस्तित्व को बनाये रखने के लिए इन पार्सीक शासकों ने समस्त देश में जाल की तरह विशद राजपथ बनाकर फैला दिये थे। राजकीय दूत अथवा राजाज्ञा लेकर कोई राहगीर सरकारी डॉक-चौकी के घोड़ों पर सवार होकर एक स्थान से दूसरे स्थान तक शीघ्रतापूर्वक यात्रा कर सकता था। इसके अतिरिक्त, ढले हुए सिक्कों का प्रचार हो जाने के कारण अब व्यापार और पारस्परिक समागम में भी अधिक सुगमता होने लगी थी।

परन्तु साम्राज्य की राजधानी अब बैबिलन नगर में न थी। यदि विशद दृष्टि से देखा जाय तो कहना पड़ेगा कि बेल-मरदक के पुरोहितों को भी अपने षड्यंत्र से अंत में कुछ लाभ न हुआ। यह ठीक है कि बैबिलन अब भी महत्त्वपूर्ण नगर समझा जाता था, परन्तु उसका दिन पर दिन ह्रास हो रहा था। बाल-चन्द्र के समान बढ़नेवाले नगरों में परसिपोलिस, सूसा और एकवैताना थे। इनमें राजधानी थी सूसा। निन्नेव—प्राचीन निन्नेव—उजड़ कर अब बर्बाद होने लगा था।

(२१)

यहूदियों का प्राचीन इतिहास

अपने समय में अधिक महत्त्व न रखते हुए भी, पश्चात्कालीन संसार को खूब ही प्रभावान्वित करनेवाली, सैमिटिक-जाति की हैब्रू (यहूदी) शाखा का अब हम यहाँ वर्णन करते हैं। यह जाति ई० पू० १००० से बहुत पहले जूडिया में बस गई थी और इसके बाद इस शाखा की राजधानी जेरुसलम में थी। दक्षिणीय मिस्र और उत्तरीय पड़ोसी सीरिया, तथा परिवर्तनशील ऐसीरिया एवं बैबिलन के साम्राज्यों के इतिहासों से इस जाति के इतिहास का घनिष्ठ सम्बन्ध है। उपरोक्त देशों से मिस्र में जाने के लिए इन्हीं लोगों के देश से होकर रास्ता जाता था।

हिब्रू बाइबिल ही इनका लिखित साहित्य है जिसमें इनका इतिहास, धर्मशास्त्र, दर्शन, काव्य, कथानक आदि सभी प्रकार का साहित्य सन्निहित है। क्रिश्चियन संसार हिब्रू बाइबिल को ओल्ड-टैस्टेमेंट (क़दीमी इंजील) के नाम से पुकारता है। इसी संग्रह के कारण संसार में इनका ऐसा महत्त्व है। ई० पू० चौथी अथवा पाँचवीं शताब्दियों में यह साहित्य इतिहास में प्रकट होता है।

सर्वप्रथम यह साहित्य शायद बैबिलन ही में संग्रह किया गया था। हम अभी यह बता चुके हैं कि जिस समय ऐसीरिया अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए मेद, पार्सीकों और कैल्डियनों से लड़ रहा था उस समय फराओ निको द्वितीय ने ऐसीरिया पर किस प्रकार आक्रमण किया था। जूडिया के मांडलिक राजा जोशाया ने मैगिडो (ई०पू० ६०८) के युद्ध में मिस्र का सामना किया और वह परास्त होकर मारा गया। अब जुडिया मिस्र का करद राज्य हो गया। फिर जब बैबिलन-सम्राट् नवीन कैल्डियन वंशीय, महान् नैबुकैडनैज़र ने मिस्रदेशीय निको को युद्ध में हराकर मिस्र में भगा दिया तब उसने जुडिया में अपने मनोनीत राजाओं को जूडिया की गद्दी पर बैठा कर वहाँ के शासन पर अपना पूर्ण आधिपत्य जमाने का उद्योग किया। उसका यह प्रयोग असफल रहा, और जूडियावासियों ने बैबिलन-निवासी अधिकारिवर्गों को मार डाला। इस पर सम्राट् ने इस प्रान्त को (जो बहुत दिनों से मिस्र को उत्तरी साम्राज्य से लड़वा रहा था) नष्ट-भ्रष्ट करने का दृढ़ विचार कर, जेरुसलम में जन-संहार कराकर आग लगवा दी; और उसने शेष बचे-खुचे लोगों को बन्दी बनाकर बैबिलन पकड़ मँगाया।

ये (यहूदी) लोग साइरस के बैबिलन पर अधिकार होने तक (ई० पू० ५३८) वहीं रहे। उसने इनको इकट्ठा कर, अपने देश को फिर से बसाने और जेरुसलम नगर के मंदिर और दीवारों का पुनः निर्माण करने के लिए वापस भेज दिया।

यहूदी-समाज, इससे पहले, अधिक सभ्य अथवा ऐक्य सूत्र में ग्रथित न था और शायद लिखने-पढ़नेवालों की संख्या भी उसमें बहुत ही थोड़ी थी। स्वयं उन्हीं के इतिहास में इस बात का कहीं ज़िक्र भी नहीं है कि उस समय बाइबिल की आरंभिक पुस्तकें पढ़ी जाती थीं। जोशाया के समय में पुस्तक का सर्वप्रथम उल्लेख पाया जाता है। बैबिलन में बन्दी होने पर इन लोगों में सभ्यता आई और ऐक्य की वृद्धि हुई थी। वहाँ से जब वे लौटे तो वे अपने साहित्य से परिचित हो गये थे और जातीयता के भावों की प्रबलता के कारण वे राजनैतिक जाति बन गये थे।

इस समय, इनकी बाइबिल का विस्तार केवल पैन्टाटियक तक ही था। इसका अर्थ यह होता है कि हमारे परिचित क़दीमी इंजील की केवल पाँच ही पुस्तकें उस समय तक बनी थीं। पुरावृत्त, धर्मगीत और सूक्तियाँ उस समय पृथक् पुस्तकों के रूप में थीं; और ये सब पीछे जाकर उपरोक्त पाँच पुस्तकों में सम्मिलित होकर हैब्रू बाइबिल के अंग बने।

बाइबिल के प्रारम्भ में दिये हुए सृष्टिक्रम तथा आदम-हौव्वा और जल-प्रलय के वृत्तान्त बैबिलन में प्रचलित गाथाओं ही के समान हैं। मूसा तथा सैमसन की कथायें भी सुमेरिया और बैबिलन के आख्यानों से प्रायः मिलती-जुलती हैं। इनको देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि ये कथायें समस्त सैमिटिक जातियों में समान रूप से प्रचलित थीं। परन्तु इब्राहीम और उनके आगे की कथाओं के साथ यहूदी-जाति का विशेष साहित्य आरंभ होता है।

संभव है कि जिस समय बैबिलन में हम्मूरवी शासन कर रहा था उस समय इब्राहीम का जन्म हुआ हो। वह सैमिटिक जाति का एक भ्रमणशील कुलपति था। इसका भ्रमण-वृत्तान्त, इसके पुत्र-पौत्रों की कथा, और मिस्रदेश में उनके बन्दी होने की कहानी जानने के लिए पाठकों को जैनिसिस नामक बाइबिल का अंग पढ़ना चाहिए। बाइबिल में लिखा हुआ है कि कैना प्रदेश की यात्रा करते समय इब्राहीम के ईश्वर ने समृद्धिशाली नगरों से पूर्ण उस फलते फूलते देश को इनको और इनकी संतान को बख़्श देने की प्रतिज्ञा की थी।

फिर बहुत कालपर्यंत मिस्र में निवास करने और (हज़रत) मूसा के नेतृत्व में पचास वर्ष तक बीहड़ जङ्गलों में भटकने के उपरान्त इब्राहीम की संतति ने अरब के मरुस्थल से कैना पर आक्रमण किया। इस समय इब्राहीम की संतति ने जन-संख्या में

यहूदियों का देश
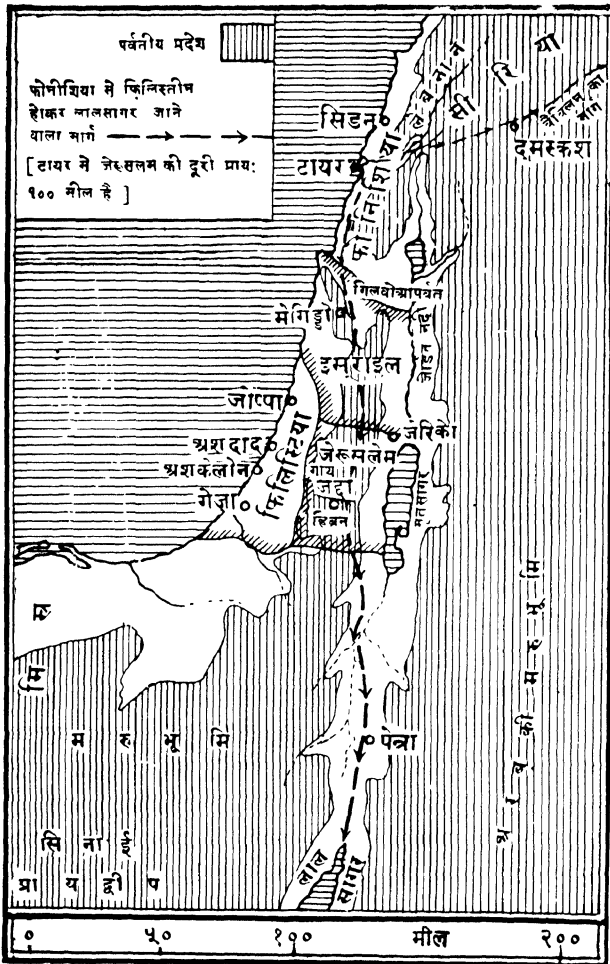
वृद्धि कर ली थी और वे लोग बारह क़बीलों में विभक्त हो गये थे। यह घटना बहुत करके ई० पू० १६०० से लेकर १३०० पर्य्यंत घटित हुई थी; परन्तु हमारे इस कथन की पुष्टि में मिस्र देश का अथवा कैना देश-सम्बन्धी एक भी लेख, अब तक उपलब्ध नहीं हुआ है । पर ये लोग इस पूर्व-प्रतिश्रु देश के सीमान्त की पर्वत-मालाओं के अतिरिक्त अन्य भागों पर अधिकार न कर सके। यहाँ का समुद्र-तट कैना-देशवासियों के अधिकार में न होकर, नवागंतुक ईजियन जातीय फिलिस्तीनों के क़ब्ज़े में था और उनके गेज़ा, गाथा, अशदाद, असकलौन और जापा आदि नगरों ने यहूदियों के आक्रमणों को सफलतापूर्वक रोका। कई पीढ़ियों तक इब्राहीम की संतान

पर्वतमालाओं में निवास करती हुई महत्त्वहीन दशा में रही। ये लोग इब्राहीम, फ़िलस्तीन और उनके बन्धु-बान्धव, मोआबी तथा मिदियन आदि जाति-समूह से बराबर लड़ते झगड़ते रहे। बाइबिल के अन्तर्गत Book of Judges के अध्ययन से पाठक उनके इन युद्धों और विपत्तियों का हाल जान सकते हैं। और सच पूछिए तो उसमें इनकी असफलताओं और आपत्तियों का हाल ख़ूब ही खोलकर लिख दिया गया है।

बैबिलन का टीला
इसके नीचे नैबुकैडनैज़र के महान् प्रासाद का भग्नावशेष है।

जहाँ तक शासन का सम्बन्ध है वहाँ तक, हैब्रू जाति में उस समय कुनबे तथा बिरादरी के वृद्ध पुरुषों-द्वारा चुने हुए, पुरोहित न्यायाधीश ही शासन करते थे। परन्तु अंत में, ई० पू० १००० के लगभग, इस जाति ने युद्ध में नेतृत्व करने के लिए सॉल नामक एक व्यक्ति को अपना राजा बनाया। परंतु सॉल का

नेतृत्व पुरोहित-न्यायाधीशों के नेतृत्व से अधिक लाभदायक प्रमाणित न हुआ। वह गिल-बोआ पर्वत के युद्ध में फ़िलस्तीनों की बाण-वर्षा से मारा गया। उसका कवच तो शत्रुओं के आराध्यदेव 'वीनस' के मंदिर में रख दिया गया और शरीर (शव) वैथ-शन के नगर-प्राचीर में कीलों से ठोंक दिया गया।

उसका उत्तराधिकारी **दाऊद** (David) हुआ। वह सॉल की अपेक्षा अधिक सफल और चतुर था। समस्त यहूदी-इतिहास में केवल दाऊद का शासन-काल ही ऐश्वर्य-युग समझा जाता है। इसके पश्चात् इस जाति को ऐसे दिन फिर कभी नसीब न हुए। और इस वैभव का कारण यह था कि दाऊद ने टायर नामक फ़िनिशियन नगर के अत्यन्त बुद्धिमान् एवं साहसी राजा, हिरम से अत्यन्त ही घनिष्ठ मैत्री कर ली थी। यह राजा यहूदियों के देश की पर्वतमाला की राह लाल सागर में व्यापार करने के लिए अत्यन्त उत्सुक हो रहा था। लाल समुद्र का फ़िनिशियन व्यापार, साधारणतया मिस्र की राह होता था। परन्तु वहाँ इस समय घोर अराजकता फैल रही थी। और इसके अतिरिक्त उस मार्ग-द्वारा व्यापार करने में फ़िनिशियन लोगों को संभवतः अन्य अड़चनें भी थीं। कारण जो हो, सम्राट् हिरम ने दाऊद और उसके पुत्र एवं उत्तराधिकारी **सुलेमान** (Solomon) से अत्यन्त ही घनिष्ठ संबंध स्थापित कर लिया था। हिरम ही की अध्यक्षता में जेरुसलम के नगर-प्राकार तथा मंदिर-निर्माण हुए थे; और इनके बदले में फ़िनिशियन सम्राट् ने जहाज़ बनवा कर लाल समुद्र में व्यापार प्रारम्भ किया था। अब जेरुसलम में होकर उत्तर से दक्षिण की ओर और दक्षिण से उत्तर की ओर व्यापार होने लगा। और इसी के कारण सुलेमान ने अभूतपूर्व ऐश्वर्य प्राप्त किया था। ऐसा ऐश्वर्य यहूदियों ने पहले कभी न देखा था। फ़ैराओं ने अपनी कन्या का विवाह उसके साथ कर दिया था।

परंतु ध्यान रहे कि हम इन बातों को अनावश्यक महत्त्व न दें। ऐश्वर्य की चरम सीमा तक पहुँच जाने पर भी सुलेमान अंत में केवल एक क्षुद्र नगर का मांडलिक राजा ही था। इसकी शक्ति कितनी क्षणिक एवं अस्थायी थी इसका अनुमान इसी से लग सकता है कि सुलेमान की मृत्यु के कुछ काल पश्चात् ही बाइसवें वंश के प्रथम फ़ैराओ ने जेरुसलम को जीत कर उसकी अधिकांश धनसंपत्ति लूट ली। बहुत-से समालोचक तो **बाइबिल के अन्तर्गत** (Book of Kings and Chronicles) में वर्णित सुलेमान के ऐश्वर्य पर भी संदेह करते हैं। उनका कहना है कि बाद के लेखकों ने उस वर्णन को अतिरंजित करके उसे अपनी देशभक्ति के कारण बहुत कुछ बढ़ा दिया है।
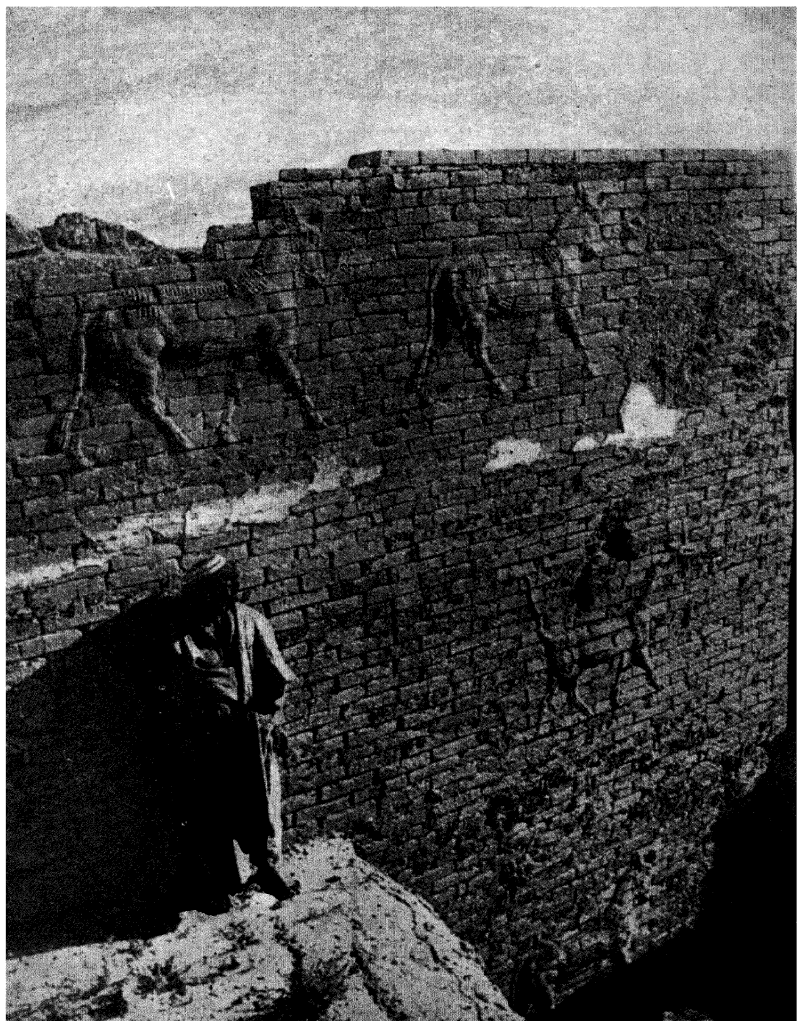
बैबिलन का इश्तर द्वार।

(दीवालों की गहरे रंगों से रँगी हुई पक्की ईंटों की उभरी हुई चित्रकारियाँ)

फा० १८

परन्तु ध्यानपूर्वक पढ़ने से पता चलेगा कि बाइबिल में दी हुई इस सूची में ऐसी कुछ भी अत्युक्ति नहीं है जैसी प्रथम बार सरसरी तौर पर पढ़ने से प्रतीत होती है। हिसाब लगाकर देखने पर तो सुलेमान का प्रसिद्ध मंदिर किसी सामान्य नगर के गिरजाघर से भी छोटा ही उतरेगा। इसी प्रकार यह मालूम हो जाने पर (जैसा कि एक ऐसीरियन स्मारक पर लिखा हुआ है) कि इनके उत्तराधिकारी 'अहब' ने बाईस सौ (२,२००) रथ ऐसीरियन सैन्यदल के सहायतार्थ भेजे थे, हमको सुलेमान के चौदह सौ रथों की बात भी महत्त्वहीन ही जँचेगी।

बाइबिल-गाथा से स्पष्टतया बोध होता है कि सुलेमान ने जनता पर कर का बोझ लादने, उनसे अधिक कार्य कराने और ऐश्वर्य-प्रदर्शन ही में अपना जीवन व्यतीत कर दिया था। उसकी मृत्यु के बाद उसके राज्य का उत्तरी भाग जेरुसलम से पृथक् होकर इसराइल के नाम से एक स्वतंत्र देश बन गया था और जेरुसलम केवल यहूदिया (जूडा) नामक प्रांत की राजधानी-मात्र ही रह गया।

हैब्रू (यहूदी) जाति का यह वैभव चिरस्थायी न था। सम्राट् हिरम की आँख मिंचते ही इधर तो टायर की सहायता से जेरुसलम की जो शक्ति बढ़ रह थी वह रुक गई और उधर मिस्र पुनः शक्तिशाली हो चला। क्षुद्र अन्न-कण के समान जूडा और इसराइल के ये छोटे छोटे राज्य कभी ऐसीरिया और सीरिया और कभी उत्तरीय बैबिलन और दक्षिणीय मिस्र रूपी चक्की के पाटों में सदा कुचले जाते रहे। यहाँ का इतिहास इन्हीं आपदाओं और छुटकारों से, जिनके कारण इनका विनाश होने में कुछ अधिक देर अवश्य लगी, भरा पड़ा है। यह बर्बर-जातियों पर शासन करने-वाले केवल बर्बर राजाओं की कहानी-मात्र ही है। ई० पू० ७२१ में 'इसराइल' राज्य पर ऐसीरियावालों ने आक्रमण कर वहाँ के निवासियों को बंदी बना लिया और इस प्रकार एक राज्य का तो संसार से उसी समय सदा के लिए अस्तित्व उठ गया। तदनंतर कुछ समय तक लड़ते-झगड़ते रहने के पश्चात्, जैसा हमने अभी कहा है, ई० पू० ६०४ में यहूदिया-राज्य का भाग्य-नक्षत्र भी इसराइलिया-राज्य की भाँति सदा के लिए डूब गया। मिस्र, ऐसीरिया और बैबिलन में पिछली शताब्दी की खुदाई के कारण बाइबिल-गाथा की सचाई का समर्थन हो जाने पर, बहुत-सी शंकाओं के होते हुए भी 'न्यायाधीशों' के समय से आगे के, बाइबिल-वर्णित विस्तृत यहूदी-इतिहास को बहुत कुछ सत्य ही मानना पड़ता है।

परन्तु यहूदी-जाति का क्रम-बद्ध इतिहास और परम्परागत दंतकथाओं का विकास बैबिलन ही में हुआ था। बंदी होनेवाले पुरुषों की अपेक्षा, साइरस की आज्ञा के कारण

बैबिलन से मुक्त होनेवाली उनकी संतान, भाव और ज्ञान—दोनों ही में कहीं अधिक बढ़ी-चढ़ी थी। ये उत्तरकालीन यहूदी सभ्यता का पाठ पढ़कर लौटे थे। यहूदी-जाति के विशिष्ट गुणों को विकसित करने में कुछ ऐसे लोगों ने विशेष सहायता दी थी जो पैग़म्बर कहलाते थे और जिनकी ओर अब हम अपना ध्यान फेरते हैं। मनुष्य-समाज में इन पैग़म्बरों के कारण एक नई और मार्के की शक्ति का उत्पादन हुआ।

(२२)

यहूदिया के पुरोहित और पैग़म्बर

ऐसीरिया और बैबिलन के पतन के साथ ही सैमिटिक जातियों की विपत्तियों का आरम्भ हुआ। ई० पू० सातवीं शताब्दी में तो यह मालूम पड़ता था कि मानों सारे सभ्य संसार पर सैमिटिक शासकों का आधिपत्य हो जायगा। उस समय ऐसीरिया सरीखे महान् साम्राज्य पर इन्हीं जातियों का शासन था और मिस्र भी इन्हीं लोगों ने जीत लिया था। ऐसीरिया, बैबिलन और सीरिया सभी सैमिटिक थीं और एक दूसरे की भाषा समझ लेती थीं। संसार का समस्त व्यापार इन्हीं लोगों के हाथों में था। उस समय सिसली, स्पेन और अफ़्रीका में—फ़िनिशियन तटस्थ टायर और सीडन नगरों के उपनिवेश स्थापित हो गये थे जो अपने मातृ-नगरों से भी अधिक उन्नतिशील निकले। ई० पू० ८०० में कार्थेज नामक नगर स्थापित हुआ था। अब उसकी जन-संख्या बढ़ कर दस लाख से भी अधिक हो गई थी। एक समय वह संसार का सबसे बड़ा नगर समझा जाता था। वहाँ के जहाज़ ब्रिटेन और ऐटलांटिक तक की दौड़ लगाते थे। और बहुत संभव है कि मैडियरा तक भी पहुँचते हों। सुलेमान की सहायता प्राप्त कर सम्राट् हिरम ने जहाज़ बना, लाल सागर की राह अरब और शायद भारत से भी किसी प्रकार व्यापार करना प्रारम्भ किया था। यह हम अभी बता चुके हैं। फ़ैराओ निको के समय में तो फ़िनिशियन जाति के एक बेड़े ने समस्त अफ़्रीका की प्रदक्षिणा कर डाली थी।

उस समय आर्य-जातियाँ बर्बर थीं। केवल यूनानी लोग उस सभ्यता के भग्नावशेषों पर (जिसे उन्होंने नष्ट कर दिया था) एक नवीन सभ्यता को निर्मित करने में लगे थे। उनके अतिरिक्त, मेद-नामक जाति भी, जैसा कि ऐसीरिया के एक लेख से पता चलता है, उस समय मध्यएशिया में दृढ़ एवं शक्तिशाली होती जा रही थी। ई० पू० ८०० में यह कोई नहीं कह सकता था कि ई० पू० ३०० के पहले ही आर्य-भाषा-भाषी विजेता सैमिटिक राज्यों का चिह्न तक न छोड़ेंगे, और सैमिटिक लोग या तो प्रजा के रूप में रहेंगे, अथवा करद बन जायँगे, या तितर-बितर हो जायँगे। सारगौन प्रथम और उसके अक्कादियों ने जब से सुमेरिया की विजय की थी तब से सैमिटिक लोगों का जो प्रभुत्व था वह सब जगह से नष्ट हो गया। केवल अरब के उत्तरी मरुस्थलों में बद्दू लोग (जो अपने

भ्रमणशील जीवन को न छोड़ते थे) स्वतंत्र बने रहे। आर्य लोग अरब के बद्दुओं को कभी नहीं जीत सके।

इन पाँच महत्त्वपूर्ण शताब्दियों में जितनी सभ्य सैमिटिक जातियाँ पिटीं और हारीं उनमें केवल एक ही जाति ऐसी थी जो आपस में मिलकर रही और अपनी प्राचीन रूढ़ियों को पकड़े रही। यह यहूदी-जाति थी जिसे ईरान के राजा साइरस ने इस हेतु वापस कर दिया था कि वह लौट कर अपने नगर जेरुसलम को फिर से निर्मित करे। वे अपने अस्तित्व को जो इस प्रकार बनाये रह सके इसका कारण यह था कि बैबिलन में उन्होंने अपने साहित्य बाइबिल का निर्माण कर लिया था। इसलिए मानना पड़ता है कि बाइबिल के बनाने में यहूदियों को इतना श्रेय नहीं जितना यहूदियों के बनाने में बाइबिल को प्राप्त है। इस ग्रंथ में, अन्य निकटवर्ती जातियों से सर्वथा भिन्न, कुछ ऐसे उत्साहवर्द्धक एवं जीवनदायक विचार पाये जाते थे जिनको पच्चीस शताब्दियों की लगातार कष्ट-यातनाओं को भोगते हुए भी यहूदियों ने कभी नहीं छोड़ा।

ईश्वर के अदृश्य एवं दूर होने की कल्पना यहूदियों का प्रधान विचार था। इस जाति के धारणानुसार संसार के स्वामी तथा अत्यन्त न्यायकारी अदृश्य परमेश्वर का मनुष्य-निर्मित मन्दिरों में निवास न था। अन्य जातियाँ जातीय देवताओं को मानती थीं जो मूर्ति के आकार में मंदिरों में रहते थे। (उनके विचारों से) मन्दिर तथा मूर्त्तियों का विध्वंस होते ही उन देवताओं की भी मृत्यु हो जाती थी। पुजारियों और बलिदानों तथा पूजा से परे, स्वर्ग में स्थित ईश्वर के अस्तित्व की कल्पना, यहूदियों का नवीन विचार था। इनका यह विश्वास था कि हमारे पूर्वज इब्राहीम-द्वारा माने हुए इस परमेश्वर की दृष्टि में हमारी (अर्थात् यहूदी) जाति का विशेष स्थान है और उसने हमें (यहूदियों) इस काम के लिए मनोनीत किया है कि जेरुसलम का पुनरुत्थान करके उसे संसार में न्याय और भलाई का केन्द्र बना दें। इस विचार से कि उन सबका लक्ष्य एक ही है—वे लोग (यहूदी) अपने को महत्त्वशाली समझने लगे थे। और जब वे बैबिलन में बन्दी रह कर जेरुसलम लौटे तो इस जाति के समस्त पुरुषों के मस्तिष्क इन्हीं विचारों से सराबोर थे।

फिर यदि अपने पराभव और अधीनता के समय में बैबिलन तथा सीरिया के बहुत-से निवासी और तत्पश्चात् उन्हीं से बहुत कुछ मिलने-जुलनेवाली भाषा और आचार-स्वभाव एवं रुचि में समानता रखनेवाले बहुत-से फ़िनिशियन लोग भी, इस उत्साह-वर्द्धक पंथ की ओर आकर्षित हो गये और इस पंथ के भाईचारे और पुनरभ्युदय की आशा में विश्वास करने लगे तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? फिर टायर, सिडोन, कार्थेज और स्पेन देश के फ़िनिशियन नगरों के ध्वंस होते ही वह (फ़िनिशियन) जाति संसार से

सर्वथा लुप्त होगई। और उसके साथ ही, न केवल जेरुसलम में, प्रत्युत स्पेन, अफ्रीका और मिस्र आदि उन समस्त पूर्वीय (यूरोपियन दृष्टिकोण से) स्थानों में जहाँ फ़िनिशियन जाति ने अपने पग रक्खे थे वहाँ अब यहूदी लोग दृष्टिगोचर होने लगे, और बाइबिल के पठन-पाठन के कारण इन लोगों की आपस की एकता बनी रही। कहने को तो जेरुसलम नगर प्राचीन काल से उनकी राजधानी बना हुआ था; परन्तु वास्तविक शक्तिदायक केन्द्र थी यह सर्वश्रेष्ठ पुस्तक। इतिहास में यह एक सर्वथा नवीन बात थी। परन्तु इसके बीज उस अत्यन्त प्राचीन काल में वपन किये गये थे जब सुमेरिया और मिस्र देशवासियों ने अपनी चित्रमयी भाषा को लेखनकला में परिवर्त्तित किया था। यहूदी-जाति संसार में एक नवीन वस्तु थी। इसका न तो कोई राजा ही था और न मन्दिर। आगे हम पढ़ेंगे कि ई० स० ७० में स्वयं जेरुसलम नष्ट हो गया था। फिर भी यह आधारहीन पँचमेली जाति लिखित शब्दों के बल पर सुसंगठित बनी रही।

यहूदियों का यह मानसिक संगठन न तो पुरोहितों और राजनीतिज्ञों के मस्तिष्क की उपज था और न उन्होंने इसकी कभी कल्पना ही की थी। इस जाति की उन्नति के साथ ही साथ, न केवल एक नवीन जाति, प्रत्युत एक विशेष प्रकार का मनुष्य इतिहास में पदार्पण करता है। सुलेमान के समय में ऐसा मालूम होता था कि यहूदी लोग भी राजदरबार एवं मन्दिरों को प्राधान्य देनेवाली, एवं पुरोहितों की विद्वत्ता और लोलुप राजाओं के नेतृत्व में चलनेवाली, अन्य समकक्ष छोटी छोटी जातियों की तरह छोटी जाति बन जायँगे। परन्तु बाइबिल पढ़ने से पता चलता है कि उस समय भी पैग़म्बर कहानेवाले एक नवीन प्रकार के मनुष्य का प्रादुर्भाव हो चुका था।

फिर ज्यों ज्यों इस जाति पर आपदाओं के बादल घने होते गये त्यों त्यों इन पैग़म्बरों का महत्त्व भी अधिकाधिक बढ़ने लगा।

पैग़म्बर कौन थे और क्या करते थे? इन प्रश्नों के उत्तर में केवल यही कहा जा सकता है कि इन व्यक्ति-विशेषों का जन्म विविध वर्ण एवं जातियों में हुआ था। उदाहरणार्थ पैग़म्बर इज़कियेल और अमूस इन दो में, एक तो पुरोहितवर्ग के थे और दूसरे गड़ेरिया होने के कारण बकरी की खाल के बने हुए वस्त्र पहना करते थे। परन्तु जाति-सम्बन्धी विभिन्नता होते हुए भी ये लोग केवल एक ही न्यायकारी परमात्मा की आराधना करते थे और सीधे सीधे जनता को सम्बोधन करते थे। बिना किसी आज्ञा या दीक्षा के ये लोग उपदेश देने लगते थे। "संसार के स्वामी ने मुझे यह आदेश दिया"—यही उनका सूत्र था। वे लोग राजनीति में बड़ी दिलचस्पी लेते थे। वे लोगों को 'टूटे हुए नरकुल' सरीखे मिस्र, ऐसीरिया अथवा बैबिलन के विरुद्ध विद्रोह करने के लिए उत्तेजित
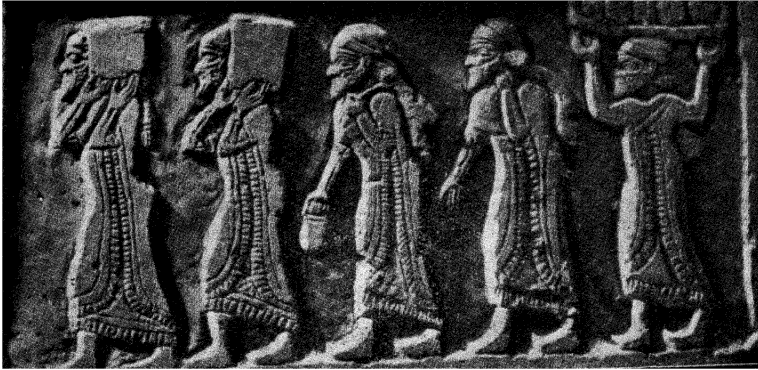
शाल्मानेसर द्वितीय के काले स्तंभ की एक चतुष्कोण पटरी।

ऐसीरिया के राजा का यह स्तंभ ब्रिटिश म्यूज़ियम में सुरक्षित है। इस पर कीलाक्षरों में लिखा है "ओमरी का पुत्र यहुआ"। यहूदी क़ैदी ख़िराज ले जाते हुए दिखाये गये हैं।

काले स्तम्भ की एक दूसरी चतुष्कोण पटरी।

बंदी राजे शाल्मानेसर की वंदना कर रहे हैं।

करते थे। वे राजाओं के घोर पापों और पुरोहितवर्ग के महा आलस्य की भी निंदा करते थे। कुछ एक की दृष्टि तो, 'सामाजिक सुधार' की ओर भी रहती थी। उनका कहना था

कि "धनी लोग निर्धनों की हड्डियाँ कुचलते हैं।" आमोद-प्रमोदयुक्त विलासमय जीवन व्यतीत करनेवाले लोग जनसाधारण की रोटियाँ छीन रहे हैं, और ऐश्वर्यशाली पुरुष विदेशियों से मित्रता कर उनके वैभव एवं दूषणों का अनुकरण कर रहे हैं और इन बातों से इब्राहीम के ईश्वर जिहोवा को घृणा है, और इन बातों के लिए वह अवश्य ही उनके देश को दण्ड देगा।

इनके ये विचार लेखबद्ध करने के पश्चात् सुरक्षित कर लिये गये और उनका मनन किया जाने लगा। जहाँ कहीं यहूदी गये, ये लेख भी उनके साथ वहीं पहुँचे; और जहाँ कहीं वे गये वहीं उन्होंने एक नवीन धार्मिक भाव को फैलाया। मन्दिर और पुरोहित-वर्ग, नृपतिगण और उनके दरबार, सभी को महत्त्वहीन बनाकर इन्होंने केवल एक ईश्वर के न्याय-शासन को ही जनसाधारण के सम्मुख प्रत्यक्ष रूप से रक्खा। और केवल इसी बात के कारण इस जाति का मनुष्य-जाति के इतिहास में इतना महत्त्व है। इशाया के महान् उपदेशों में तो पैग़म्बरों की भविष्यवाणी ने अत्यन्त ही श्रेष्ठता से समस्त संसार में एक ईश्वर के शांतिमय रामराज्य स्थापित होने की पूर्व कल्पना की है। कहना न होगा कि इन उपदेशों में यहूदी भविष्यवाणी अपने सौंदर्य की पराकाष्ठा पर पहुँच गई है।

परन्तु सब पैग़म्बरों के उपदेश ऐसे नहीं हैं। बुद्धिमान् पाठकों को इन पैग़म्बरों की बनाई हुई पुस्तकों में ईर्ष्या, घृणा और आधुनिक 'प्रचार-साहित्य' सरीखा दूषित मसाला भी स्थल स्थल पर देखने को मिलेगा। परन्तु फिर भी बैबिलन में बंदी होने के युग के आगे के पैग़म्बरों को ही इस बात का श्रेय प्राप्त है कि उन्होंने संसार में एक नई शक्ति का आविर्भाव किया। वह शक्ति थी प्रत्येक व्यक्ति की नैतिक विवेचना-शक्ति की अपील। उस समय तक मनुष्य-जाति टोना-टुटका और रूढ़ियों के अन्ध-भक्त थी। पैग़म्बरों ने इनके विरुद्ध मनुष्य की विवेचना-शक्ति को स्वतन्त्र कर दिया।

———

(२३)

यूनान या ग्रीस-निवासी

जिस समय सुलेमान (जिसका शासन-काल शायद ई० पू० ९६० में था) के बाद इसराइलिया और यहूदिया के विभक्त राज्यों के निवासियों का नाश और निर्वासन हो रहा था, और जिस समय बैबिलन की क़ैद में यहूदी लोग अपनी परम्परा या संस्कृति को दृढ़ कर रहे थे उस समय मानव-मस्तिष्क पर अत्यन्त प्रभावशाली एक दूसरी शक्ति—अर्थात् यूनानी परम्परा या संस्कृति—का भी उत्थान हो रहा था। जिस समय यहूदी पैग़म्बर जनता और सनातन एवम् सर्वत्र विद्यमान सत्य-काम परमात्मा के बीच नैतिक उत्तर-दायित्व की भावना की नवीन कल्पना कर रहे थे उस समय ग्रीक दार्शनिक मानव-मस्तिष्क को बौद्धिक जिज्ञासा के नवीन भाव और ढङ्ग के सिखलाने में लगे थे।

जैसा कि हम कह आये हैं, ग्रीक जातियाँ आर्य-वृन्द की एक शाखा थीं। वे ई० पू० १००० से कई शताब्दी पहले ही ईजियन नगरों और द्वीपों में आ बसी थीं। जिस समय फ़राओ तातमीज़ ने यूफ़्रटीज़ के उस पार के देशों को जीत कर उनमें पहले-पहल हाथियों का शिकार खेला था, शायद उससे पहले ही ग्रीक आर्य जातियों ने दक्षिण की ओर अग्रसर होना आरम्भ कर दिया था। उन दिनों इराक़ में हाथी और ग्रीस में सिंह पाये जाते थे।

संभव है कि ग्रीक लोगों ने किसी आक्रमण में नोसस को जला डाला हो किन्तु ऐसी विजय की कोई दंतकथा नहीं मिलती। मिनोस और उसके राजप्रासाद तथा क्रीट के कारीगरों से सम्बन्ध रखनेवाली कथायें अवश्य उपलब्ध हैं।

अधिकांश आर्यों की भाँति इन ग्रीकों के यहाँ भी भाट और चारण होते थे। इनके गायन महत्त्वपूर्ण सामाजिक श्रृंखला का काम करते थे। इन लोगों के गायन ने दो महाकाव्यों को ग्रीक जातियों के आरम्भिक युग से (जब वे असभ्य थीं) परम्परा-द्वारा उस समय तक सुरक्षित रखा जिस समय वे सभ्य होकर लिखना-पढ़ना न सीख गईं। इनमें से एक महा-

मीलिआगर कि मूर्ति
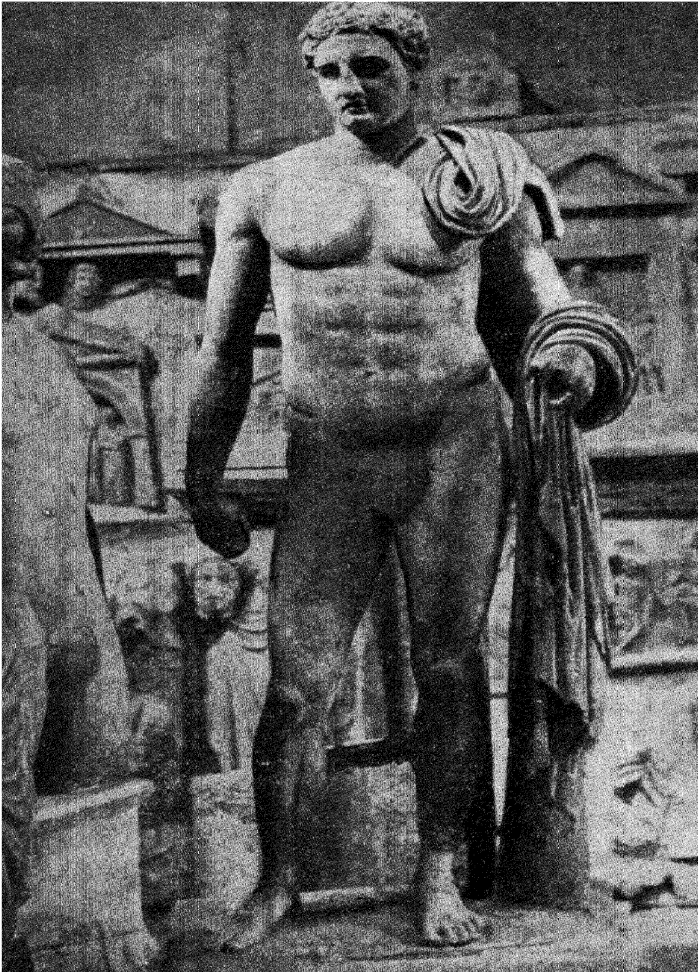
बाईं ओर की लकड़ी की मूर्ति और इस पत्थर की मूर्ति में कला का विकास

ध्यान देने योग्य है।

काव्य का नाम इलियड है। इसमें ग्रीक जातियों के एक संघ के एशिया माइनर के ट्राय नामक नगर की चढ़ाई, घेरे, विजय और लूट का वर्णन है। दूसरा महाकाव्य ओडैसी के नाम से विख्यात है। इसमें ऋषि-कल्प सेनापति ओडेसियस के ट्राय से अपने देश को लौटने की लम्बी चौड़ी कथा है। जब यूनानियों (ग्रीकों) ने अपने अधिक सभ्य पड़ोसियों से वर्णमाला का उपयोग सीख लिया तब ई० पू० सातवीं या आठवीं शताब्दी में ये दोनों महाकाव्य लेख-बद्ध किये गये। परन्तु अनुमान यह किया जाता है कि इनका अस्तित्व इससे भी बहुत पहले था। पहले तो लोगों का यह विश्वास था कि जिस प्रकार मिल्टन ने पैरेडाइज़-लॉस्ट (अर्थात् स्वर्ग से निकाले जाने की कथा) नामक काव्य को बनाया है, उसी प्रकार 'होमर' नामक एक अंध चारण ने बैठकर इन पद्यों की रचना की थी। इस नाम के किसी कवि का तब अस्तित्व था अथवा नहीं; उसने इन काव्यों को रचा या संशोधन-मात्र किया इन प्रश्नों पर विचार करना यहाँ सर्वथा निरर्थक है। हमारे लिए इतना जानना ही पर्याप्त है कि ई० पू० आठवीं शताब्दी में यूनानियों के ये महाकाव्य विद्यमान थे; उनकी समस्त उपजातियों का इन पर समान अधिकार था और इन्हीं शृंखलाओं के कारण, बर्बर-जातियों से तुलना करने पर, वे अपने को एक समझते थे। ये विविध उपजातियाँ, प्रथम तो मौखिक, और तत्पश्चात् लिखित शब्दों की शृंखला में बद्ध थीं और साहस तथा आचार-संबंधी इनके आदर्श भी इसी कारण प्रायः एक ही से थे।

इन महाकाव्यों से पता चलता है कि उस समय तक यूनानी बर्बरावस्था ही में थे। न तो वे लोहे का व्यवहार जानते थे, न उनको लिखना आता था और न वे नगरों ही में रहते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि वे लोग सर्वप्रथम—ईजियन प्रदेशस्थ जिन नगरों को उन्होंने विध्वंस किया था, उन्हीं के भग्नावशेषों के निकट—अपने नेता के विशाल निवास-स्थान के चारों ओर झोंपड़े डाल, गाँव बसा कर निवास किया करते थे। फिर धीरे धीरे उन्होंने अपने नगरों के चारों ओर प्राचीर भी बना डाला और विजित जातियों की भाँति मंदिर बनाना भी प्रारम्भ कर दिया। कहा जाता है कि आदिम सभ्य लोगों के नगर जातीय देवताओं की वेदी के चारों ओर बसाये जाते थे। और नगर-प्राचीर का चलन पीछे चला। परंतु यूनानी नगरों में प्राचीर पहले बना और मंदिर बाद को। ये लोग व्यापार करने और अपने उपनिवेश बसाने लगे। ई० पू० सातवीं शताब्दी के प्रारम्भ होते न होते यूनान की घाटियों एवं द्वीपसमूह में ऐथेन्स, स्पार्टा, कोरिन्थ, थीबिस, सामोस और मिलेटस आदि प्रमुख नये-नये यूनानी नगरों की स्थापना हो चुकी थी और साधारण जनसमाज पूर्वगामी ईजियन सभ्यता और उसके नगरों को सर्वथा भूल गया था। इटली, सिसली और कालेसागर में उस समय यूनानी उपनिवेश विद्यमान थे। उस समय

इटली का दक्षिणी भाग भी ग्रीस का ही एक अंश था। इसी कारण उसकी एड़ी और पंजे अथवा दक्षिणी सिरे को 'मैगना ग्रीशिया' या बृहत्तर यूनान कहते थे। उस समय मारसैल ग्रीक नगर था। और अधिक प्राचीन फ़िनिशियन उपनिवेश के स्थान पर स्थापित किया गया था।

हम देखते हैं कि वे देश जिनमें बड़े-बड़े मैदान हों अथवा जिनमें आवागमन के प्रधान साधन किसी महान् नदी (जैसे फ़रात या नील) के रूप में हों, वे बहुधा, धीरे-धीरे, एक ही शासन में आ जाते हैं और उनका एकीकरण हो जाता है। सुमेरिया और मिस्र के नगर ऐसे ही संयुक्त शासन के अधीन थे। परन्तु यूनान और बृहत्तर यूनान दोनों ही में द्वीपसमूहों और पर्वतमालाओं के आधिक्य के कारण विभक्त यूनानी जाति की परिस्थिति ठीक इसके विरुद्ध थी। इतिहास में पदार्पण करते समय विभिन्न यूनानी जातियाँ छोटे छोटे राज्यों में बँटी हुई थीं। इनमें एकता का नितांत अभाव था। यही नहीं, उनका रक्त (वंश) भी एक न था। कुछ नागरिक तो 'आयोनिक', 'इथोलियन', अथवा 'डोरिक' जाति के यूनानी थे; और कुछ में, यूनानियों, और उनसे पूर्व, भूमध्यसागर के तटों पर रहनेवाले अन्य प्राचीन लोगों का मिश्रित रक्त विद्यमान था। इसके अतिरिक्त, स्पार्टा सरीखे राज्यों में कुछ ऐसे विशुद्ध वंशीय स्वतन्त्र यूनानी नागरिक भी थे जो हीलट (दास) अर्थात् विजित जातियों पर शासन करते थे। उस समय किसी स्थान पर विशिष्ट एवं पुरातन आर्य-कुलों का शासन था, तो कहीं पर कुल आर्य नागरिकों का प्रजातंत्र था। और कहीं कहीं चुने हुए अथवा वंशानुक्रमागत राजा अथवा राज्य का अपहरण करनेवाले प्रजा-पीडकों का राज्य था।

जिन भौगोलिक परिस्थितियों के कारण ये प्रथम यूनानी राज्य संयुक्त न हो सके, इन्हीं कारणों से इनका वर्गक्षेत्र भी न बढ़ सका। और ये सदा छोटे ही बने रहे। उस समय का बड़े से बड़ा राज्य भी इँगलिस्तान के बहुत-से वर्त्तमान ज़िलों से छोटा था और उनके किसी नगर की जन-संख्या कभी भी दस लाख तो क्या, उसकी तिहाई से भी, अधिक न थी। कुछ एक की तो ५०,००० ही थी। स्वार्थ अथवा सहानुभूति के कारण इनमें मैत्री तो हो जाती थी, परन्तु ऐक्य फिर भी स्थापित नहीं होता था। व्यापार की वृद्धि होने पर नगरों की पारस्परिक मैत्री और संधियाँ प्रारम्भ हुईं और छोटे छोटे नगर बड़े नगरों की संरक्षकता में आने लगे। परन्तु महाकाव्यों और प्रत्येक चौथे वर्ष 'ओलंपिया' के खेल-कूदों में भाग लेने की प्रथा के कारण एक कौटुम्बिक भावों के उत्पन्न होने से यह विभक्त यूनानी समाज फिर भी बहुत कुछ ऐक्य-सूत्र में बँध गया था। आपस के युद्ध अथवा झगड़े तो इस भाव के कारण सर्वथा बन्द न हुए थे; फिर भी उपर्युक्त कारणों से

पारस्परिक युद्धों की बर्बरता अवश्य ही बहुत कम हो गई थी और उनमें इस बात की संधि हो गई थी कि ओलम्पिक खेलों में भाग लेनेवाले सर्वत्र ही बिना रोक-टोक के आ-जा सकेंगे। फिर ज्यों-ज्यों समय बीतता गया त्यों-त्यों समान पैत्रिकता का भाव बढ़ने लगा। ओलंपिया के खेलों में भाग लेनेवाले राज्यों की संख्या भी बढ़ने लगी यहाँ तक कि अन्त में न केवल यूनानी प्रत्युत ऐपीरियस और मैसीडोनिया
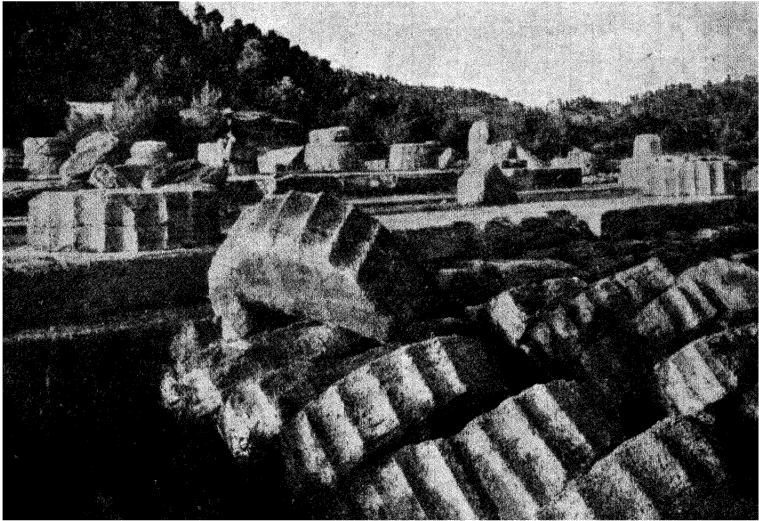
ओलम्पिया में ज़ियस के विशाल मंदिर का खँडहर।

सरीखे उत्तर के निकटवर्त्ती सजातीय राज्य भी इन खेलों में भाग लेने के लिए अपने-अपने प्रतिद्वंदी भेजने लगे और उनका प्रवेश भी बिना रोक-टोक होने लगा।

ई० पू० सातवीं और छठी शताब्दी में यूनान के नगरों का व्यापार एवं महत्त्व बढ़ने लगा और वहाँ की सभ्यता भी धीरे-धीरे अधिक उन्नत हो चली। यूनानियों का सामाजिक जीवन, नदियों की घाटियों में निवास करनेवाली प्राचीन सभ्य जातियों एवं ईजियन सभ्यता से बहुत-सी बातों में अत्यन्त भिन्न था। बड़े बड़े भव्य मन्दिर होते हुए भी ये

लोग अपने पुरोहित-वर्ग को पुराणकालीन नगरों के परम्परागत पुजारियों की भाँति समस्त ज्ञान एवं विशुद्ध भावनाओं का भण्डार न समझते थे। उनमें नेता और उच्च कुल भी होते थे किन्तु उनमें ईश्वर का अंश समझे जानेवाले और सुसंगठित दरबार से घिरे हुए राजा नहीं होते थे। उनके संगठन में कुलीन लोगों की प्रधानता थी और एक कुलीन वंश दूसरे कुलीन वंश को अनुचित रूप से न बढ़ने देता था। जिन राज्यों को 'प्रजातन्त्रक' कह कर पुकारा जाता है, वे भी वास्तव में कुलीन-तंत्र थे। यह ठीक है कि प्रजातंत्र में प्रत्येक नागरिक को सार्वजनिक कार्यों में भाग लेने एवं राजसभा में बैठने का अधिकार प्राप्त था, परन्तु प्रत्येक पुरुष 'नागरिक' नहीं था। आधुनिक प्रजातन्त्रक राज्यों की भाँति, यूनानी प्रजातंत्र राज्यों में प्रत्येक व्यक्ति को मत (Vote) देने का अधिकार प्राप्त न था। यूनान के बहुत-से ऐसे प्रजातंत्र (Democracy) थे जिनमें नागरिकों की संख्या तो कई सौ, अथवा कई हज़ार ही होती थी किन्तु शेष कई सहस्र जनता, दासों अथवा ऐसे मुक्त पुरुषों की होती थी जो सार्वजनिक कार्यों में कुछ भी भाग न ले सकते थे। साधारणतया धनिकों ही का शासन था। राजा अथवा प्रजा-पीड़क (tyrant) यूनान में नेता थे; परन्तु, यह सब कुछ होते हुए भी वे शेष जनता के समान ही समझे जाते थे। उनमें और अन्य मनुष्यों में कुछ भी अन्तर न माना जाता था। फ़राओ (फ़राऊन) एवं मिनौस उपाधिधारी सम्राटों, अथवा मैसोपोटामिया के नृपति गणों की भाँति ये देवताओं के अंश न समझे जाते थे। इन्हीं कारणों से प्राचीन सभ्य संसार की अपेक्षा यूनान में कहीं अधिक विचार-स्वातन्त्र्य एवं शासन-सत्ता-सम्बन्धी औदार्य पाया जाता था। उत्तरीय वनों में घूमने-फिरनेवाली जातियों का 'वैयक्तिक भाव' और उनका व्यक्तिगत नेतृत्वभाव भी सर्वप्रथम इन्हीं के द्वारा नगरों में प्रविष्ट हुआ। इतिहास में ये ही सर्वप्रथम महत्त्वपूर्ण प्रजातंत्रवादी थे।

यूनानियों में ज्यों ज्यों बर्बर-युद्धों की कमी होती है, त्यों त्यों हमको इनके मानसिक जीवन में एक नवीन ज्योति दृष्टिगोचर होने लगती है। तब तक जो केवल पुरोहित-वर्ग ही का विशिष्ट अधिकार समझा जाता था, अथवा नृपतिगण जिसको धृष्टतापूर्वक अपने आमोद-प्रमोद की सामग्री समझते थे, उसी ज्ञान की प्राप्ति और जीवन-रहस्यों को जानने का अब अन्य पुरुष भी प्रयत्न करने लगे थे। ई० पू० छठी शताब्दी में भी (जिस समय बैबिलन में पैग़म्बर इसाया शायद भविष्यवाणी कर रहे थे) हमें मिलेटस नगर के थेलिस और ऐनक्स मैण्डर तथा इफ़िसस के हेराक्लिटस नामक धनी रईस दिखलाई पड़ते हैं जो हमारे इस संसार के बारे में नाना प्रकार की बुद्धिमत्तापूर्ण जिज्ञासा में लगे हुए थे। वे जिज्ञासा करते थे कि संसार की वास्तविक प्रकृति क्या है, वह कहाँ से आया है और उसका

अवसान क्या है। वे साधारणतः बतलाये जानेवाले या टालनेवाले उत्तरों से सन्तुष्ट न होते थे। ग्रीक-मस्तिष्क की विश्व-सम्बन्धी इन जिज्ञासाओं का वर्णन हम इस इतिहास में आगे चलकर करेंगे। ये ग्रीक जिज्ञासु, जो ई० पू० छठी शताब्दी में कुछ कुछ महत्त्वपूर्ण हो चले थे, संसार के प्रथम दार्शनिक अथवा 'ज्ञान-पिपासु' थे।

सिसिली में नेपच्यून का प्राचीन मन्दिर

यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि ई० पू० छठी शताब्दी मानव-इतिहास में कितना महत्त्व रखती है। कारण यह कि उस समय न केवल यूनानी दार्शनिक ही विश्व की वास्तविक परिस्थिति और उसमें मनुष्य का उपयुक्त स्थान जानने के लिए वैज्ञानिक गवेषणाओं में तत्पर थे, न केवल पैग़म्बर ईसा या यहूदी भविष्यवाणी को सर्वोत्कृष्ट उच्चता

पर ले जा रहे थे, वरन् जैसा हम आगे चलकर वर्णन करेंगे गौतम बुद्ध भारत में, और कनफ्यूशियस तथा 'ला-ओ-त्सि' चीन देश में जनता को शिक्षा और उपदेश दे रहे थे। निष्कर्ष यह कि इस समय ऐथेन्स से लेकर प्रशांत महासागरपर्यंत सर्वत्र ही मनुष्य के मस्तिष्क में खलबली-सी मची हुई थी।

(२४)

यूनानियों और पारसीकों (पारसियों) के युद्ध

दक्षिणीय इटली, एशिया माइनर और यूनानी नगरों में जिस समय यूनानी लोग मानसिक समस्याओं के सम्बन्ध में स्वतन्त्रतापूर्वक गवेषणायें कर रहे थे और बैबिलन तथा जेरुसलम के अंतिम पैग़म्बर जिस समय मनुष्य की विवेचना-शक्ति को स्वतन्त्र करने में तत्पर थे उस समय मेद तथा पारसीक नाम की दो उत्साही एवं साहसी आर्य-जातियाँ प्राचीन संसार पर अपना अधिकार जमा, एक बड़े साम्राज्य—'पारसीक-साम्राज्य' का निर्माण कर रही थीं जो उस समय तक संसार में अद्वितीय था। साइरस नामक सम्राट् के शासनकाल में लीडिया सरीखा अत्यन्त प्राचीन, सभ्य और धनाढ्य प्रदेश तथा बैबिलन भी इस साम्राज्य में मिला लिये गये थे। लेवाएट के फ़िनीशियन नगर और एशिया माइनर के कुल यूनान नगर करद बना लिये गये थे। कम्बीसिस ने मिस्र को जीत लिया था और डेरियस प्रथम जो मेद-जाति का था और जो फ़ारस के शासकों में तीसरा (५२१ ई० पू०) था—सारे संसार का स्वामी प्रतीत होता था। उसके अश्वारोही राजदूत उसके शाही फ़र्मान (राजाज्ञायें) लिये हुए डार्डेनिलस से सिंधुपर्य्यंत, और उत्तरीय मिस्र से लेकर मध्य एशिया तक, सर्वत्र ही घूमा करते थे।

यह सच है कि यूरोपीय यूनानी लोग अर्थात् इटली, कार्थेज, सिसली—और फ़िनिशियन-उपनिवेश फ़ारस-साम्राज्य के अंतर्गत न थे। किंतु वे भी पारसीकों को सम्मान-दृष्टि से देखते और उनसे डरते थे। इसके विरुद्ध उत्पात मचानेवाले केवल वे पुरातन नॉर्ड (आर्य) क़बीले थे जो मध्य एशिया और दक्षिणी रूस में रहते थे और जो सीथियन कहलाते थे। वे इस साम्राज्य की उत्तरी एवं उत्तर-पूर्वीय सीमाओं पर बारम्बार छापा मारा करते थे।

इस लम्बे-चौड़े पारसीक-साम्राज्य में केवल पारसियों ही की बस्ती न थी। यह विजेता जाति तो इस बृहत्काय राज्य में क्षुद्रसंख्यक थी। इसके आने से पहले जो जातियाँ इन भूभागों में रहती थीं वही अब भी वहाँ थीं। अन्तर केवल इतना ही था कि फ़ारसी को अब राजभाषा का स्थान प्राप्त हो गया था। अर्थ (Finance) एवं व्यापार अभी

सैमिटिक (सामी) जातियों ही के हाथ में था। टायर (Tyre) और सिडन अब भी प्राचीन काल की भाँति भूमध्यसागर के महान् बन्दर थे। समुद्रों में सैमिटिक जातिवालों ही के जहाज़ चलते थे। विविध स्थानों में आते-जाते रहने के कारण बहुत-से सैमिटिक जाति के वणिकों एवं व्यापारियों को यहूदी परम्परा और यहूदी धर्म-ग्रन्थों में अपने इतिहास की समानता प्रतीत होती थी और वे उन्हें सहानुभूतिपूर्ण मालूम होते थे। परन्तु साम्राज्य में यूनानी प्रभाव की वृद्धि हो रही थी। यूनानी जाति समुद्र पर अब सैमिटिक लोगों की भयंकर प्रतिद्वंद्वी होती जा रही थी; और निष्पक्ष तथा प्रखर बुद्धि के कारण, यूनानी जाति के लोग अफ़सरी का काम भी राग-द्वेष के बिना अत्यन्त ही अच्छी रीति से संपादन करते थे।
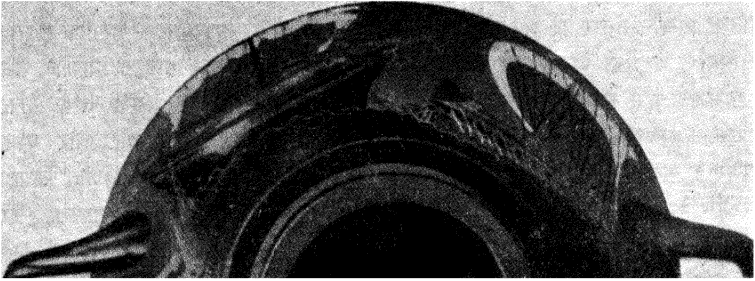
ऐथेन्स के एक प्राचीन मिट्टी के पात्र का टुकड़ा। पात्र के ऊपर की रँगाई में यूनानी व्यापारी जहाज़ पाल और दाँड़ों-सहित दिखाये गये हैं।

सीथियन जाति के कारण ही डेरियस प्रथम को यूरोप पर आक्रमण करना पड़ा था। वह सीथियन घुड़सवारों के देश अर्थात् दक्षिणी रूस में पहुँचना चाहता था। अपने इस उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए वह बासफ़ोरस के जल-ग्रीव की राह सैन्य-सहित यूरोप में उतरा। बलगेरिया में होकर नावों के पुल-द्वारा डैन्यूब नदी पार कर वह दूर तक उत्तर दिशा में चला गया। परन्तु सैन्य-दल को बड़ी हानि उठानी पड़ी। पारसियों की फ़ौज अधिकांश पैदल थी; अश्वारोही सीथियन जाति ने मैदान में आकर उनका कभी सामना तो न किया, किंत वे पारसी सेना के पीछे पीछे लगे रहते, उसकी रसद को लूट लेते

और पिछड़े या राह-भूले सिपाहियों को मार डालते। इस कारण अन्त में लाचार होकर सम्राट् डेरियस अत्यन्त अपकीर्त्ति के साथ पीछे लौटा।

वह स्वयं तो सूसा नामक नगर को (जो उसकी राजधानी थी) लौट गया, परन्तु उसने एक पारसी सैन्य-दल थ्रेस और मैसिडोनिया में छोड़ दिया। मैसिडोनिया ने डेरियस की अधीनता स्वीकार कर ली। उपर्युक्त पराजय के पश्चात् एशिया के यूनानी नगरों ने भी विद्रोह करना प्रारम्भ कर दिया जिससे यूरोप के यूनानियों को भी इस झगड़े में सम्मिलित होना पड़ा। यह देख डेरियस ने इनको भी जीतने की ठानी। फ़िनिशियन जहाज़ी बेड़े की सहायता से उसने एक एक कर समस्त द्वीप जीत डाले और अन्त में ई० पू० ४९० में ऐथेन्स पर मुख्य आक्रमण किया। एक बहुत बड़ा जहाज़ी बेड़ा भी एशिया माइनर और पूर्वीय भूमध्यसागर के बन्दरस्थानों से रवाना किया गया और पारसी-सेनायें ऐथेन्स के उत्तर में मैराथन नामक स्थान पर उतरीं। परन्तु ऐथेन्सवासियों ने इनको बुरी तरह पीट कर भगा दिया।

इस समय एक अद्भुत घटना हुई। यूनान में ऐथेन्स का सबसे भीषण प्रतिद्वंद्वी स्पार्टा था। परन्तु इस विपत्ति के समय ऐथेन्स-वासियों ने एक शीघ्रगामी दूत-द्वारा स्पार्टा-वासियों से विनती कर कहलाया कि वह यूनानियों को बर्बरों की दासता से बचावें। इस शीघ्रगामी दूत ने (जो भविष्य की मैराथन दौड़ों में भाग लेनेवालों का पूर्व रूप था) उस ऊबड़-खाबड़ देश में, सौ मील से अधिक की दूरी को, दो दिन से कम ही में समाप्त कर डाला। स्पार्टा के रहनेवालों ने भी इसका उत्तर उदारतापूर्वक और शीघ्रता से दिया। परन्तु तीन दिन के पश्चात् जब स्पार्टा का सैन्य-दल ऐथेन्स पहुँचा तो युद्ध-मैदान में हारे हुए पारसी योद्धाओं के शव देखने के अतिरिक्त उसके लिए वहाँ और कार्य ही न रह गया था। फ़ारस का जहाज़ी बेड़ा भी एशिया को लौट गया था। यूनान पर पारसियों का प्रथम आक्रमण इस प्रकार से समाप्त हो गया।

अगला युद्ध इससे कहीं अधिक भीषण था। मैराथन में अपनी पराजय का हाल सुनने के उपरान्त डेरियस का शीघ्र ही देहान्त हो गया। तदनन्तर उसका पुत्र और उत्तराधिकारी, ज़रकसीज़, यूनानियों का दलन करने के लिए चार वर्षपर्यन्त सेना तैयार करता रहा। भय के कारण कुल यूनानियों में कुछ समय के लिए ऐक्य हो गया। ज़रकसीज़ के सैन्य के समान बड़ी सेना संसार में इससे पहले कभी एकत्रित न हुई थी। परन्तु उसकी सेना थी बेडौल। सैन्य न कहकर इसको परस्परविरोधी लोगों का महान् जमघट कहना ह अधिक उपयुक्त होगा। ई० पू० ४८० में नावों के पुल-द्वारा डार्डेनिलीज़ नामक जलग्रीव को पार कर इस सैन्य-दल ने यूनान में प्रवेश किया। समुद्र के किनारे-

किनारे जैसे जैसे यह पँचमेली सेना आगे बढ़ती जाती थी, वैसे ही वैसे, एक ऐसा ही असंगत जहाज़ी बेड़ा साथ-साथ आगे बढ़कर इनको रसद पहुँचाता जाता था। थर्मोपली की तंग घाटी में पारसी सेना की स्पार्टा-निवासी लियोनिडस से मुठभेड़ हुई। इस नरपुङ्गव के साथ केवल १,४०० सैनिक थे; परन्तु वे ऐसी वीरता से लड़े कि शत्रुओं के दाँत खट्टे हो गये। इस युद्ध में सब यूनानी सेना मारी गई। एक भी सैनिक जीता न बचा। परन्तु पारसियों को भी इतनी हानि उठानी पड़ी कि थैबेस (यूनान का नगर है, इसको मिस्र देश का नगर नहीं समझना चाहिए) और ऐथेन्स प्रवेश करते समय ज़रकसीज़ की सेना का मिज़ाज बहुत कुछ ठीक हो गया था। थीबिस ने आत्मसमर्पण करके संधि कर ली। नगर-निवासियों के भाग जाने के कारण ऐथेन्स में आग लगा दी गई।

यूनान अब विजेताओं के हाथ में आता हुआ-सा दीखता था। परन्तु समस्त आशाओं के विरुद्ध, अत्यन्त चमत्कारिक रीति से विजयश्री फिर भी उन्हीं को मिली। परिमाण में पारसी बेड़े से तिहाई से भी कम यूनानी बेड़े ने पारसियों के जहाज़ों को सैलामिस की खाड़ी में नष्ट-भ्रष्ट कर डाला। फल यह हुआ कि अपने सैन्य की रसद इस प्रकार से कटती देखकर ज़रकसीज़ का साहस टूट गया और वह आधी सेना लेकर एशिया माइनर की ओर शीघ्रतापूर्वक लौट गया; और शेष आधी की ई० पू० ४७९ में प्लेटिया नामक स्थान में घोर पराजय हुई। यूनानियो ने पारसी बेड़े के बचे-खुचे जहाज़ों को भी एशिया माइनर के माइकेल नामक स्थान पर इसी समय बिलकुल नष्ट कर दिया।

पारसियों का भय जाता रहा। एशिया के अधिकांश यूनानी नगर स्वतंत्र हो गये। हिरोडोटस के लिखे हुए इतिहास में—जिसको लेखबद्ध इतिहासों में सर्वप्रथम स्थान प्राप्त है—ये घटनायें विस्तारपूर्वक अत्यन्त ही रोचक रीति से लिखी गई हैं। एशिया माइनर के हैलीकारनेसस नामक आयोनियन नगर में ई० पू० ४८४ में इस हिरोडोटस का जन्म हुआ था। सत्य एवं वास्तविक घटनाओं की जानकारी प्राप्त करने के लिए उसने मिस्र और बैबिलन की यात्रा की थी। माइकेल की हार के अनन्तर पारस में राजवंश के बहुत-से उपद्रव उठ खड़े हुए थे। स्वयं ज़रकसीज़ का ई० पू० ४६५ में वध कर दिया गया; और फिर मिस्र, सीरिया और मीडिया में विद्रोह हो जाने के कारण इस बृहत् साम्राज्य के क्षुद्र-कालीन नियंत्रित शांति का भी सदा के लिए अन्त हो गया। हिरोडोटस के इतिहास में पारसियों की दुर्बलता पर अधिक ज़ोर दिया गया है। आधुनिक विचार से तो यह इतिहास वास्तव में—ऐक्य-द्वारा पारसियों पर जयलाभ करने के लिए यूनानियों को उत्तेजना देनेवाला प्रचार-साहित्य ही समझा जायगा। हिरोडोटस स्पार्टा-निवासियों के
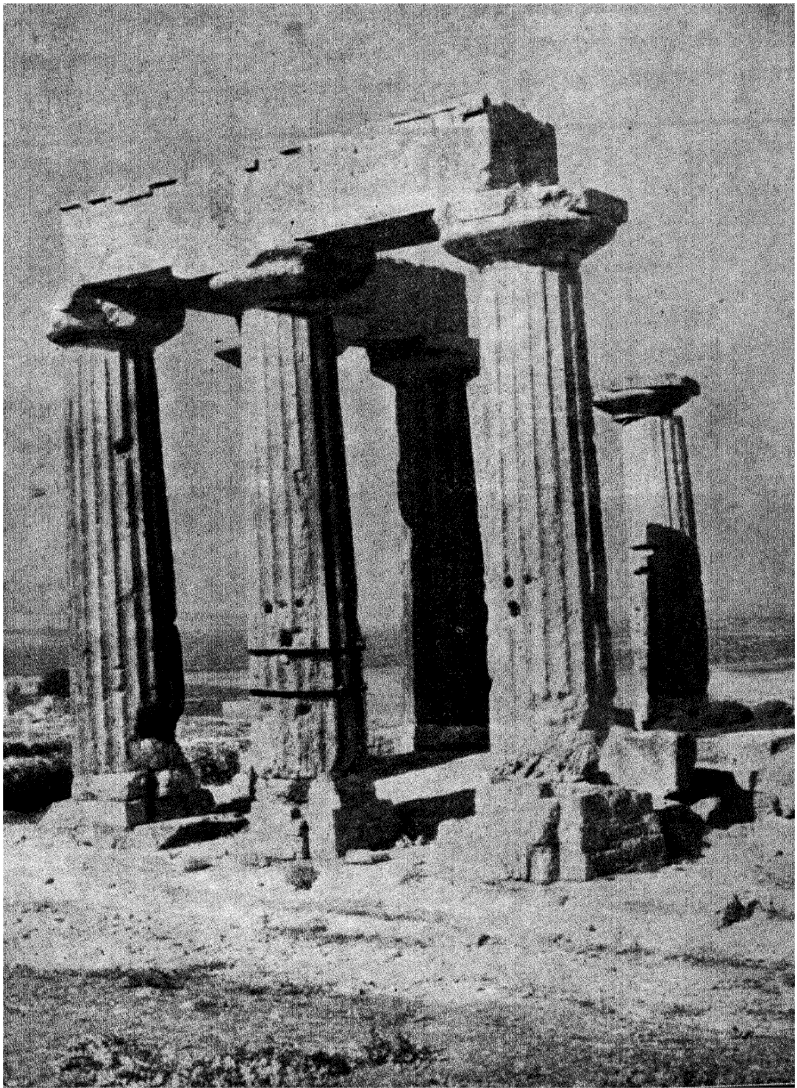
कोरिन्थ के विशाल मन्दिर का अब केवल इतना ही अंश शेष रह गया है।

ऐरिस्टागोरस नामक व्यक्ति से (तत्कालीन ज्ञात संसार का एक मानचित्र दिखलाकर) कहलाता है कि "देखो जहाँ एक ओर ये बर्बर जातीय पुरुष युद्ध-भीरु हैं, वहाँ दूसरी ओर तुम लोग रण-विद्या-विशारद हो। ······परन्तु फिर भी, जितना सुवर्ण, चाँदी, काँसा,

सुनियम के अन्तरीप के निकट नेपचून के मंदिर का अवशिष्ट भाग।

कारचोबी के काम के कपड़े और पशु और दास उनके पास हैं उतने संसार की अन्य किसी जाति के पास नहीं हैं। यदि तुम चाहो तो यह सब सामग्री तुमको मिल सकती है।"

(२५)

यूनान का वैभव

पारस की पराजय के पश्चात् की डेढ़ शताब्दी को यूनानी सभ्यता का अत्यन्त वैभव-शाली युग समझना चाहिए। यह सच है कि उस समय ऐथेन्स, स्पार्टा और अन्य राज्यों में यूनान में उत्कर्ष प्राप्त करने के लिए परस्पर घोर संघर्ष हो रहा था (अर्थात् ई० पू० ४३१ से लेकर ४०४ पर्यन्त के पैलोपौन्नेसियन युद्ध) और अंत में मैसीडोनिया-निवासियों का समस्त यूनान पर आधिपत्य हो गया। (ई० पू०, ३३८) फिर भी, उस समय के यूनानियों के कार्य, शेष मानवेतिहास में, पथ-प्रदर्शक के तुल्य समझे जाते हैं।

इस मानसिक उत्कर्ष का अग्रणी अथवा प्रधान कार्यक्षेत्र ऐथेन्स नामक नगर था। इस नगर पर (ई० पू० ४६६ से लेकर ४२८ पर्यन्त) तीस वर्ष तक, पैरिक्लीज़ नामक एक अत्यन्त ही ओजपूर्ण एवं उदारचेता व्यक्ति का आधिपत्य रहा। पारसियों-द्वारा भस्मसात् हो जाने पर इसी महापुरुष ने नगर का पुनर्निर्माण किया था। आज-कल दृष्टिगोचर होनेवाले ऐथेन्स के सुन्दर भग्नावशेषों का अधिकांश इसी महाभाग के घोर प्रयत्नों का फल है। परन्तु नगर के भौतिक निर्माण ही से संतुष्ट न हो इसने उसका मानसिक पुनरुत्थान भी कर डाला। इसने केवल वास्तुविद्या-विशारद और शिल्पी ही वहाँ न बुलाये थे, प्रत्युत कवि, नाट्यकार, दार्शनिक और शिक्षक भी ऐथेन्स में एकत्रित किये थे। हैरोडोटस ने ऐथेन्स में आकर अपना इतिहास (ई० पू० ४३८) सुनाया था। सूर्य और तारकों का सर्वप्रथम वैज्ञानिक वृत्तान्त भी ऐनेक्सेगोरस ने इसी नगर में लेख-बद्ध किया था। और ईसकाइलस, सौफ़ोक्लीज़ और यूरीपिडीज़ ने—एक दूसरे के अनन्तर—इसी स्थान पर यूनानी नाटकों को सौंदर्य एवं उत्कृष्टता की पराकाष्ठा तक पहुँचाया था।

पैरिक्लीज़ ने ऐथेन्स के मानसिक जीवन को जो उत्साह दिया वह उसकी मृत्यु के बाद भी बना रहा। और यद्यपि पैलोपौन्नेसियन युद्ध और देश पर 'प्रभुत्व' क़ायम करने के लिए निरर्थक और दीर्घकालीन संग्रामों ने यूनान की शांति नष्ट कर दी थी, फिर भी पैरिक्लीज़ का उत्पन्न किया हुआ ज्ञान और कला का शौक़ ऐथेन्स में ज्यों का त्यों क़ायम रहा। ऐसा मालूम पड़ता है कि राजनैतिक आकाश को तिमिराच्छन्न देखकर मनुष्य का मस्तिष्क निरुत्साहित होने के बजाय वास्तव में अधिक उत्साहित और तीव्रगामी हो गया।

यूनानी संस्थाओं में एक विशेष प्रकार के स्वातन्त्र्य के होने के कारण, पैरिक्लीज़ के समय से भी बहुत पहले से ही, यूनानियों में वाद-प्रति-वाद की निपुणता को महत्त्वपूर्ण समझा जाने लगा था। वहाँ की समस्याओं का अंतिम निर्णय न तो राजा करते थे और न पुरोहित। उनका निर्णय मुख्य पुरुषों के परिषद् अथवा **जन-सभायें** (Assemblies of the People) करती थीं। ऐसे परिस्थिति में धारावाहिक रूप से बोलने और योग्यतापूर्ण वाद-प्रतिवाद करने की योग्यता शिक्षा के आवश्यक अंग समझी जाने लगी और सोफ़िस्ट,* नामधारी एक ऐसा शिक्षक-वर्ग उत्पन्न होगया जो नवयुवकों को इन कलाओं की शिक्षा देता था। किंतु बिना ज्ञान के तर्क नहीं किया जा सकता। अतएव वक्तृता के साथ ही साथ ज्ञान की भी वृद्धि होने लगी। सोफ़िस्टों की शिक्षा और प्रतिद्वंद्विता के कारण स्वभावतः शैली, विचार की पद्धति और तर्कों की उपयुक्तता की कड़ी जाँच होने लगी थी। जिस समय पैरिक्लीज की मृत्यु हुई उस समय सुकरात नामक एक व्यक्ति इसलिए ख्याति प्राप्त कर रहा था कि वह बड़ी योग्यता से निःसार युक्तियों का खंडन कर देता है। और वास्तव में सोफ़िस्टों की अधिकांश शिक्षा में निस्सार युक्तियाँ भरी पड़ी थीं। सुकरात के साथ कुछ मेधावी नवयुवक हो गये। परन्तु
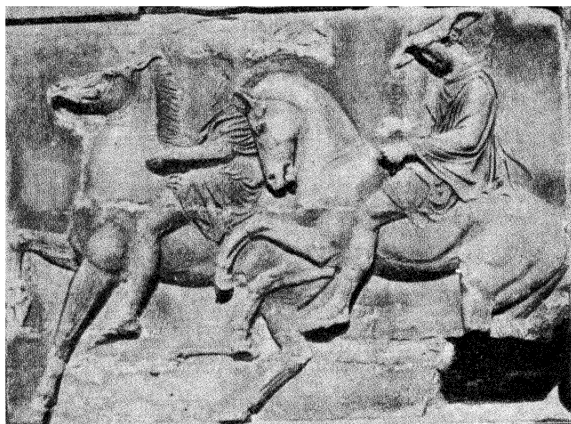
ऐथेन्स में पारथनन के प्रसिद्ध उभरे हुए चित्र का एक अंश। यूनानी वास्तुकला का एक उत्कृष्ट नमूना। इसकी तुलना पीछे दिये हुए पशुओं के चित्रों से कीजिए।

---

* सोफ़िस्ट का परिवर्तित रूप सूफ़ी है परन्तु दोनों के अर्थ में भेद है।

ऐक्रोपोलिस (ऐथेन्स)
पेरीक्लोज़ की प्रेरणा से बने हुए कुछ मंदिरों और स्मारकों के भग्नावशेष।
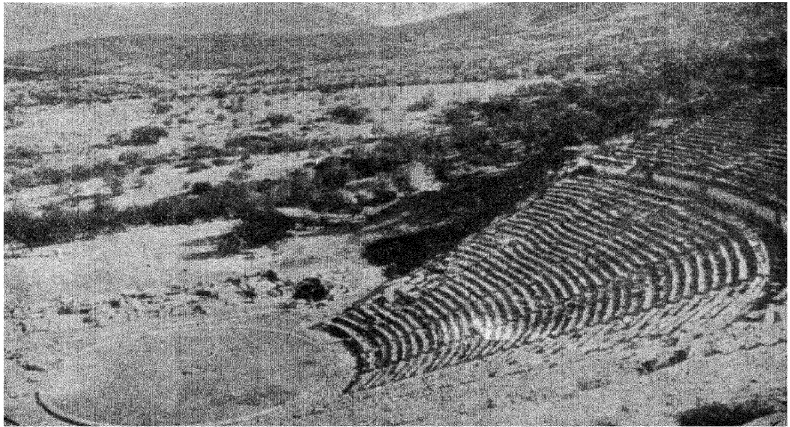
एपीडारस (यूनान) का थियेटर।
यूनानी थियेटर का यह उत्कृष्ट नमूना अब भी अच्छी हालत में है। दर्शकों की अत्यन्त प्रशस्त गैलरी दर्शनीय है।

अंत में उसको जन-साधारण के विचारों को क्षुभित करने का अपराध लगाकर (ई० पू० ३६६ में) प्राणदंड की आज्ञा दी गई। दंडित होने पर तत्कालीन ऐथेन्स के गौरवयुक्त प्रथानुसार, अपने ही घर पर, मित्रमंडली में बैठ कर उसने हैमलौक नामक वस्तु से बने हुए एक अत्यन्त तीव्र विष को पीकर अपना प्राण विसर्जन किया। किन्तु उसके दण्डित होने पर भी लोगों के विचारों की उथल पुथल कम न हुई। सुकरात की शिष्य-मंडली उसकी मृत्यु के बाद जनता में उसकी शिक्षा का प्रचार करने लगी।

इन युवकों में प्लेटो (अफ़लातून) का नाम (ई० पू० ४२७ से लेकर ३४७ पर्य्यंत) विशेषतया उल्लेखयोग्य है। सुकरात की मृत्यु के उपरांत वह ऐकैडमी (उद्यान-विशेष) के कुञ्जों में दर्शन-शास्त्र की शिक्षा दिया करता था जो दो प्रधान भागों में विभक्त थी; अर्थात् मानव-विचार की पद्धति तथा उसके आधारों की जाँच और राजनैतिक संस्थाओं की समीक्षा। वह ही पहला व्यक्ति था जिसने एक यूटोपिया (आदर्श समाज) की रचना की। यूटोपिया वह पुस्तक है जिसमें एक ऐसे समाज की योजना की जाती है जो किसी भी विद्यमान समाज से भिन्न और अच्छा हो। मानव-समाज बिना चूँ-चपड़ किये हुए उपस्थित सामाजिक परम्परा और रीति-रिवाजों को माननेवाले मानव-समाज के सामने ऐसी पुस्तक का रखना वास्तव में बहुत बड़े अभूतपूर्व साहस का कार्य था। मानव-समाज को सम्बोधन कर प्लेटो ने स्पष्ट शब्दों में कहा है; "जिन सामाजिक एवं राजनैतिक बुराइयों के कारण आप इस समय कष्ट उठा रहे हैं उनमें से अधिकांश का निराकरण आपकी ही शक्ति में है। प्रबल इच्छा-शक्ति और साहस के द्वारा आप उन्हें दूर कर सकते हैं। यदि आप विचार करें और अपने विचारों के अनुसार कार्य करें तो आप अब से कहीं अच्छी और बुद्धिमत्तापूर्ण रीति से जीवन यापन कर सकते हैं। आपको अपनी शक्ति का ज्ञान नहीं है।" यह उच्च एवं साहसपूर्ण शिक्षा जन-साधारण के मस्तिष्क में अब भी नहीं घुस पाई है। 'रिपब्लिक' नामक एक ग्रन्थ उसकी प्राथमिक रचना थी। उसमें उसने कुलीनों-द्वारा शासित एक प्रकार के वर्ग-तंत्रवाद ((Communistic Aristocracy)) की कल्पना की है। नियम-विधान Laws नामक एक अधूरा ग्रन्थ इसकी अन्तिम रचना है; और उसमें यूटोपिया अर्थात् भविष्य में आनेवाले सर्वांगपूर्ण समाज के क़ानून-क़ायदों की योजना है।

विचार-प्रणाली और शासन-पद्धति के सम्बन्ध में आलोचन-विवेचन का कार्य प्लेटो के बाद उसके शिष्य अरस्तू जो लाइसियम में शिक्षा देता था, करता रहा। यह मैसीडोनिया-प्रान्त के स्टैगिरा नामक नगर का रहनेवाला था। इसका पिता उस प्रदेश के राजा के यहाँ वैद्य था। अरस्तू ने कुछ समय तक वहाँ के राजपुत्र सिकन्दर

को भी पढ़ाया था जिसके महान् कार्यों का वर्णन हम आगे चलकर करेंगे। विचार-पद्धति के सम्बन्ध में अरस्तू ने जो काम किया उससे मीमांसा-शास्त्र उन्नति की उस अवस्था में जा पहुँचा जहाँ से उसे १,५०० वर्ष तक लोग आगे न ले जा सके। १,५०० वर्ष बाद जब मध्यकालीन विद्वानों ने इस विषय का अध्ययन करना आरम्भ किया तो वे प्राचीन प्रश्नों का विवेचन पुनः करने लगे। इसने कोई यूटोपिया नहीं बनाई। अरस्तू यह जानता था
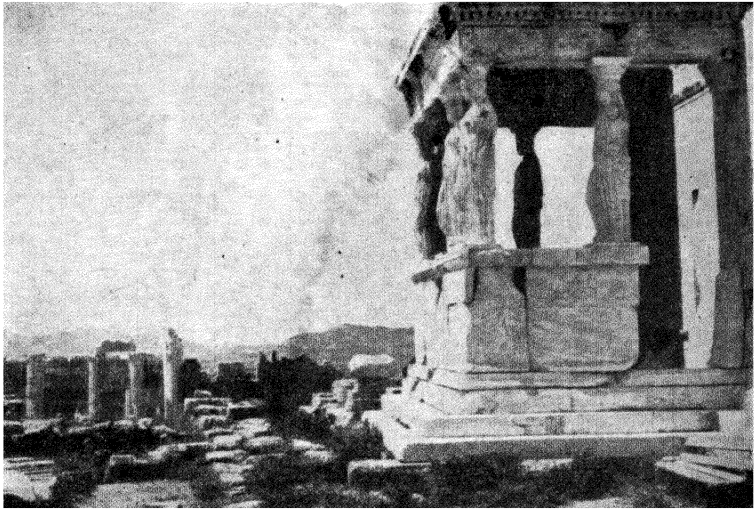
ऐरेक्टियम में मिहराबों को सहारा देनेवाले स्त्री के आकार के बने हुए केरियाइटिडीज़ नामक स्तम्भ। यह प्राचीन पवित्र स्थल ऐक्रोपोलिस (ऐथेन्स) में है।

कि प्लेटो के उपदेशानुसार अपने भाग्य को वश में करके पहले मानव-समाज को अधिक ज्ञान और अधिक निश्चित ज्ञान—की आवश्यकता है। इसलिए अरस्तू ने क्रम-पूर्वक उस ज्ञान को एकत्रित करना आरम्भ किया जिसे आज-कल हम विज्ञान कहते हैं। वह वास्तविक बातों या तथ्य को एकत्रित करने के लिए अनुसंधान करनेवालों को भेजा करता था। वह भौतिक विज्ञान का पिता था। वह राजनैतिक विज्ञान का प्रवर्तक था। लाइसियम

पार्थेनान की ऐथनी

में अध्ययन करनेवाले उसके विद्यार्थियों ने एक सौ अट्ठावन भिन्न भिन्न राज्यों की शासन-प्रणालियों की तुलना करके उनका अध्ययन किया था।

यहाँ ई० पू० चतुर्थ शताब्दी में हमको ऐसे पुरुष मिलते हैं जिन्हें हम 'अर्वाचीन काल के विचारवेत्ता' कह सकते हैं। शिशुवत् स्वप्न-सदृश, पुरातन विचार-पद्धति को अब जीवन-समस्याओं के सम्बन्ध में सुव्यवस्थित समालोचनाओं के आक्रमणों के सामने झुकना पड़ रहा था। उन देवताओं और दानवों की भयंकर सांकेतिक बातों और मूर्तियों का, और उन निषेधों, और टोना-टुटकों और भयों का अन्त हो गया जो स्वतन्त्र विचार के पथ में रोड़े डाल रहे थे। स्वतन्त्र, निश्चयात्मक और क्रम-बद्ध विचार करने की शैली का आरम्भ हुआ। उत्तरीय जङ्गलों से निकलकर, हाल ही में बाहर आनेवाली, इस जाति ने अपने शुद्ध, निर्मल एवं भारहीन-मस्तिष्क-द्वारा प्राचीन मंदिरों के अंधकार-सदृश रहस्य पर मानो दिन के प्रकाश को बिना किसी अवरोध के प्रविष्ट कर दिया।

(२६)

सिकन्दर महान् का साम्राज्य

ई० पू० ४३१ से लेकर ४०४ पर्य्यन्त पैलोपोनेशियन युद्ध से यूनान का विध्वंस हो रहा था। उसी समय उत्तर में उसका सजातीय पड़ोसी, मैसेडोनिया, धीरे-धीरे शक्ति प्राप्त कर अधिकाधिक सभ्य होता जा रहा था। इस देश की भाषा यूनानी से बहुत-कुछ मिलती-जुलती थी और यहाँ के प्रतिद्वंद्वियों ने ओलंपिया के खेलों में कई बार भाग भी लिया था। फ़िलिप नामक एक अत्यन्त योग्य और उच्चाकांक्षी पुरुष ई० पू० ३५९ में इस क्षुद्र देश का राजा बन बैठा। वह अपने देश की ओर से यूनान में कुछ दिनों बंधक रहा था। इसी कारण इसकी संपूर्ण शिक्षा यूनानी प्रणाली से हुई थी; और बहुत संभव है कि समस्त एशिया को सम्मिलित यूनानी शक्ति-द्वारा जीतने का हैरोडोटस का विचार (जिसका मंडन आइसोक्रेटिस नामक दार्शनिक ने किया था) शायद फ़िलिप को मालूम था।

सबसे प्रथम इसने अपने राज्य को बढ़ाकर सुव्यवस्थित किया और साथ ही साथ सेना का भी पुनःसंगठन कर डाला। पिछले सहस्र वर्षों से तो मिलकर लड़ती हुई पैदल सेना और आक्रमणकारी अश्वरथों-द्वारा ही युद्ध के भाग्य का निर्णय होता था। घुड़सवार भी लड़ते थे किंतु वे अकेले-दुकेले अव्यवस्थित रूप से छोटी-मोटी मुठभेड़ ही किया करते थे। फ़िलिप ने अपनी पैदल सेना को पंक्तिबद्ध होकर लड़ना सिखाया जिसे उस समय मैसिडोनियन व्यूह कहा जाता था, और अश्वारोहियों को जिसमें सर्दार होते थे—उसने व्यवस्थित होकर लड़ने की रीति सिखाई और इस प्रकार उसने अश्वारोही सेना अर्थात् रिसाले का आविष्कार किया। इन रिसालों के आक्रमण उसके और उसके पुत्र सिकन्दर के युद्धों में प्रायः अन्तिम और सबसे भयंकर हमले होते थे। पैदल सेना का व्यूह शत्रुओं की पैदल सेना को संमुख रोक रखता था, और रिसाला शत्रु के अश्वारोहियों को छिन्न-भिन्न करके उसकी पैदल सेना के दाहिने-बायें पाश्वों और पृष्ठ को नष्ट कर डालता था। धनुषधारी सैनिक बाणों-द्वारा रथों के घोड़ों को बेकार कर देते थे।

नवीन सैन्यदल के सहारे फ़िलिप अपने राज्य की सीमा बढ़ाकर थिसली की राह यूनान तक जा पहुँचा था और चिरोनिया के युद्ध में (ई० पू० ३३६) ऐथेन्स और उसकी

मित्रमंडली को हराकर उसने समस्त यूनान को अपने अधीन कर लिया। हैरोडोटस का स्वप्न अन्त में सत्य होता दीख पड़ने लगा। समस्त यूनानी राज्यों की सभा ने मिलकर अब फ़िलिप को पारसियों के विरुद्ध संयुक्त यूनान और मैसेडोनिया का सेना-नायक नियत किया। ई० पू० ३३६ में उसकी सेना का अग्रगामी दल उसकी चिरकाल से सोची हुई विजय-यात्रा का आरंभ करके एशिया में पहुँच भी गया। किंतु वह उसका अनुगमन न कर सका। उसका वध कर दिया गया। लोगों का विचार है कि फ़िलिप के द्वितीय विवाह कर लेने पर उसकी प्रथम स्त्री (एलेक्ज़ैंडर की माता) रानी ओलिम्पियस ने ही ईर्ष्यावश उसका वध करा दिया था।

सिकन्दर महान् के शिर की मूर्ति
(ब्रिटिश म्यूज़ियम से)

परन्तु अपने पुत्र को शिक्षा देने के लिए फ़िलिप ने असाधारण प्रयत्न किये थे। संसार के सबसे बड़े दार्शनिक अरस्तू को केवल इस बालक का शिक्षक नियत करके ही पिता के चित्त को शांति नहीं हुई थी वरन् उसने अपने युद्ध-सम्बन्धी विचार और अनुभवों से भी अपने पुत्र को भली-भाँति परिचित कर दिया था। उसने उसे युद्ध का भी अनुभव प्राप्त कराया था। चिरोनिया के युद्ध में अठारह वर्ष के सिकन्दर ने रिसाले का नेतृत्व ग्रहण किया था। यही कारण था कि—राज्यारोहण के समय बीस वर्ष की अल्पावस्था होते हुए भी इस नवयुवक के लिए अपने पिता के अधूरे काम को

एक-दम ले लेना संभव हुआ और वह पारस के आक्रमण की योजना को सफलतापूर्वक कार्य में परिणत कर सका।

मैसेडोनिया और यूनान में दो वर्ष में अपनी परिस्थिति दृढ़ करने के पश्चात् ई० पू० ३३४ में एशिया में घुसकर ग्रेनिकस के युद्ध में इसने अपनी सेना से कुछ ही अधिक बड़ी पारस की फ़ौज को हराकर एशिया माइनर के बहुत-से नगरों पर क़ब्ज़ा कर लिया। परन्तु यह समुद्र के किनारे ही रहा; टायर और सीडन के जहाज़ी बेड़े पारस ही के अधीन थे जिससे समुद्रों पर उसी देश का संपूर्ण आधिपत्य था। इसके कारण तट पर बसे हुए नगरों को अधीन कर उनमें अपनी सेना का छोड़ना सिकन्दर के लिए

ईसस में पारसियों के ऊपर सिकन्दर की विजय।
(दाहिनी ओर रथ पर दारा और बाईं ओर घोड़े पर सिकन्दर।)
यह चित्र पाम्पियाई की पच्चीकारी से लिया गया है।

आवश्यक था। यदि वह अपने पीछे के किसी नगर को शत्रु के हाथ में रहने देता तो यह भय था कि कहीं पारसी लोग वहाँ अपनी सेना उतार कर उसका रास्ता बंद करके उसे अपनी सेना और देश से अलग न कर दें। ई० पू० ३३३ में दारा तृतीय और उसकी विशाल पँचमेली सेना से ईसस नामक स्थान पर उसका सामना हुआ जहाँ उसने उसे नष्ट कर डाला। डेढ़ शताब्दी पूर्व डार्डेनिलिस के जलग्रीव को पार करनेवाली ज़रकसीज़ की सेना के समान यह पारसी सेना भी अत्यन्त अनमिल और बेजोड़ थी। इसके अतिरिक्त, दारा के रनिवास के साथ होने और बहुसंख्यक दरबारी अफ़सरों की उपस्थिति तथा असंख्य

नौकरों के कारण वह बेडौल गई थी। तथा सीडन ने सिकन्दर के सम्मुख आत्मसमर्पण कर दिया परन्तु टायर ने वीरता से उसका सामना किया। अन्त में उस महान् नगर पर शत्रुओं ने अधिकार करके उसे लूटा और अन्त में नष्ट कर दिया। गेज़ा पर भी क़ब्ज़ा कर लिया गया और ई० पू० ३३२ के अन्त में वह विजेता मिस्र में घुस पड़ा जहाँ से पारसियों को निकाल कर देश का शासन उसने अपने हाथों में ले लिया।

उसने सिकंदरेता और सिकंदरिया में बड़े बड़े नगर बसाये जिनमें उसकी सेना स्थल-मार्ग से पहुँच सकती थी। इसलिए वहाँ विद्रोह की संभावना नहीं थी। फ़िनीशियन नगरों का व्यापार इन नगरों में उठ आया। पश्चिमी भूमध्यसागर के फ़िनीशियन इतिहास से अकस्मात् अन्तर्धान हो जाते हैं—और तत्काल ही सिकंदर के बसाये हुए सिकंदरिया आदि नये व्यापारी नगरों में यहूदी प्रकट हो जाते हैं।

जिस प्रकार सिकंदर से पहले तातमीज़, रैमसीज़ और निको ने मिस्र से बैबिलन पर चढ़ाई की थी, उसी प्रकार सिकंदर ने ई० पू० ३३१ में उस नगर पर आक्रमण कर दिया। किंतु उसने टायर होकर यात्रा की। विस्मृत-प्राय निनेवा नगर के खँडहरों के पास आरबेला के मैदान में दारा से उसकी मुठभेड़ हुई और इस युद्ध की सबसे महत्त्वपूर्ण लड़ाई हुई। पारसी रथों का आक्रमण विफल हुआ। मैसिडोनिया के रिसाले ने विशाल पंचमेली पारसी सेना को छिन्न-भिन्न कर दिया और विजय में जो कुछ कमी रह गई थी वह पैदल-व्यूह ने पूरी कर दी। दारा ने पीछे हटती हुई सेना का नेतृत्व ग्रहण किया। उसने सिकंदर को रोकने का फिर उद्योग नहीं किया। वह उत्तर की ओर मेद लोगों के देश में भाग गया। सिकन्दर बैबिलन पहुँचा जो उस समय भी समृद्धिशाली और महत्त्वपूर्ण समझा जाता था। वहाँ से वह सूसा और पार्सिपोलिस गया। वहाँ एक उत्सव के बाद—जिसमें ख़ूब मदिरापान किया गया था—उसने चक्रवर्ती सम्राट् दारा का राजप्रासाद जला दिया।

वहाँ से सिकन्दर ने शीघ्रतापूर्वक मध्य एशिया में अपनी सेना को घुमाया और इस सिलसिले में वह पारसीक साम्राज्य की अंतिम सीमा तक चला गया। पहले वह उत्तर की ओर मुड़ा। दारा का पीछा किया गया। उषाकाल के समय वह पकड़ लिया गया। उस समय वह अपने रथ में मरणासन्न हो रहा था क्योंकि उसके ही आदमियों ने उसका वध कर डाला था। जिस समय यूनानी सेना के अग्रतम दलवाले वहाँ पहुँचे, उस समय तो वह जीवित था, किंतु सिकन्दर के वहाँ पहुँचने के पहले ही उसकी मृत्यु हो चुकी थी। सिकन्दर कैस्पियन समुद्र के किनारे तक पहुँच गया। वह पश्चिमी तुर्किस्तान के पहाड़ों में घुस गया और फिर हिरात (जिसे उसने स्थापित किया), काबुल और ख़ैबर की

घाटी में होता हुआ भारतवर्ष में पहुँचा। वहाँ सिंधु नदी के किनारे* एक भारतीय राजा पुरु से उसकी एक बड़ी लड़ाई हुई। यहाँ मैसिडोनियन सेना को पहले पहल हाथियों से लड़ने का अवसर मिला, किंतु उन्होंने हाथियों की सेना को भी परास्त कर दिया। अंत में जहाज़ बना कर वह सिंधु नदी के मुहाने की ओर बढ़ा और वहाँ से बलूचिस्तान के किनारे किनारे छः वर्ष की अनुपस्थिति के बाद ई० पू० ३२४ में सूसा जा पहुँचा। यहाँ आकर अब सिकन्दर ने इस विशाल साम्राज्य को व्यवस्था-द्वारा दृढ़ करने और नवीन प्रजा को संतुष्ट रखने के प्रयत्न प्रारम्भ किये; और पारसीक सम्राटों की भाँति वस्त्र तथा मुकुट भी धारण करना आरम्भ किया। परन्तु अंतिम कार्य के कारण मैसीडोनिया के सेना-नायक उससे ईर्ष्या करने लगे जिसका उसे कुछ दुःख भी हुआ।

अपोलो बेलवेडियर।
यह मूर्ति रोम में पोप के वेटिकन नामक महल के संग्रहालय में रक्षित है।

---

* यह युद्ध वास्तव में झेलम नदी के किनारे हुआ था—अनुवादक।

सम्राट् ने बैबिलन-निवासी स्त्रियों से अपने कितने ही सेनानायकों का विवाह करवा दिया जिससे 'पूर्व और पश्चिम' का वैवाहिक सम्बन्ध भी स्थापित हो गया। परन्तु अपनी इस संगठन-नीति का फल देखना उसके भाग्य में नहीं लिखा था और एक दिन साथियों के बीच अत्यन्त अधिक मदिरा पी जाने से उसको ज्वर आगया जिससे ई० पू० ३२३ में बैबिलन में उसका प्राणान्त हो गया।

फिर यह विशाल साम्राज्य भी उसकी मृत्यु के बाद तुरन्त छिन्न-भिन्न हो गया। पारसी साम्राज्य का अधिकांश भाग (अर्थात् सिंधुनद से लेकर ऐफ़ेसस पर्य्यंत के भू-प्रदेशों को) सैल्यूकस नामक एक सेना-नायक ने हथिया लिया। मिस्र देश टौलेमी ने ले लिया और मैसिडोनिया पर ऐन्टिगोनस का अधिकार हो गया। शेष साम्राज्य में स्थान स्थान पर कभी कोई सूरमा स्वामी बन बैठता था और कभी कोई। टिकाऊ बात कुछ भी नहीं थी। फिर कुछ काल पश्चात् बर्बर जातियों के आक्रमण भी उत्तर दिशा की ओर से दिन प्रतिदिन अधिकाधिक तीव्र और भयङ्कर होने लगे। पश्चिम में उत्पन्न होनेवाली 'रोम-प्रजातन्त्र' नामक एक नवीन महाशक्ति ने—जिसका वर्णन हम आगे करेंगे—खंड खंड भूमि पर अपना अधिकार जमाकर जब तक अधिक स्थायी साम्राज्य की स्थापना नहीं कर ली तब तक इन भू-भागों पर बर्बरों के ऐसे ही आक्रमण होते रहे।

———

(२७)

सिकंदरिया का पुस्तकालय और अजायबघर

सिकंदर के समय के पहले ही से यूनानी लोग अधिकांश पारसीक साम्राज्यों के भागों में व्यापारियों, कारीगरों, राजकर्मचारियों और वेतनभोगी सैनिकों के रूप में घुस रहे थे। जरकसीज़ की मृत्यु के बाद वहाँ के राजवंश में गृहकलह आरंभ हुआ। इस कलह में ज़ेनोफ़न नामक एक यूनानी सेनापति की अध्यक्षता में दस हज़ार वेतनभोगी ग्रीक सैनिकों ने भाग लिया था। बैबिलन से उनके एशियायी यूनान में लौटने की कथा ज़ेनोफ़न ने अपनी "रिट्रीट आफ़ दि टैन थाउज़ैण्ड" नामक पुस्तक में लिखी है। युद्ध की कहानियों की यही सर्वप्रथम पुस्तक है जिसे किसी सेना के अधिपति ने लिखा है। सिकंदर की विजयों और उसके क्षणिक साम्राज्य के उसके सेनापतियों में बँट जाने से प्राचीन संसार में यूनानियों और उनकी भाषा, रीति-रिवाजों और सभ्यता के फैलने में बड़ी उत्तेजना मिली। यूनानियों के इस प्रकार के चिह्न सुदूरवर्ती मध्य एशिया और उत्तर पश्चिमी भारत में अब भी मिलते हैं। भारत की कला के विकास पर उनका गहरा प्रभाव पड़ा।

कहने को तो ऐथेन्स सदियों तक कला और संस्कृति का केन्द्र माना जाता रहा और वहाँ के शिक्षणालय ई० सन् ५२६ अर्थात् लगभग एक सहस्र वर्षपर्यन्त चलते भी रहे, परन्तु थोड़े ही दिनों में संसार का बौद्धिक नेतृत्व सिकन्दर-द्वारा स्थापित—भूमध्यसागर के उस पार बसे हुए—अलेक्ज़ेंड्रिया नामक एक नवीन व्यापारिक नगर को प्राप्त हुआ। मैसेडोनिया-निवासी एक सेनानायक टौलेमी इस देश का राजा हो गया। उसने फ़ैराओ की उपाधि धारण कर ली और यूनानी को राज्य-भाषा बनाया। राजा होने से पूर्व यह व्यक्ति सिकन्दर का अत्यन्त अभिन्न-हृदय मित्र था; और वह अरस्तू के सिद्धांतों से ओत-प्रोत हो रहा था। राजा होते ही इसने ज्ञान और गवेषणा का कार्य योग्यतापूर्वक सुव्यवस्थित कर डाला। इसने सिकन्दर के युद्धों का एक इतिहास भी लिखा था किन्तु अभाग्य से वह लुप्त हो गया है।

सिकन्दर ने अरस्तू की गवेषणाओं को जारी रखने के लिए प्रचुर धन से सहायता की थी। परन्तु विज्ञान के लिए सर्वप्रथम स्थायी निधि टौलेमी प्रथम ने ही स्थापित की।

म्यूज़ैज़ कहलानेवाली यूनान की विद्या की नौ अधिष्ठात्री देवियों के प्रीत्यर्थ इसने अलेक्ज़ेंड्रिया में एक म्यूज़ियम (अथवा विद्यामन्दिर) बनवाकर उन्हीं देवियों के नाम से अर्पण कर दिया जो सिकंदरिया का म्यूज़ियम हुआ। दो-तीन पीढ़ियों तक सिकंदरिया में बड़ा महत्त्वपूर्ण वैज्ञानिक काम हुआ। ज्यामिति-शास्त्र के निर्माता 'यूक्लिड', पृथ्वी के आकार का पता लगानेवाले ऐराटौस्थेमीज़—जिनकी निकाली हुई पृथ्वी के व्यास की लम्बाई में अब केवल पचास मील ही की अशुद्धि पाई जाती है—Conic Section (शंकुगणित) के लेखक ऐपोलोनियस, तारों का सर्वप्रथम मानचित्र और सूची बनानेवाले हिपारकस और वाष्प-चालित एंजिन के सर्वप्रथम आविष्कारक हैरो—ये सब महापुरुष वहाँ के वैज्ञानिक आकाश के जाज्वल्यमान नक्षत्रों में अधिक प्रभा-पूर्ण नक्षत्र थे। प्रसिद्ध विज्ञान-वेत्ता आर्किमिडीज़ साइराक्यूज़ से अध्ययन करने के लिए यहाँ आया था और इस म्यूज़ियम में बहुधा आता-जाता रहता था। हैरौफ़िलस शरीर-रचना-शास्त्र के अत्यन्त दिग्गज यूनानी पंडित थे और कहा जाता है कि वे जीवित प्राणियों के अंग-छेदन की क्रिया करते थे।

सम्राट् टैलेमी प्रथम और द्वितीय के शासन-काल में एक या दो पीढ़ियों तक—अलेक्ज़ेंड्रिया की वैज्ञानिक गवेषणाओं और विद्या का प्रकाश इतना तीव्र रहा कि वैसा फिर संसार को ईसा की सोलहवीं शताब्दी तक नसीब न हो सका। परन्तु वह स्थायी न था। अध्यापक मैहेफ़ी का मत है कि उसके ह्रास का मुख्य कारण यह था कि वह 'राजा का' विद्यालय था और उसके अध्यापकों तथा सदस्यों की नियुक्ति स्वयं फ़राओ करता था और उनका वेतन भी वही देता था। अरस्तू का शिष्य और मित्र-सम्राट् टौलेमी 'प्रथम' जब तक फ़राओ रहा तब तक तो काम ठीक ठीक चलता रहा, परन्तु उसकी मृत्यु के बाद मिस्रदेशीय भाव घुस आने के कारण टैलेमी-राजवंश के लोग ज्यों-ज्यों पुरोहितों के फन्दे में पड़कर उस देश के धर्म की उन्नति में दत्तचित्त होने लगे, त्यों त्यों उनकी रुचि विद्यालय के कार्यों से उठती गई और इस नियंत्रण के कारण गवेषणा के भाव का गला घुट-सा गया। प्रथम सौ वर्ष के कार्य के पश्चात् म्यूज़ियम ने कोई महत्त्वपूर्ण काम नहीं किया।

आधुनिक वैज्ञानिक प्रवृत्ति लेकर अकेले ज्ञानार्जन की व्यवस्था करना ही टैलेमी प्रथम का ध्येय न था। अलेक्ज़ेंड्रिया के पुस्तकालय में उसने समस्त विश्व-ज्ञान को एकत्रित करने का भी प्रयत्न किया था। वहाँ पर न केवल पुस्तकों का संचय था, वरन् उनको लिखकर बेचने की भी पूरी-पूरी व्यवस्था की जाती थी। वहाँ नक़लनवीसों का एक समूह पुस्तकों की प्रतिलिपि करके उनकी संख्या सदा बढ़ाया करता था।

वर्त्तमान-कालीन मानसिक जीवन-विधि का वास्तव में इसी समय प्रारम्भ होता है; और ज्ञानार्जन के पश्चात् सुव्यवस्थित रूप से उसका प्रचार भी इसी काल से आरम्भ होता है। अलेक्ज़ेंड्रिया के म्यूज़ियम और पुस्तकालय की स्थापना ने मानव-इतिहास में मनुष्य-जाति के एक महान् युग का आविर्भाव किया। आधुनिक इतिहास का प्रारम्भ भी वास्तव में यहीं से होता है।

अरस्तू
हर्क्यूलेनियम से प्राप्त कदाचित् ई० पू० चतुर्थ शताब्दी की बनी हुई मूर्ति।

वैज्ञानिक गवेषणाओं और उनके प्रचार का कार्य विघ्न-बाधाओं के होते हुए भी चलता रहा। एक कठिनाई तो यह थी कि इस समय लोग दार्शनिक को "भलमानुस" या "शरीफ़" समझते थे और उसके तथा व्यापारियों और कारीगरों के बीच बड़ा सामाजिक अंतर था। उन दिनों काँच का कार्य करनेवालों तथा ठठेरों का बाहुल्य था पर इन वैज्ञानिकों से उनका कुछ भी मानसिक संपर्क न था। काँच का कारीगर अत्यन्त सुन्दर रंग-बिरंगी शीशियाँ अथवा पोत बनाता था पर उसने लैन्स (आकार-वर्द्धक काँच) अथवा फ़्लोरेंस के जैसे सुप्रसिद्ध एवं सुन्दर पान-पात्र कभी नहीं बनाये। स्वच्छ काँच बनाने की ओर उसका ध्यान कभी नहीं गया। इसी प्रकार धातु का कार्य करनेवाले कुशल कारीगर हथियार और आभूषण तो अच्छे-से-अच्छे बनाते

थे, परन्तु उन्होंने वैज्ञानिक (तुला) तराज़ू कभी न बनाई। दार्शनिक भी अणु और पदार्थों की प्रकृति के विषय में तो बहुत विचार करता था; परन्तु उसे मुलम्मा, रंग, इत्यादि का व्यावहारिक ज्ञान नहीं था। होता भी कहाँ से! पदार्थों की ओर तो उसका ध्यान ही न था। यही कारण था कि अपने अल्प अवसर के दिनों में अलेक्ज़ेंड्रिया ने न तो कोई सूक्ष्मदर्शक यंत्र ही उत्पन्न किया और न कोई रसायन-शास्त्र ही। यद्यपि हेरो ने वाष्पचालित एञ्जिन का आविष्कार किया तथापि उसकी सहायता से न कभी पानी फेंका गया, न नाव ही चलाई गई और न कोई अन्य लाभदायक कार्य ही हुआ। ओषधि-विभाग को छोड़कर, विज्ञान का व्यावहारिक उपयोग उस समय बहुत कम किया गया। विज्ञान का व्यावहारिक उपयोग करने से लोगों का ध्यान उस ओर आकर्षित होता है। इस ध्यान और उत्साह से ज्ञान की उन्नति को उत्तेजना मिलती है और उससे उसकी उन्नति कुछ दिनों चलती है। अतएव जब टौलेमी प्रथम तथा द्वितीय का मानसिक कौतूहल न रहा तब काम को चालू रखने के लिए कोई हेतु न रह गया। म्यूज़ियम के वैज्ञानिक अनुसंधान ऐसी हस्तलिखित पुस्तकों ही में धरे रह गये जिन्हें कोई न जानता था, और जब तक यूरोप में मानसिक पुनरुत्थान (रेनेसेन्स) न हुआ तब तक मनुष्य-जाति को उनका पता भी न चला। फिर, योरपीय पुनरुत्थान के समय, वैज्ञानिक कौतूहल का पुनर्जीवन होने पर ही मानव-समाज को इनका अस्तित्व मालूम हुआ।

और न पुस्तकालय ने पुस्तक तयार करने की कला ही में कोई उन्नति की। प्राचीन संसार के लोग चिथड़ों से काग़ज़ बनाना न जानते थे। यह आविष्कार तो चीनियों ने किया था। पश्चिमीय जगत् को इसका ज्ञान ईसा की नवीं शताब्दी से प्रथम न था। अतएव चर्मपत्र अथवा 'पैपाइरस' नामक वृक्ष की छाल के टुकड़ों पर ही—जिनके सिरे जोड़ लिये जाते थे—उस समय पुस्तकें लिखी जाती थीं; और वे जन्मपत्र की भाँति लपेट कर रखी जाती थीं। इनको खोलने, पढ़ने और प्रसङ्ग आ पड़ने पर अध्ययन करने में बड़ी ही कठिनाइयाँ होती थीं। इन्हीं कारणों से, पृष्ठोंवाली, छपी हुई पुस्तकों का विकास न हो सका। छापना तो मनुष्यों को पाषाणयुग में भी आता था। मुद्राओं का चलन प्राचीन सुमेरिया में भी था; परन्तु काग़ज़ का बाहुल्य न होने के कारण पुस्तकों के मुद्रण में कोई लाभ न था। यह भी संभव है कि नक़लनवीसों के अपने व्यवसाय की रक्षा करने की प्रवृत्ति ने भी पुस्तक-मुद्रण की कला के विकास होने में बाधा दी हो। इसका निष्कर्ष यह है कि अलेक्ज़ेंड्रिया में पुस्तकों का बाहुल्य होते हुए भी, उनके सस्ते न होने के कारण, ज्ञान का प्रचार जनसाधारण

में न हो पाया और वह तत्कालीन धनाढ्य एवं प्रभावशाली व्यक्तियों तक ही परिमित रहा।

मैत्रेय की मूर्ति।
ईसवी तीसरी शताब्दी की यूनानी-बौद्ध मूर्तिकला का नमूना।
(मालकंद में प्राप्त यह मूर्ति इण्डियन म्यूज़ियम में रखी है।)

इस प्रकार इस मानसिक अध्यवसाय की ज्ञान-ज्योति उन थोड़े-से लोगों तक ही परिमित थी जो उन तत्ववेत्ताओं के संपर्क में थे जिन्हें टौलेमी-वंश के प्रथम दो राजाओं ने एकत्रित किया था। धुँधली लालटेन के भीतर रक्खे हुए दीप-प्रकाश की उपमा उसके सम्बन्ध में ठीक घटित होती है; क्योंकि ऐसी दशा में लालटेन के भीतर जाज्वल्यमान प्रकाश होते हुए भी काली और मैली चिमनी के कारण लोग उसे देख नहीं पाते। संसार उसी पुराने ढर्रे पर चला जाता था और उसको इस बात की ख़बर ही न थी कि भौतिक तत्त्व-ज्ञान का बीज बो दिया गया है और इसके फल-स्वरूप एक दिन समस्त जगत् में क्रांति-सी मच जायगी। परन्तु अलेक्ज़ेंड्रिया में भी थोड़े ही दिनों में अंधविश्वास के बादल छा गये और अगले सहस्र वर्ष तक अरस्तू का बोया हुआ यह बीज यों ही अंधकार में पड़ा रहा। परन्तु बाद में इसमें कुछ स्पन्दन हुआ और अंकुर निकलने लगे। कुछ ही शताब्दियों में वह अंकुर ज्ञान और स्पष्ट विचारों का इतना विशद वृक्ष हो गया कि उससे आज समस्त मानव-जीवन ही परिवर्त्तित हो रहा है।

ई० पू० तृतीय शताब्दी में यूनानियों की मानसिक उन्नति का केन्द्र केवल अलेक्ज़ेंड्रिया ही न था। अलेक्ज़ेंडर के अल्प-कालीन बृहत् साम्राज्य के छिन्न-भिन्न होनेवाले अनेक भागों में कितने नगर पड़े हुए थे जहाँ मानसिक जीवन की ज्योति जगमगा रही थी। उदाहरणार्थ सिसली का साइराक्यूज़ नामक यूनानी नगर था जिसमें दो शताब्दी

पर्य्यंत विचार और विज्ञान की ख़ूब चर्चा रही। इसी प्रकार, एशिया माइनर के 'परगैमम' नामक नगर में भी एक बृहत् पुस्तकालय था। परन्तु इस भव्य यूनानी संसार पर अब उत्तर की ओर से आक्रमणों के प्रहार होने लग गये थे। यूनान, फ़्रीजिया और मैसेडोनिया-निवासियों के पुरखा जिस राह से आये थे उसी से नार्ड वंशज, गॉल नामक, एक बर्बर जाति के समूह के समूह अब प्रवेश करने लगे। इन प्रहारों के कारण यूनानी समाज पहले तो डगमगाया और फिर चकनाचूर हो गया। गॉल-जाति के बाद ही अपने को 'रोमन' कहनेवाले नवीन विजयी लोग इटली से निकल पड़े और इन्होंने दारा और सिकन्दर के बृहत् साम्राज्य का समस्त पश्चिमार्द्ध धीरे धीरे हथिया लिया। योग्य होते हुए भी इनमें

बुद्ध का निर्वाण।
स्वात नदी की घाटी की एक यूनानी बौद्ध-मूर्ति।
(कदाचित् ३५० ई० की बनी हुई)

कल्पनाशक्ति का अभाव था। ये लोग विज्ञान और कला की अपेक्षा क़ानून और लाभ की ओर ही अधिक ध्यान देते थे। इसी समय मध्यएशिया की आक्रमणकारी जातियों ने सैल्यूकस का साम्राज्य छिन्न-भिन्न कर दिया जिससे पश्चिमीय जगत् का सम्बन्ध भारत से टूट गया। ये पार्थियन नामक धनुर्धारी घुड़सवार थे जो बड़े बड़े झुण्डों में चलते थे। इन्होंने ई० पू० तीसरी शताब्दी में पार्सिपोलिस और सूसा के यूनानी-पारसी-साम्राज्य

की प्रायः वही दशा की जो मेद और पारसीकों ने उसकी छठी और सातवीं ई० पू० शताब्दियों में की थी। इसके अतिरिक्त अन्य गृह-विहीन भ्रमणशील जङ्गली जातियाँ भी इस समय पूर्वोत्तर कोण से निकल रही थीं। परन्तु आर्य-भाषा-भाषी सुन्दर गौरकाय नार्डिक वंशजों के विपरीत ये पीतकाय, कृष्णकेशी जातियाँ, मंगोल बोलियाँ बोलती थीं। इनका विशेष वृत्तान्त हम आगे चलकर लिखेंगे।

(२८)

गौतम बुद्ध की जीवनी

अब हम अपनी कथा को तीन शताब्दी पीछे ले जाते हैं; कारण यह है कि हमें एक ऐसे महान् शिक्षक का उल्लेख करना है जिसने समस्त एशिया के धार्मिक जगत् में एक क्रांति उत्पन्न कर दी थी। उसका नाम था गौतम बुद्ध। जिस समय पैग़म्बर इसाया बैबिलन में यहूदियों को अपनी भविष्यवाणी सुना रहे थे, और ऐफ़िसस में बैठे हुए हैराक्लि-टीज़ प्राकृतिक जगत् के तत्त्वों पर दार्शनिक विचार कर रहे थे, लगभग उसी समय यह महापुरुष भी वाराणसी में विद्यार्थियों को शिक्षा दे रहा था। पृथ्वी पर ये सब महात्मागण एक ही समय अर्थात् ईसामसीह से छः सौ वर्ष पूर्व अवतीर्ण हुए थे; परन्तु एक को दूसरे का कुछ भी पता न था।

ई० पू० छठी शताब्दी ससार के इतिहास में निस्संदेह अद्वितीय है। मनुष्य का मस्तिष्क इस शताब्दी में प्रायः सर्वत्र ही एक अपूर्व प्रतिभा दिखा रहा था। हमने 'सर्वत्र' इसलिए कहा है क्योंकि चीन में भी उसी समय ऐसी ही बौद्धिक क्रांति हो रही थी। प्रत्येक स्थान के निवासी राजा, पुरोहित और बलिप्रदान-सम्बन्धी रूढ़ियों के बंधनों से मुक्त होकर अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रश्नों की मीमांसा में लगे हुए थे। ऐसा प्रतीत होता था मानो २,००० वर्ष के शैशवकाल को व्यतीत कर मनुष्य-जाति युवावस्था में पदार्पण कर रही थी।

भारत का आरंभिक इतिहास इस समय भी अंधकार में छिपा हुआ है। ईसा से लगभग २,००० वर्ष पूर्व आर्य-भाषा-भाषी पुरुष एक अथवा अनेक आक्रमणों-द्वारा पश्चिमोत्तर कोण से आकर भारत में बस गये थे और उन्होंने अपनी भाषा, सभ्यता एवं आचार-विचार उत्तरीय भारत के प्रायः सब भागों में फैला दिये थे। यह जाति जिस आर्यवाणी को बोला करती थी वह संस्कृत कहलाती है। ये लोग जिस समय इस देश में आये उस समय गंगा और सिंधु के प्रदेशों पर एक श्यामवर्ण जाति का अधिकार था। उस जाति की सभ्यता तो अधिक जटिल थी परन्तु मनोबल की उसमें बहुत कमी थी। आर्य-जाति इनके साथ उतनी स्वच्छन्दता से मिश्रित नहीं हुई जितनी स्वच्छन्दता से यूनानी

और पारसीक मिश्रित हुए थे। वे उनसे अलग बने रहे। जिस समय भारतवर्ष का इतिहास ऐतिहासिकों को सबसे पहले अस्पष्ट रूप से दिखलाई देने लगता है उस समय भी भारतीय समाज में वर्ण-विभाग विद्यमान पाया जाता है। इन वर्णों के उपभेद भी दिखलाई पड़ते हैं जिनमें आपस में न तो सहभोज हो सकता था और न विवाह; और न स्वच्छन्द सामाजिक संमिलन। यह वर्ण-विभाग भारत के समस्त इतिहास में मौजूद है। यही कारण है कि परस्पर स्वतन्त्रतापूर्वक रोटी-बेटी का सम्बन्ध रखनेवाली सरल योरोपीय और मंगोल जातियों से भारतीय जाति में की कुछ भिन्नता हो जाती है। वास्तव में हिंदू (भारतीय) समाज छोटे छोटे समाजों से बना हुआ एक बृहत् समुदाय है।

हिमालय-उपत्यका-स्थित एक प्रांत पर राज्य करनेवाले एक राजवंश में सिद्धार्थ गौतम का जन्म हुआ था। उनका विवाह उन्नीस वर्ष की अवस्था में एक सुन्दरी से हुआ था जो नाते में उनकी बहन लगती थी। युवावस्था में उनको मृगया तथा अन्य आमोद-प्रमोदों का भी व्यसन था और वे अपना समय बहुधा उपवनों, कुञ्जों तथा हरे-भरे धान के खेतों में बिताया करते थे। परन्तु इस प्रकार के जीवन में भी उनके हृदय में असंतोष के अंकुर जमने लगे। गौतम का असंतोष साधारण असंतोष न था। प्रत्युत उनकी एक ऐसे अद्वितीय मस्तिष्क की प्रबल व्यथा थी जो महान् कार्य करने के लिए तड़प रही थी। उन्हें ऐसा प्रतीत होने लगा कि जिस प्रकार का जीवन मैं व्यतीत कर रहा हूँ वह वास्तविक जीवन नहीं है प्रत्युत एक अवकाशमात्र है—और वह भी ऐसा अवकाश है जो अपनी अवधि से कहीं अधिक बढ़ गया हो।

फिर गौतम को यह बोध हुआ कि संसार में रोग और मृत्यु के कारण सारे सुख अपूर्ण क्षणिक हैं। वे इसी संकल्प-विकल्प में थे कि उनका समागम एक परिव्राजक साधु से हो गया। साधुओं के आचार-संबंधी नियम बहुत कड़े होते थे और वे अपने समय का अधिक भाग ध्यान तथा धर्मचर्चा में व्यतीत करते थे। जीवन के वास्तविक तत्त्व को मालूम करना ही उनका ध्येय था। गौतम के हृदय में भी इस तत्त्व की खोज की उत्कट अभिलाषा उत्पन्न हो गई।

उनकी कथा में लिखा है कि वे इस योजना पर विचार कर ही रहे थे कि उन्हें पुत्र-जन्म का शुभ संवाद मिला। इसे सुनते ही गौतम के हृदय में विचार उठा कि यह अब दूसरा बंधन हो गया जो तोड़ना पड़ेगा।

जब वे नगर को लौटे तो देखा कि उनके कुटुम्बी, पुत्र-जन्म की ख़ुशियाँ मना रहे हैं। इस बंधन के उपलक्ष में भोज दिये गये और नाच कराये गये परन्तु मानसिक व्यथा के कारण रात्रि में उनकी आँख खुल गई। उनकी दशा उस पुरुष की भाँति

तिब्बत की बुद्ध-मूर्ति
(यह पीतल की मुलम्मा की हुई मूर्ति इंडिया-म्यूज़ियम में रखी है।)

थी जिसको अपने घर में आग लग जाने की सूचना मिली हो। उन्होंने अपने सुखी परंतु उद्देश्यहीन जीवन को त्यागने का निश्चय कर लिया। वे चुपके से अपनी स्त्री के शयनमंदिर के द्वार पर पहुँचे। उन्होंने तेल के छोटे से दीपक के प्रकाश में देखा कि उनकी स्त्री नवजात शिशु को बाँहों में लिपटाये हुए फूल-शय्या पर आनन्द से सो रही है। उनकी यह प्रबल इच्छा हुई कि वे नवजात शिशु को प्रथम और अंतिम बार छाती से लगा लें। परंतु स्त्री के जाग जाने के भय से वे रुक गये और अंत में घोड़े पर सवार होकर वे भारतीय निर्मल चाँदनी में उसी रात घर से निकल पड़े।

रात्रि में वे बड़ी दूर निकल गये। प्रातःकाल जब वे अपने राज्य की सीमा से आगे निकल गये तब उन्होंने अपना घोड़ा एक नदी के तीर की रेती में रोका। उन्होंने अपने लंबे लंबे केशों को तलवार से काटा और आभूषण उतार डाले और उनको, घोड़े तथा तलवार-सहित, अपने घर भेजवा दिया। कुछ और आगे बढ़ने पर एक भिखारी मिला। उन्होंने उससे अपने वस्त्र बदल लिये। इस प्रकार समस्त सांसारिक बंधनों को काट कर उन्होंने ज्ञानप्राप्ति के लिए स्वतंत्रता प्राप्त की। दक्षिण-दिशा में विंध्य-गिरि के अंचल में साधु-संतों के आश्रम थे। वे अब उसी ओर चल दिये। साधु-समाज पर्वत-कंदराओं में निवास करता था। केवल भिक्षावृत्ति के लिए ही नगर में उसको आना पड़ता था। यदि कोई जिज्ञासु उनके पास आता तो वे उसे धर्मोपदेश दिया करते। परंतु समस्त दर्शनों में पारंगत हो जाने पर भी गौतम की आत्मा को उन वचनों से तृप्ति न हुई।

भारतीयों का यह सदा से विश्वास रहा है कि घोर तपस्या और उपवास करने, निद्रा जीतने तथा शरीर को विविध प्रकार के कष्ट देने से अपूर्व ज्ञान तथा बल की प्राप्ति होती है। गौतम ने इन विचारों को अब परीक्षा की कसौटी पर कसा। पाँच शिष्यों को साथ ले, वे जंगल में चले गये और वहाँ उपवास तथा घोर तपस्या करने लगे। कठिन तपश्चर्या के कारण आकाश में टँगे हुए विशाल घंटे के शब्द की भाँति उनका यश चारों ओर फैल गया; परंतु उनको सत्य का तनिक भी बोध न हुआ। अत्यंत दुर्बल दशा में, एक दिन टहलते हुए वे इसी विषय का चिंतन कर रहे थे कि सहसा वे मूर्च्छित होकर गिर पड़े। संज्ञा-लाभ करते ही यह बात स्पष्टतया उनकी समझ में आ गई कि जादू-टोने के समान इन साधनों से ज्ञान-प्राप्ति असंभव है।

क्षुधा-निवृत्ति के लिए जब उन्होंने साधारण भोजन माँगा और भविष्य के लिए तपस्या करना अस्वीकार कर दिया, तो उनके साथी घबरा गये। परंतु उन्होंने तो अब अनुभव कर लिया था कि सबल मस्तिष्क और स्वस्थ शरीर से ही मनुष्य सत्य की खोज कर सकता है। परंतु ये विचार उस समय देश तथा काल दोनों ही के विरुद्ध थे। दुःखित

शिष्यवर्ग उनका साथ छोड़ बनारस की ओर चला गया। गौतम अकेले ही रह गये। जब हम किसी जटिल एवं गहन विषय का मनन करते हैं, तब उस विषय का हमारा ज्ञान इतने धीरे धीरे बढ़ता है कि उसकी वृद्धि का हमको लेशमात्र भी बोध नहीं होता। परन्तु पूर्ण ज्ञान प्राप्त करते ही सहसा प्रकाश की भाँति, अंतरात्मा दीप्तिमान् हो उठती है और उसी समय आत्मा को पूर्ण विजय का बोध होता है। ठीक यही दशा गौतम की भी हुई। नदी के तीर एक बड़े वृक्ष के नीचे वे भोजन करने बैठे ही थे कि उन्हें यह दिव्य ज्योति प्राप्त हुई। सत्य जीवन क्या है?—यह उनको अब प्रत्यक्ष दीखने लगा। कहा जाता है कि वह इस विषय पर पूरे एक दिन और एक रात्रि-पर्य्यंत गंभीर विचार करते रहे और इसके उपरांत संसार को अपने इस ज्ञान को सिखाने के लिए चल पड़े।

ब्रह्मदेश की बुद्ध-मूर्ति
यह मूर्ति संगमर्मर की बनी है और माँडले से लाई गई है।
इस समय यह इंडिया-म्यूज़ियम में है।

वे बनारस गये। वहाँ जाकर उन्होंने उन शिष्यों को, जो उन्हें जंगल में छोड़कर चल दिये थे, खोज निकाला और उनको नवीन उपदेश सुनाकर फिर से अपना

शिष्य बनाया। अब वे बनारस में मृगदाव (सारनाथ) में कुटिया बना कर रहने लगे और वहाँ उन्होंने एक प्रकार का विद्यालय खोल दिया जिसमें कितने ही ज्ञान के इच्छुक आने लगे।

उनके उपदेश का प्रारंभ उसी प्रश्न से होता है जो युवावस्था में उनके हृदय में उठा था—अर्थात् मेरे पूर्ण सुखी न होने का क्या कारण है? यह प्रश्न आत्मपरीक्षण के लिए था। इस भारतीय शिक्षक ने 'स्व' अर्थात् (अहंभाव) को नहीं भुलाया। इन्होंने इसी 'अहं' भाव पर विशेषरूप से ज़ोर दिया और वे चाहते थे कि मनुष्य अपने अहंकार को मिटा दे। मनुष्य की वासनायें ही दुख का मूल हैं—यही इनकी शिक्षा थी। जब तक मनुष्य की वासनाओं का अंत नहीं होता, तब तक उसका जीवन कष्टमय रहेगा और अंत भी दुख-पूर्ण होगा। जीवन में तीन प्रकार की वासनायें होती हैं और तीनों ही बुरी हैं। प्रथम वासना में क्षुधा, लोभ तथा सब प्रकार के विषय-भोगों की गणना होती है। व्यक्तिगत अहंकार की और अमरत्व की वासनायें द्वितीय श्रेणी की वासनायें हैं। तीसरी वासना व्यक्तिगत सफलता, सांसारिकता, लोभ इत्यादि हैं। प्रत्येक प्रकार की वासना को जीत कर ही मनुष्य जीवन-जनित कष्ट एवं घृणा से बच सकता है। इनको जीत लेने पर और अहंभाव के नाश हो जाने पर आत्मा को परम पद अर्थात् निर्वाण की प्राप्ति होती है।

धमेख स्तूप
सारनाथ
(यह छठी शताब्दी ईसवी में बना है।)

यही इनके उपदेशों का सार है। यूनानियों के उपदेशों से, जो यह कहते हैं कि प्रत्येक वस्तु को ध्यानपूर्वक देखो और भयरहित होकर ठीक ठीक समझो, तथा

यहूदी लोगों के उपदेशों से, जो यह कहते हैं कि ईश्वर का भय खाकर सत्य मार्ग का अवलम्बन करो, ये (भारतीय) दार्शनिक विचार कहीं अधिक जटिल एवं गंभीर हैं और उतनी सुगमता से समझ में भी नहीं आते। ये उपदेश तो गौतम के प्रमुख शिष्यों की भी समझ में भलीभाँति न आ सके थे। यही कारण है कि ज्यों ही गौतम के व्यक्तित्व का प्रभाव जाता रहा, त्यों ही ये उपदेश दूषित हो गये। उस समय भारतीय जनता का यह विश्वास था कि बहुत काल बीतने के उपरांत, समय समय पर पुरुषविशेष-द्वारा पृथ्वी पर ज्ञान का प्रकाश होता रहता है। इस पुरुषविशेष को "बुद्ध" कहते हैं। गौतम के शिष्यवर्ग ने भी यह प्रसिद्ध कर दिया कि वे अंतिम 'बुद्ध' थे। परन्तु इसका प्रमाण नहीं मिलता कि उन्होंने स्वयं अपने को बुद्ध बतलाया हो। इनके देहावसान के कुछ दिन बाद ही से उनके जीवन के संबंध में विविध आश्चर्यमयी कथायें बननी प्रारम्भ हो गईं। ऐसी कथाओं पर मनुष्य-हृदय सदा से नैतिक शिक्षा की अपेक्षा अधिक विश्वास करता चला आया है। अतएव गौतम बुद्ध भी अत्यन्त आश्चर्यमय बना दिये गये।

फिर भी संसार को लाभ ही रहा। यह सत्य है कि निर्वाण का सूक्ष्म तत्त्व समझना जन-साधारण के लिए असाध्य है, और यह भी सत्य है कि भारतीय जनता की पुराण-रचना-प्रवृत्ति के कारण कितनी ही अलौकिक कथाओं ने गौतम के सरल जीवन और कार्य को छिपा दिया, फिर भी गौतम के विचारों का वह अंश, जिसे वे आर्य अष्टांग धर्म कहते थे, लोगों की समझ में थोड़ा-बहुत आ ही गया। इस धर्म में मानसिक शुद्धि, सद् उद्देश्य, सद् वचन, सत्कर्म और पवित्र जीवन पर ज़ोर दिया गया है। इनके उपदेशों के कारण लोगों का आत्मजागरण हुआ और उदार तथा निष्काम कर्म की ओर उनका ध्यान गया।

---

(२६)

सम्राट् अशोक

बुद्ध के देहावसान के अनन्तर कुछ पीढ़ियों तक उनके उच्च एवं महान् उपदेश—उनका यह पहला सीधा-सादा उपदेश कि आत्मसंयम से ही मनुष्य का जगत् में सबसे अधिक कल्याण हो सकता है—संसार में अधिक प्रचलित न हो सका। अंत में संसार के महान् सम्राटों में से एक का ध्यान इनकी ओर आकर्षित हुआ।

हम सिकन्दर महान् के भारत-आगमन तथा सिंधुनद पर पुरुराज के साथ उसके युद्ध का वर्णन ऊपर कर आये हैं। यूनानी इतिहासकार कहते हैं कि चन्द्रगुप्त मौर्य नामक एक व्यक्ति ने सिकन्दर के सैन्य-शिविर में आकर उसको गंगा की ओर अग्रसर होने तथा समस्त भारत-विजय करने के लिए उकसाया था। उस अपरिचित देश में मैसिडोनिया के योद्धा और आगे बढ़ना नहीं चाहते थे। अतएव सिकन्दर आगे न बढ़ा। परन्तु कुछ वर्ष बीतने पर (३२१ ई० पू०) विविध पहाड़ी जातियों की सहायता से यूनानियों की सहायता पाये बिना ही चन्द्रगुप्त ने अपने स्वप्न को सत्य कर दिखाया। उसका साम्राज्य समस्त उत्तरी भारत में स्थापित हो गया और कुछ ही दिनों में वह इतना प्रबल हो गया कि उसने (३०३ ई० पू०) आक्रमण कर सैल्यूकस 'प्रथम' को पंजाब से निकाल बाहर कर दिया। इस प्रकार से अंतिम यूनानी चिह्न का भारत से सदा के लिए लोप हो गया। चन्द्रगुप्त के पुत्र ने इस नवीन साम्राज्य की सीमा में और वृद्धि की, यहाँ तक कि उसका पौत्र अशोक—जिसका वृत्तान्त हम लिखने जा रहे हैं—(ई० पू० २६४) मदरास से लेकर अफ़ग़ानिस्तान तक समस्त प्रदेशों पर शासन करने लगा।

अपने पिता एवं पितामह का अनुकरण करते हुए अशोक का विचार भी पहले समस्त भारतीय प्रायद्वीप को जीत लेने का था। उसने मदरास के पूर्वीय तट पर स्थित कलिंग देश को (२५५ ई० पू० में) जीत लिया। युद्ध में उसको पूर्ण सफलता मिली; परन्तु पृथ्वी के समस्त विजेताओं में केवल अशोक ही ऐसा हुआ है जिसका हृदय युद्ध की नृशंसता एवं यन्त्रणाओं से ऐसा द्रवित हो गया कि उसने उसे सदा के लिए ही त्याग दिया। उसने युद्ध की सदा के लिए मनाही कर दी। उसने स्वयं बौद्ध-धर्म के शान्तिमय उपदेशों

एक लोहन अथवा बौद्ध ईश्वरीय दूत
(तांग-वंश के समय की निर्मित मूर्ति)
ब्रिटिश म्यूज़ियम से

को ग्रहण कर लिया और उसने यह घोषणा कर दी कि भविष्य में हम केवल धार्मिक विजय ही किया करेंगे।

एक प्रस्तर चित्र जिसमें अशोक का दरबार दिखाया गया है।

मनुष्य-जाति के कष्टपूर्ण इतिहास में महाराज अशोक का अट्ठाइस वर्ष का राज्यकाल सबसे अधिक देदीप्यमान सुन्दर विष्कम्भक है। उसने देश में विधिवत् कुएँ खुदवाये और
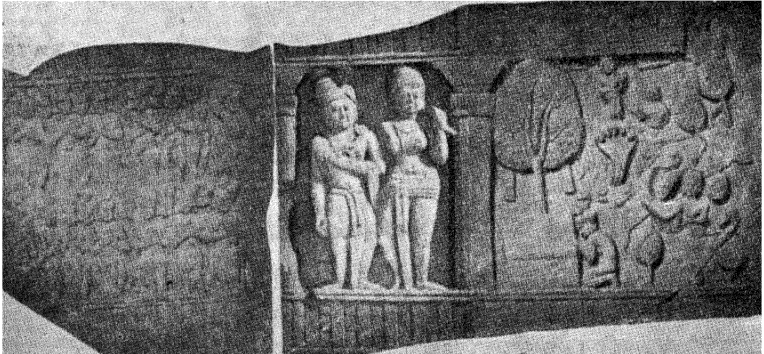
भारहुत का अशोक का चित्र

छाया के लिए वृक्ष लगवाये। स्थान-स्थान पर औषधालय खोले, जन-साधारण के मनोरंजनार्थ तथा जड़ी-बूटी आदि ओषधियों के उत्पन्न करने के लिए उपवन लगवाये। एक

मन्त्रिमण्डल केवल इसी बात के लिए नियत किया कि जङ्गली तथा अधीनस्थ जातियों की देख-रेख भले प्रकार होती रहे। स्त्री-शिक्षा का प्रबन्ध किया। उसने बौद्ध-भिक्षु-संघों को प्रचुर सम्पत्ति प्रदान की, और उन्हें बौद्ध धर्म के शास्त्रों की गंभीर आलोचना करने के लिए उत्साहित किया क्योंकि इतने थोड़े समय में ही उस महान् भारतीय शिक्षक गौतम के शुद्ध, पवित्र एवं सरल उपदेशों में बहुत-सी ख़राबियों एवं मिथ्या विश्वासों का सम्मिश्रण हो गया था। उसने उनका परिहार करने के लिए बौद्ध भिक्षुओं को उत्साहित किया। अशोक के भेजे हुए धर्म-प्रचारक काश्मीर, फ़ारस, लङ्का और अलेक्ज़ेंड्रिया तक गये।

सिंह-ध्वज
सारनाथ में जहाँ बुद्ध ने सर्वप्रथम अपना उपदेश दिया था अशोक ने जो लाट खड़ी की थी उसका यह शिखर है। लाट शिखर के पार्श्व में पड़ी है।
(इंडियन म्यूज़ियम के एक चित्र से)

राजाओं में सर्वश्रेष्ठ और सबसे महान् अशोक इस प्रकार के थे। उनके विचार अपने समकालीन पुरुषों के विचारों से कहीं आगे थे। उनके देहावसान के पीछे न तो कोई ऐसी संस्था ही थी जो उनके असंपूर्ण कार्य को पूरा करती और न उनका ऐसा कोई उत्तराधिकारी ही हुआ जो उनके

प्रारम्भ किये हुए कार्य को जारी रखता। परिणाम यह हुआ कि उनकी मृत्यु के केवल सौ वर्ष पश्चात् ही छिन्न-भिन्न एवं अवनतिशील भारत में उनके रामराज्य की पुण्य-स्मृति-मात्र ही अवशिष्ट रह गई। भारतीय वर्ण-व्यवस्था का सर्वोच्च एवं असामान्याधिकार-युक्त ब्राह्मण-वर्ग बुद्ध के सत्य एवं स्पष्ट उपदेशों का सदा से विरोधी था। उसने धीरे धीरे बौद्ध-धर्म के प्रभाव की नींव को नष्ट कर दिया। प्राचीन देवताओं तथा हिन्दू-धर्म के असंख्य मतमतान्तरों का देश में फिर से प्रभुत्व स्थापित होने लगा। वर्णव्यवस्था और भी अधिक पेचीदा और दृढ़ हो गई। बहुत शताब्दियों तक तो ब्राह्मण-धर्म और बौद्ध-धर्म दोनों ही एक साथ देश में फूलते-फलते रहे। परन्तु इसके पश्चात् बौद्ध-धर्म का धीरे धीरे ह्रास होने लगा और उसका स्थान ब्राह्मण-धर्म ने 'शतशोऽथ सहस्र' रूपेण ले लिया। परन्तु भारत के बाहर—वर्णाश्रम-धर्म की सीमा से परे—बौद्ध-धर्म का पूर्ववत् प्रचार होता रहा। यहाँ तक कि चीन, स्याम, ब्रह्मदेश और जापान इस मत के अनुयायी हो गये; और अब तक इन देशों में बौद्ध-धर्मावलंबियों ही की संख्या सबसे अधिक है।

(३०)

कनफुची (कन्फ्यूशियस) और लाओत्सि

हमको अभी कनफुची और लाओत्सि नामक दो महापुरुषों का वर्णन करना है। ये दोनों भी उसी आश्चर्यमयी ई० पू० छठी शताब्दी में, जब मनुष्य-जाति ने बौद्धिक जीवन की युवावस्था में पदार्पण किया था, विद्यमान थे।

हमने इस पुस्तक में चीन के प्राचीन इतिहास का अभी तक कुछ भी हाल नहीं लिखा। चीन का इतिहास तो वर्त्तमान-काल में भी अन्धकार ही में पड़ा हुआ है। हम सबकी दृष्टि इस समय नवीन चीन के अन्वेषकों तथा पुरातत्त्ववेत्ताओं की ओर लगी हुई है। हमें आशा है कि वे भी गत शताब्दी के यूरोप-निवासियों की भाँति अपने अतीत के इतिहास को भली-भाँति जानने का प्रयत्न करेंगे। बहुत दिन हुए चीनी सभ्यता का प्राथमिक विकास उस देश की बड़ी-बड़ी नदियों की घाटियों में प्राथमिक सौर्य पाषाणी संस्कृति से हुआ था। चीन-देश में भी मिस्र तथा सुमेरिया की भाँति उस संस्कृति के साधारण लक्षण मिलते थे। उसके केन्द्र मन्दिर थे जिनमें पुजारी और पुरोहित-नृपति ऋतु के अनुसार रक्त-बलि दिया करते थे। यहाँ का नागरिक जीवन ६,००० वर्ष पूर्व के मिस्र तथा सुमेरिया के जीवन की भाँति अथवा एक सहस्र वर्ष पूर्व के मध्य अमरीका के 'मय' जीवन की भाँति रहा होगा।

यदि कभी यहाँ नरबलि दी भी जाती रही हो तो इतिहास के विकास से बहुत समय पूर्व ही उसके स्थान में पशु-बलि का प्रचार हो गया था। ई० पू० १,००० से बहुत पहले ही इस देश में एक विशेष प्रकार की चित्रलिपि का प्रचार भी होने लगा था।

यूरोप तथा पश्चिमीय एशिया की आदिम सभ्यताओं को जिस प्रकार मरुस्थल तथा उत्तर की ओर के भ्रमणशील लोगों का सामना करना पड़ा था, उसी प्रकार चीनी सभ्यता के उत्तर की ओर भी भ्रमणशील जातियाँ घटा की भाँति छाई हुई थीं। इन जातियों की रहन-सहन तथा भाषा इत्यादि एक ही-सी थी। इतिहासकारों ने हूण, मंगोल, तुर्क और तातार के नाम से समय-समय पर इनका उल्लेख किया है। उत्तरीय यूरोप तथा मध्य-एशिया की नॉर्ड जातियों की प्रकृति एक-सी बनी रहने पर भी उनका

नाम जिस प्रकार समय-समय पर बदलता रहा उसी प्रकार कालान्तर से इन जातियों के भी भिन्न-भिन्न संघ बनते और विभक्त होते रहते थे। इधर-उधर विचरण कर जीवन व्यतीत करनेवाली गृह-हीन असभ्य मंगोल जातियों ने नॉर्डिक जातियों की अपेक्षा बहुत पहले ही घोड़े का उपयोग करना सीख लिया था। यह भी बहुत सम्भव है कि ई० पू० १००० के लगभग उन्होंने अलताई पर्वत-प्रदेशों में लोहे की भी स्वतन्त्र रूप से खोज कर ली हो। पश्चिम की गृह-हीन जंगली जातियों की भाँति पूर्व की ये असभ्य जातियाँ भी समय समय पर राजनैतिक ऐक्य स्थापित कर, भिन्न भिन्न सभ्य प्रदेशों में घुसकर उनकी विजेता और अधिपति बन बैठती थीं।

यूरोप तथा पश्चिमीय एशिया की सभ्यता आरंभ में जिस प्रकार नॉर्डिक अथवा सैमिटिक न थी, उसी प्रकार चीनदेश की अतीत सभ्यता का मंगोल-सभ्यता न होना भी सम्भव हो सकता है। यह भी सम्भव है कि अत्यन्त प्राचीन मिस्र, सुमेरिया तथा द्रविड़-सभ्यता की भाँति, चीनदेशीय सभ्यता भी **कार्ष्णेय** (Brunet) सभ्यता ही रही हो और ऐतिहासिक युग प्रारम्भ होने से पहले ही कृष्णवर्ण लोगों की पराजय होकर विजेताओं के साथ उनका संमिश्रण हो गया हो। प्रारम्भ चाहे जैसे हुआ हो परन्तु ई० पू० १७५० के लगभग हम समस्त चीन को विविध-राज्यों और नागरिक प्रजातन्त्रों में बँटा हुआ पाते हैं। किन्तु विभक्त होने पर भी एक सबसे बड़े पुरोहित सम्राट् को, जिसको 'परमात्मा का पुत्र' कहा जाता था, वे सब राज्य कुछ न कुछ ज़मींदारी का कर देते थे। ई० पू० ११२५ में 'शंग' वंश का अन्त हो गया। 'शंग' वंश के पश्चात् 'चाऊ' वंश का राज्य प्रारम्भ हुआ। मिस्रदेश के टौलेमी नामक शासक वंश तथा भारतीय अशोक के समय तक इस राजवंश ने समस्त चीन को ऐक्यसूत्र में बाँध रक्खा, परन्तु यह ऐक्य-बन्धन दिन पर दिन ढीला होता जाता था। 'चाऊ-वंश' के सुदीर्घ राज्य-काल में चीन देश के शनैः शनैः बहुत-से विभाग हो गये; यहाँ तक कि हूण-जातियों ने आकर अपने राज्य स्थापित कर लिये और स्थानीय अधिकारिवर्ग भी राजस्व देना बन्द करके स्वतन्त्र बन बैठे। एक चीनी विद्वान् का कथन है कि ई० पू० छठी शताब्दी में चीन में पाँच या छः हज़ार स्वाधीन राज्य थे। चीन के इतिहास में यह काल 'अव्यवस्थित युग' के नाम से विख्यात है।

परन्तु यह **अव्यवस्थित युग** (Age of Confusion) मानसिक स्फूर्ति, कला के बहुत-से स्थानीय केन्द्रों के बनने तथा सभ्य जीवन की उन्नति के लिए उपयुक्त हुआ। चीन के इतिहास का अधिक ज्ञान हो जाने पर हमको मालूम होगा कि यूनान की भाँति इस देश में भी विद्या, राजनीति तथा उत्सव आनन्द के प्रसिद्ध केन्द्र थे। चीन के भी अपने मिलिटस और ऐथेन्स तथा परगेमम और मैसिडोनिया थे। चीन देश के इस युग के इतिहास का पूर्णतया ज्ञान

कनफ़्यूशियस या कनफ़ुची
क्यूफ़ू में कनफ़्यूशियस के मंदिर में पत्थर पर खुदे एक चित्र की प्रतिलिपि। उत्तरी चीन को भेजी गई पुरातत्त्व-अन्वेषक मिशन के काग़ज़ात से।

न होने के कारण हम उसका शृङ्खलाबद्ध इतिहास निर्माण करने में असमर्थ हैं। अतएव यहाँ पर इस युग का अस्पष्ट और सूक्ष्म वर्णन ही किया जा सकता है।

विभक्त हो जाने पर भी जिस प्रकार यूनान में दार्शनिक उत्पन्न हुए थे और दुर्बल तथा दास हो जाने पर भी यहूदियों में पैग़म्बरों का सिलसिला बन्द न हुआ था, उसी प्रकार अव्यवस्थित होने पर भी चीनदेश में उस काल में दार्शनिकों एवं शिक्षकों की कमी न थी। जोखिम एवं अव्यवस्था ही मानों सब स्थानों में उच्च कोटि की मानसिक स्फूर्त्ति उत्पन्न कर रही थी। कनफ़ुची का जन्म 'ल्यू' नामक राज्य के एक कुलीन घराने में हुआ था और वह किसी महत्त्वपूर्ण पद पर था। इसने भी यूनानियों की भाँति अपने देश में ज्ञान की खोज के लिए एक विद्यालय खोल दिया था। चीन की अराजकता एवं अव्यवस्था से उसे बड़ा मानसिक कष्ट था। इसने उच्च शासन और उच्च जीवन का एक नया आदर्श ढूँढ़ निकाला। एक ऐसे राजा को खोजने के लिए वह बहुत-से राज्यों में घूमा जो उसके शासन तथा शिक्षा-सम्बन्धी विचारों को व्यवहार में ले आवे। परन्तु उसे कोई ऐसा राजा नहीं मिला। कुछ दिनों बाद एक राजा मिला भी, किंतु दरबारियों के षड्यंत्रों के कारण इस महान् शिक्षक की वहाँ कुछ न चल पाई। उसकी सुधार-सम्बन्धी योजना सफल न हो सकी। यह बात ध्यान देने योग्य है कि इस घटना के डेढ़ सौ वर्ष पश्चात्, प्रसिद्ध यूनानी दार्शनिक प्लेटो ने भी एक राजा की तलाश की थी और कुछ समय तक वह सिसली के साइराक्यूज़ नामक स्थान के स्वेच्छाचारी राजा डायोनिसियस का सलाहगीर भी रहा।

कनफ़ुची निराश होकर मरा। उसने कहा है कि "कोई बुद्धिमान् राजा मुझे अपना शिक्षक नहीं बनाता और मेरा मृत्युकाल निकट आ गया है।" परन्तु अपने नैराश्यपूर्ण जीवन एवं गिरती अवस्था में उसे अपने शिक्षा की जीवनी शक्ति का पता नहीं था। चीन-निवासियों पर इस शिक्षा का बहुत प्रभाव पड़ा। इसकी शिक्षा की चीन-निवासी 'उपदेशत्रय' में गणना करते हैं। शेष दो उपदेश बुद्ध और लाओत्सि के हैं।

कनफ़ुची के उपदेशों में बतलाया गया है कि श्रेष्ठ अथवा उच्चकुलाभिभूत पुरुष को किस रीति से जीवन व्यतीत करना चाहिए। गौतम बुद्ध जिस प्रकार अहंभाव को भूलकर शान्ति प्राप्त करने पर, तथा यूनानी बाह्य ज्ञान पर और यहूदी धार्मिकता पर ज़ोर देते थे उसी प्रकार उसने भी व्यक्तिगत आचरण पर विशेष ज़ोर दिया। कनफ़ुची अन्य शिक्षकों से कहीं अधिक जनता का हितचिन्तक था। संसार की अव्यवस्था एवं दुःखों को देखकर उसका हृदय व्यथित हो उठता था। उसकी अभिलाषा थी कि मनुष्य श्रेष्ठ हो जायँ जिससे कि संसार श्रेष्ठ हो जाय। व्यक्तिगत आचरण को नियमित करने का उसने

चीन की बड़ी दीवाल

यह चित्र उस स्थान का है जहाँ यह दीवाल मंचूरिया के पहाड़ों को पार करती है।

बहुत अधिक प्रयत्न किया, यहाँ तक कि जीवन के प्रत्येक अवसर के लिए उसने उत्तम नियम बना डाले। उसने देखा कि उत्तरी चीन में शिष्ट, लोकहित का ध्यान रखनेवाला और कड़ा आत्म-संयमी भद्र पुरुष आदर्श समझा जाने लगा है। उसने इस आदर्श को स्थायी रूप दे दिया।

'लाओत्सि' 'चाऊ'-वंशीय राज-पुस्तकालय का बहुत काल तक अध्यक्ष रहा। कनफ़ुची की अपेक्षा उसकी शिक्षा कहीं अधिक रहस्यमयी, अनिश्चित और बुद्धि को चक्कर में डालनेवाली थी। मालूम होता है कि उसने सांसारिक शक्तियों तथा सुखों के प्रति उदासीन रहने और काल्पनिक प्राचीन एवं सरल जीवन को अपनाने का उपदेश दिया था। उसके लेख और उपदेश बहुत ही सूक्ष्म तथा दुरूह हैं। उसके लेख पहेलियों के रूप में हैं। उसकी मृत्यु के बाद गौतम-बुद्ध के उपदेशों की भाँति, उसके उपदेशों को भी लोगों ने कथाओं आदि से मिलाकर भ्रष्ट कर दिया और उन पर पेचीदा एवं अनोखे आचारों और मिथ्या धार्मिक विश्वासों की क़लई चढ़ा दी। जिस प्रकार भारत में मनुष्य-जाति की शैशवावस्था में प्रचलित जादूगरी, टोना, तथा डरावनी मिथ्या कहानियों के आदि-कालीन विचारों का युद्ध नवीन विचारों से होता रहा; और जिस प्रकार अंत में इन दक़ियानूसी विचारों ने उन पर वही पुराना बेढंगा पलस्तर सफलता-पूर्वक लगा दिया, उसी प्रकार चीन में भी नवीन विचारों की वही दशा हुई। चीन-देश में प्रचलित, आज-कल के बौद्ध-धर्म तथा ता-ओ धर्म (जो अधिकतर लाओत्सि का ही स्थापित किया हुआ है) भिक्षु, मंदिर, पुजारी और भेंट इत्यादि कम से कम, ढंग-ढाँचे में मिस्र तथा सुमेरिया के बलि-प्रधान धर्मों जैसे ही हैं—चाहे उनके भाव और विचार भिन्न ही हों। परंतु कनफ़ुची की शिक्षा पर ऐसी क़लई नहीं चढ़ी थी। इसका कारण यह था कि वह सरल, स्पष्ट और थोड़ी थी और वह इस प्रकार की न थी कि उसका रूप बिगाड़ा जा सके।

चीन का उत्तरीय भाग, जहाँ ह्वाँ-हो नदी बहती है, भावों में कनफ़ुची का अनुगामी हो गया; और दक्षिणीय भाग, जहाँ यांग-त्सि-क्यांग नदी बहती है, ताओ-धर्म को मानने लगा। उन दिनों से लेकर आज तक, चीन के सब मामलों में इन दोनों—अर्थात् उत्तरीय तथा दक्षिणीय—भागों के भावों में सदैव ही झगड़ा होता चला आया है। बाद में इस मतभेद की झलक पीकिन और नानकिन में, तथा अधिकारी वर्ग के समान विचारवाले, खरे और प्राचीन शैली के अनुयायी उत्तर तथा संशयपूर्ण ललित कलाप्रिय, शिथिल और प्रयोग-प्रिय दक्षिण में भी बराबर मिलती आती है।

कनफ़ुची के समय में चीन के जो विभाग थे उनकी ई० पू० छठी शताब्दी में अत्यन्त निकृष्ट दशा हो गई। 'चाऊवंश' तब ऐसा निर्बल तथा अविश्वसनीय हो गया था

कि लाओत्सि ने दुखी हो राज्य-दरबार को त्याग एकांत-वास ले लिया। उन दिनों चीन में तीन शक्तियों का बोल-बाला था। 'त्सि' तथा 'त्सिन' नामक उत्तरीय चीन की दो शक्तियाँ पराधीन होते हुए भी वास्तव में स्वाधीन थीं; और वहाँ की संपूर्ण सत्ता उन्हीं के हाथों में थी। तीसरी शक्ति का नाम था 'चू' और यह एक सैनिक शक्ति थी जो 'यांगत्सि' नदी की घाटी में दिन प्रतिदिन उन्नति कर रही थी। 'त्सि' तथा 'त्सिन' नामक उपर्युक्त दोनों शक्तियों ने मिलकर 'चू' को अन्त में दबा दिया और उस पर विजय प्राप्त कर समस्त चीन में शान्ति स्थापित कर दी। इसके पश्चात्, उस समय जब भारत में अशोक का राज्य था, 'त्सिन-वंश' के राजा ने चाऊवंशीय राज-राजेश्वर के यज्ञ-सम्बन्धी बलि के पात्र छीन कर, यज्ञादि कार्य स्वयं संपादित करना
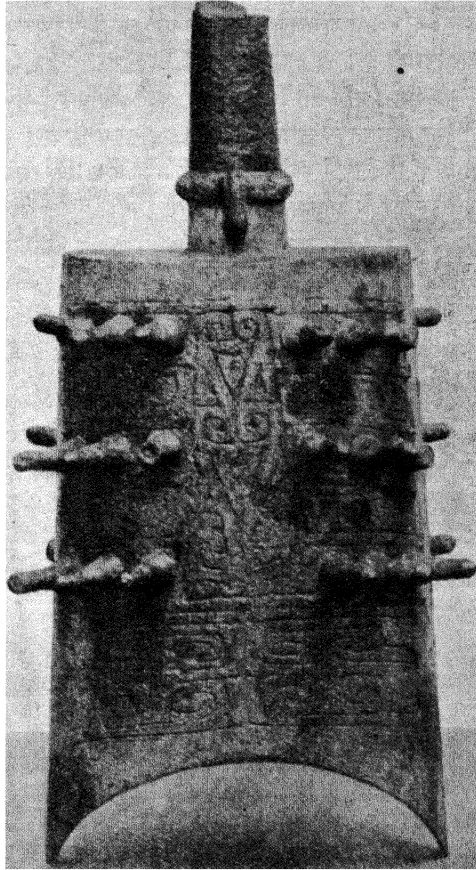
काँसे का एक प्राचीन चीनी घंटा

इस पर प्राचीन लिपि में यह खुदा हुआ है—"तिङ्-ज़िले के हिंग गाँव के मुखिया के लिए बनाया गया।" यह ई० पू० छठी शताब्दी—चाऊ-वंश के पिछले काल का है। (विक्टोरिया और ऐलबर्ट संग्रहालय से)

प्रारम्भ कर दिया। शि-हुआँग-ती नामक उसके पुत्र को (जो ई० पू० २४६ में राजा और ई० पू० २२० में राजराजेश्वर हुआ था) चीनी इतिहासकारों ने 'प्रथम सार्वभौम राजराजेश्वर' की पदवी दी है।

'शि-हुआँग-ती' सिकन्दर से कहीं अधिक भाग्यशाली था। नृपति तथा सम्राट् दोनों की हैसियत से उसने ३६ वर्ष तक राज्य किया। उसके दृढ़ शासन-काल से चीन के निवासियों के लिए ऐक्य तथा समृद्धि का एक नया युग आरंभ हुआ। उत्तरीय मरुस्थल-निवासी हूणों के आक्रमणों को उसने बड़ी दृढ़ता से रोका और उनके आक्रमणों का अन्त करने के लिए उसने उस विशाल वस्तु का निर्माण आरम्भ किया जिसे हम 'चीन-देश की बड़ी दीवार' कहते हैं।

(३१)

इतिहास में रोम का पदार्पण

भारतीय पश्चिमोत्तर-सीमाप्रान्त के महान् अवरोधों और मध्यएशिया तथा भारत के पूर्व दिग्वर्ती देशों की पर्वतमालाओं के वास्तविक पार्थक्य के होते हुए भी, पाठक को इन समस्त सभ्यताओं के इतिहास में एक प्रकार का साधारण सामञ्जस्य दृष्टिगोचर होगा। पहले तो हज़ारों वर्षों तक सौर्य पाषाणी (Heliolithic) संस्कृति प्राचीन संसार की सारी गर्म और उपजाऊ तलैटियों में फैली, और फिर उसने अपनी बलिप्रथा के चारों ओर मन्दिर परिपाटी और पुजारीसत्ता का विकास किया। प्रकाश्यरूप से इस सभ्यता के सर्वप्रथम निर्माता वही श्यामवर्ण लोग थे जिन्हें हमने ऊपर मनुष्यों की केन्द्र-जाति कहा है। फिर ऋतु-अनुसार घास-चारे के लिए देश-देशान्तरों में घूमने-फिरनेवाली पशुचारणोपजीवी जातियों ने आकर इस आदिम सभ्यता पर अपनी विशेषताओं और अधिकतर अपनी भाषा-द्वारा आधिपत्य जमाया। उन्होंने उसे अधीन कर स्फूर्ति दी और उससे स्वयं स्फूर्ति पाकर वे लोग जहाँ तहाँ आवश्यकतानुसार उसका रूप बदलते रहे। मेसोपोटामिया में **इलैमाइट** (Elamite) जाति के पश्चात् सैमिटिक-जातीय लोगों ने और उनके अनन्तर नार्ड-जातीय, मेद, पारसीक और यूनानियों ने उसे उन्नत किया। ईजियन जाति में यह कार्य यूनानियों-द्वारा और भारत में आर्य-भाषा-भाषियों-द्वारा संपादित हुआ। पुरोहित-प्रधान मिस्रदेशीय सभ्यता में विजेताओं का समावेश बहुत अधिक न हो पाया। चीन में हूण विजयी हुए और देश में उनके घुल-मिल जाने के बाद वहाँ नये हूणों ने फिर हमले किये। जिस प्रकार ग्रीस (यूनान) और उत्तरीय भारत पर आर्य-सभ्यता की, और मेसोपोटामिया पर सैमिटिक-जाति की और उसके बाद आर्यों की छाप लगी, ठीक उसी प्रकार चीन-देश पर मंगोल-सभ्यता का आधिपत्य हो गया। जहाँ ये गये वहीं इन पशुचारणोपजीवी जातियों ने बहुत कुछ नष्ट किया, किन्तु साथ ही उन्होंने सब कहीं स्वतन्त्र जिज्ञासा और नैतिक परिवर्तन के भावों को फैलाया। उन्होंने परम्परागत सनातन-विश्वासों पर शंकायें कीं, और मन्दिरों में दिवा ज्योति पहुँचाई। उन्होंने अपने नेताओं और साथियों में से ऐसे पुरुषों को राजा बनाया जो न तो देवता ही थे और न पुरोहित।

मृत्युआसन्न गॉल

यह मूर्ति रोम के राष्ट्रीय संग्रहालय में है। इसमें एक गॉल दिखलाया गया है जो अपने शत्रुओं के सामने अपनी स्त्री को मार कर छुरी से आत्महत्या कर रहा है।

ई० पू० छठी शताब्दी के पश्चात् हमको सभी जगह पुरानी रूढ़ियों का विध्वंस और नवीन नैतिक एवं मानसिक स्फूर्ति की जाग्रति दीख पड़ने लगती है। मानवजाति के महान् उन्नतिशील आन्दोलन में यह स्फूर्ति कभी विलुप्त नहीं हुई। अल्पसंख्यक शासन-कर्ताओं और समृद्धिशाली लोगों में लिखने-पढ़ने का चलन बढ़ रहा था और शिक्षा प्राप्त करना सुलभ होता जाता था। अब लिखना-पढ़ना पुरोहितों का सुरक्षित रहस्य नहीं रह गया था। घोड़ों और सड़कों के कारण यात्रा और ढुलाई में सुभीता होता गया। व्यापार में सुविधा के लिए मुद्रा की नई सरल विधि का आविष्कार हुआ।

प्राचीन संसार के पूर्वतम कोण पर स्थित चीन से दृष्टि हटाकर अब हम भूमध्य सागर के पश्चिमीय आधे भाग की ओर अपना ध्यान आकर्षित करते हैं। यहाँ हम एक ऐसे नगर का अभ्युदय देखते हैं जिसने अन्त में मनुष्य-जाति के जीवन पर बहुत बड़ा प्रभाव डाला। यह रोम नगर था।

इटली के सम्बन्ध में अभी तक हमने बहुत कम लिखा है। ई० पू० १००० से प्रथम इस देश में केवल पहाड़ और वन थे। यहाँ की आबादी बहुत कम थी। आर्य-भाषा-भाषी जातियों ने इस प्रायद्वीप में बढ़ना आरम्भ किया और उन्होंने उसमें छोटे नगर तथा ग्राम बसा लिये थे। उसका सुदूर दक्षिणी छोर यूनानी उपनिवेशों से भरा पड़ा था। **पीस्टम** (Paestum) के सुन्दर भग्नावशेष इन प्राचीन यूनानी उपनिवेशों की भव्यता और ऐश्वर्य का कुछ अंश आज दिन तक हम लोगों के लिए सुरक्षित रखे हुए हैं। ईजियन लोगों से कदाचित् मिलती-जुलती **एट्रस्कन** (Etruscan) नाम की एक अनार्य जाति प्रायद्वीप के मध्य भागों में बसी हुई थी। इसने आर्य जातियों को अधीन कर मानों साधारण नियम का व्यतिक्रम कर दिया। इतिहास में जिस समय रोम सबसे पहले प्रकाश में आया उसी समय वह टाइबर नदी के एक घाट पर छोटी-सी व्यापारी-मंडी के रूप में था। यहाँ के निवासी लैटिन भाषा बोलते थे और उन पर एट्रस्कन राजा राज्य करते थे। प्राचीन विवरणों में रोम की स्थापना का समय ई० पू० ७५३ में बतलाया जाता है अर्थात् फ़िनिशियन नगर कार्थेज की नींव पड़ने के अर्ध-शताब्दी पश्चात् और सर्वप्रथम ओलिम्पियड के २३ वर्ष उपरान्त। परन्तु ई० पू० ७५३ से भी बहुत पहले की एट्रस्कन-समाधियाँ रोम के फ़ोरम में खुदाई करते समय मिली हैं।

ई० पू० की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण छठी शताब्दी में एट्रस्कन राजा निर्वासित हुए (ई० पू० ५१०) और रोमनगर प्रजा (प्लीबियन) पर प्रभुत्व जमानेवाले धनी (पेट्रीशियन) कुटुम्बों का प्रजातंत्र बन गया। लैटिन भाषा-भाषी होने के सिवाय उसमें और अन्य यूनानी प्रजातन्त्रों में कोई भेद न था।

कुछ शताब्दियों तक रोम का आन्तरिक इतिहास प्लीबियन लोगों के स्वतन्त्रता और शासनमें योग पाने के लिए लम्बे और लगातार प्रयत्नों की कहानी रहा। इन प्रयत्नों के ग्रीक उदाहरण ढूँढ़ लेना कठिन नहीं है। यूनानी लोग इन प्रयत्नों को राजतन्त्र और प्रजा-तन्त्र का संग्राम बतलाते थे। अन्त में प्लीबियन लोगों ने प्राचीन कुलीन कुटुम्बों के बहुत

कार्थेज में प्राचीन रोमन जलाशयों के अवशिष्ट चिह्न

कुछ प्रतिबन्ध तोड़ दिये और साधारण मामलों में उन्होंने पैट्रीशियन लोगों के समान अधिकार प्राप्त कर लिये। उन्होंने रोम की अलग रहने की आदत को बदल डाला और अधिकाधिक बाहरी लोगों को नागरिक बनाकर मिला लेना रोम के लिए संभव एवं ग्राह्य बना दिया क्योंकि उस समय भी जब वह गृह-कलह में व्यस्त था वह (रोम) अपनी शक्ति का प्रसार दूर दूर तक कर रहा था।

रोम की शक्ति का विस्तार ई० पू० पाँचवीं शताब्दी में आरम्भ हुआ। उस समय तक उसने एट्रस्कन लोगों से युद्ध—और अधिकतर असफल युद्ध—किये थे। रोम से कुछ ही मील दूर 'वीआई' का एट्रस्कन दुर्ग था जिन्हें रोमन लोग कभी हस्तगत न कर सके थे। ई० पू० ४७४ में एट्रस्कन लोगों पर एक बड़ी विपत्ति आई। सिसली में साइराक्यूज़ (Syracuse) के यूनानियों ने उनका जहाज़ी बेड़ा नष्ट कर दिया। उसी समय नार्ड जातीय 'गॉल' नाम के आक्रमणकारियां की एक लहर उत्तर से उन पर आ पड़ी। 'रोमन' और 'गॉल' दोनों के बीच में पड़कर एट्रस्कन परास्त हुए—और इतिहास से लुप्त हो गये। वीआई का दुर्ग रोम-निवासियों के हाथ में आ गया, परन्तु 'गॉल' उसी समय रोम पर चढ़ आये और उन्होंने नगर को लूट लिया (ई० पू० ३९०)। फिर भी वे 'केपिटल' को न ले सके। रात में उन्होंने केपिटल के ऊपर चुपके से धावा करना चाहा, किन्तु कुछ बत्तख़ों के बोल देने के कारण केपिटल के रक्षक सावधान हो गये। अन्त में आक्रमण-कारियों को घूस देकर शान्त किया गया और वे इटली के उत्तरीय भागों को लौट गये।

गॉल लोगों के आक्रमण से रोम निर्बल होने के स्थान में अधिक सबल (पुष्ट) हुआ प्रतीत होता है। रोम-निवासियों ने एट्रस्कन लोगों को जीतकर अपने में सम्मिलित कर लिया और 'आरनो' (Arno) से 'नेपल्स' (Naples) तक समस्त मध्य इटली में उनका अधिकार हो गया। ई० पू० ३०० से कुछ ही समय में यह सब हो गया। जिस समय 'मैसीडोनिया' और 'यूनान' में फ़िलिप की शक्ति का अभ्युदय हो रहा था और सिकंदर (Alexander) मिस्र और भारत पर आक्रमण कर रहा था, उस समय इटली में रोमन लोग विजय-लाभ कर रहे थे। सिकंदर के साम्राज्य के छिन्न-भिन्न होने से रोम के लोग सभ्य-संसार में महत्त्वपूर्ण समझे जाने लगे।

रोम-राज्य के उत्तर की ओर गॉल-जाति थी और दक्षिण में सिसली-द्वीप तथा इटली प्रायद्वीप के दक्षिणी भाग में बृहत्तर यूनान (Magna Gracia) नाम के यूनानी उपनिवेश थे। गॉल-जाति के लोग परिश्रमी और लड़ाकू थे और रोमन-जाति ने उनकी ओर की सीमा पर दुर्गों से सुरक्षित उपनिवेशों की एक श्रृङ्खला बना दी थी। दक्षिण केटैरन्टम (आधुनिक टैरैन्टो) और सिसली-द्वीप के साइराक्यूज़ आदि प्रमुख यूनानी नगर रोम पर आक्रमण करना तो दूर रहा स्वयमेव रोमन-लोगों से भयभीत रहते थे। इन नवीन विजे-ताओं के विरुद्ध वे बाहरी सहायता की प्रतीक्षा किया करते थे।

हम ऊपर बता ही चुके हैं कि सिकंदर का साम्राज्य किस प्रकार छिन्न-भिन्न हुआ और वह किस प्रकार उसके सेनानायकों और साथियों में बँट गया। इनमें सिकंदर का एक कुटुम्बी पिरस (Pyrrhus) नामक युवक भी था जो ऐपिरस (Epirus) में बस गया

था। यह स्थान एड्रियाटिक समुद्र के पार इटली की एड़ी के ठीक सम्मुख स्थित है। इस युवक की यह महत्त्वाकांक्षा थी कि जिस प्रकार फ़िलिप ने सारे यूनान का एकीकरण करके उसका नेतृत्व ग्रहण किया था उसी प्रकार वह बृहत्तर यूनान का एकीकरण करके टैरन्टम, साइराक्यूज़ इत्यादि का संरक्षक और स्वामी-सेनानायक बन जाय। उसके पास उस समय एक बहुत निपुण आधुनिक सेना थी; उसमें पैदलों के व्यूह, मैसीडोनिया के आद्य रिसालों के समान ही अच्छे थिसली के रिसाले और बीस लड़ाकू हाथी थे। उसने इटली पर आक्रमण किया और हैराक्लिआ (ई० पू० २८०) और एस्कूलम (ई० पू० २७९) की दो बड़ी लड़ाइयों में रोमन लोगों को उखाड़ दिया। उन्हें उत्तर की ओर खदेड़ कर उसने सिसली को अधीन करने की ठानी।

परन्तु उसकी इस चेष्टा के कारण उसकी मुठभेड़ कदाचित् एक ऐसे शत्रु से हो गई जो उस समय रोम से भी अधिक बलवान् था। वह शत्रु फ़ीनिशियन व्यापारियों का कार्थेज नगर था जो उस समय कदाचित् संसार के नगरों में सबसे बड़ा नगर था। सिसली कार्थेज के अत्यन्त निकट है। इस कारण वहाँ सिकंदर के समकक्ष किसी पराक्रमी व्यक्ति का शासन होना कार्थेजनिवासी वांछनीय नहीं समझते थे। उन्हें याद था कि आधी शताब्दी पहले कार्थेज की मातृनगरी टायर की क्या दशा कर दी गई थी। अतएव उन्होंने रोम की सहायता जारी रखने के लिए एक जहाज़ी बेड़ा भेज दिया जिससे रोम लड़ने के लिए उत्साहित या विवश हो जाय और साथ ही उन्होंने पिरस के समुद्री मार्ग भी रोक दिये। पिरस ने देखा कि रोमन-लोग उस पर फिर आक्रमण कर रहे हैं। बेनीवेन्टम (Beneventum) स्थान पर, नेपिल्स और रोम के बीच, उनके शिविरों पर आक्रमण करने में उसे बुरी तरह पीछे हटना पड़ा।

और अचानक उसे एक ऐसा समाचार मिला जिसके कारण उसको तुरन्त ऐपिरस लौट जाना पड़ा। 'गॉल' जाति अपने दक्षिण के देशों पर हमले किया करती थी। इस बार उनका आक्रमण इटली की ओर नहीं था। रोम-राज्य के सीमा की क़िलेबन्दी और सुरक्षित हो जाने के कारण उनके लिए रोम पर चढ़ाई करना अब बहुत कठिन हो गया था। वे इलेरिया (जो अब सर्विया और अलबानिया है) में होकर मैसिडोनिया और ऐपिरस पर आक्रमण कर रहे थे। रोमन-लोगों-द्वारा हटाये जाने, कार्थेज-निवासियों-द्वारा समुद्र पर संकटाकीर्ण होने और स्वदेश में 'गॉल'-जाति के आक्रमण का भय रहने के कारण, पिरस ने अपना विजय-स्वप्न देखना छोड़ दिया; और वह स्वदेश को लौट गया (ई० पू० २७५)। फलतः रोम की शक्ति मसीना जलडमरूमध्य तक बढ़ गई।

जलडमरूमध्य के उस पार सिसली में मसीना नामक यूनानी नगर था जो शीघ्र ही समुद्री डाकुओं के एक दल के हाथ पड़ गया। कार्थेज-निवासियों ने, जो कि पहले ही से सिसली के वास्तविक अधिकारी थे और साइराक्यूज़ के मित्र थे, इन सामुद्रिक डाकुओं को हरा कर (ई० पू० २७०) वहाँ अपने सैनिकों का एक दल रख दिया। डाकुओं ने रोम-राज्य से सहायता की प्रार्थना की और रोम ने उनके निवेदन पर ध्यान भी दिया। इस भाँति मसीना जलडमरूमध्य के एक ओर की महान् व्यापारिक शक्ति कार्थेज और दूसरी ओर के इन नूतन विजयी रोमन-लोगों में परस्पर विरोध आरम्भ हुआ और दोनों एक दूसरे के सामने मैदान में प्रत्यक्षरूप से आ गये।

(३२)

रोम और कार्थेज

ईसा के पूर्व २६४ में रोम तथा कार्थेज में घोर युद्ध प्रारम्भ हुआ जिसे 'प्यूनिक युद्ध' कहते हैं। इसी वर्ष अशोक ने बिहार में राज्य करना आरम्भ किया। शि-हुआँग-ती इस समय बालक था। सिकन्दरिया (Alexandria) का पदार्थ-संग्रहालय उस समय भी अच्छा वैज्ञानिक कार्य कर रहा था। अब बर्बर जातीय गॉल लोग एशिया माइनर में पहुँच गये थे और परगेमन से कर वसूल कर रहे थे। पृथ्वी के भिन्न-भिन्न भाग अब भी एक दूसरे से अगम्य दूरी पर थे। संभव है कि स्पेन, इटली, उत्तरीय अफ्रीका और पश्चिमीय भूमध्यसागर में सैमिटिक शक्ति के अन्तिम गढ़, और आर्य-भाषा-भाषियों के नवीन आगंतुक—रोम—में शताब्दी तक जो प्राण-घातक युद्ध होता रहा उसकी केवल संदिग्ध और दूरस्थ जनश्रुतियाँ ही शेष मानव-जाति ने सुनी हों।

उस युद्ध के चिह्न उन प्रश्नों पर अंकित हैं जो अब भी संसार को हिलाये दे रहे हैं। रोम ने कार्थेज पर अवश्य विजय प्राप्त की, किन्तु आर्यों और सैमिटिक लोगों की प्रतिद्वन्द्विता ने आगे चलकर जैन्टील और यहूदियों के झगड़े का रूप धारण कर लिया। हमारा इतिहास अब उन घटनाओं के निकट आ रहा है जिनके परिणाम और जिनकी विकृति स्मृति के कारण आज-कल के झगड़ों और वाद-विवादों में अब भी जीवन-शक्ति का संचार हो जाता है और जिनके प्रभाव के कारण वे अधिक पेचीदा और कठिन हो जाते हैं।

प्रथम प्यूनिक युद्ध मसीना के समुद्री डाकुओं के कारण ईसा के पूर्व २६४ में प्रारंभ हुआ। किन्तु बाद में यह साइराक्यूज़ के यूनानी राजा के राज्य को छोड़कर समस्त सिसली पर अधिकार जमाने की चेष्टा में परिणत हो गया। पहले तो कार्थेज-निवासियों का समुद्र पर अधिकार था। उनके पास बड़े बड़े लड़ाकू जहाज़ थे। तब तक उतने बड़े जहाज़ों का किसी ने ज़िक्र तक न सुना था। उनमें डाँड़ खेनेवालों की पाँच पंक्तियाँ होती थीं और उनकी लम्बाई भी बहुत थी। दो शताब्दी पहले सैलमस के युद्ध में बड़े से बड़े लड़ाकू जहाज़ों में खेनेवालों की तीन ही पंक्तियाँ थीं। परन्तु रोमन लोगों ने सामुद्रिक अनुभव की कमी के होते हुए भी अदम्य उत्साह से ऐसे जहाज़ बनाने का संकल्प किया जो कार्थेज

के जहाज़ों को मात कर दें। उन्होंने अपनी नई नाविक सेना में मुख्य कर यूनानी नाविकों को भर्ती किया, और शत्रु के श्रेष्ठ नाविक परिचालन का जवाब देने के लिए उन्होंने शत्रु के

हैनिबल
यह मूर्ति नेपल्स के राष्ट्रीय संग्रहालय में है

जहाज़ों को खींचने के लिए लोहे के काँटों और उन रस्सियों का आविष्कार किया जिनके उपयोग से पालों को घटा बढ़ाकर जहाज़ का रुख़ शीघ्रता से बदला जा सकता था।

जब कार्थेज के दलवाला कोई व्यक्ति रोमन जहाज़ के डंडों को गिराने या काटने के लिए आगे बढ़ता तो बड़े बड़े लोहे के काँटोंवाले आँकड़े उसे जकड़ लेते और रोमन सिपाही उसे मिलकर जहाज़ पर घसीट लेते। माइली (ई० पू० २६०) और ईक्नोमस (ई० पू० २५६) की लड़ाइयों में कार्थेज-निवासी बहुत ही बुरी तरह से पराजित हुए। कार्थेज के समीप उतरती हुई रोमन सेना को उन्होंने भगा दिया परन्तु पालर्मों में उनकी फिर गहरी हार हुई। यहाँ उनके एक सौ चार हाथी छीन लिये गये जिनका जलूस रोम नगर के फ़ोरम के सम्मुख होकर अभूतपूर्व समारोह के साथ निकाला गया। परन्तु इसके बाद रोम की दो हारें हुईं और उनके अनन्तर रोम के भाग्य ने फिर पलटा खाया। रोमन लोगों ने एक अन्तिम प्रयत्न किया जिसमें उन्होंने कार्थेज के अन्तिम नाविक सैन्य दल को इगेशियन द्वीपसमूह के युद्ध (ई० पू० २४१) में परास्त कर दिया। कार्थेज ने संधि की प्रार्थना की। साइराक्यूज़ के शासक हेरो के राज्य को छोड़कर समस्त सिसली रोम को दे दी गई।

रोम और कार्थेज में बाइस वर्ष पर्यन्त मेल रहा। दोनों ही अपने घर की आपत्तियों से पीड़ित थे। इटली में गॉल लोग फिर दक्षिण की ओर अग्रसर होने लगे। यह भय होने लगा कि रोम नगर पर उनका अधिकार हो जायगा। परन्तु वे लोग तैलमन नामक स्थान पर हरा दिये गये। इस समय रोम ने घबड़ा कर देवताओं को नरबलि दी थी। रोम आल्प्स पर्वत-श्रेणी तक बढ़ गया और दक्षिण में उसने एड्रियाटिक समुद्र के किनारे इलिरिया तक अपने राज्य का विस्तार कर लिया था। कार्थेज को गृह-कलहों तथा कार्सिका और सार्डिनिया के राज्य-विद्रोह के कारण बहुत हानि पहुँची थी। उसमें रोम के समान ही फिर से पनपने की शक्ति दिखलाई पड़ी। अन्त में रोमन लोगों ने इन दोनों बाग़ी द्वीपों को अपने राज्य में मिला लिया। उसका यह कार्य कार्थेज के लिए असह्य था।

उस समय स्पेन में उत्तर की ओर, इब्रो नदी तक, कार्थेज-निवासियों का ही राज्य था। रोम-निवासियों ने यहीं तक उनकी सीमा परिमित कर दी थी। यह निश्चय हुआ था कि कार्थेज-निवासियों का इब्रो नदी का पार करना रोमन लोगों के विरुद्ध युद्ध-घोषणा का कार्य समझा जायगा। अन्त में (ई० पू० २१८) रोमन-जाति के नवीन आक्रमणों से उत्तेजित होकर कार्थेज-निवासियों ने एक नवयुवक सेनापति हैनीबाल की अध्यक्षता में इस नदी को पार कर ही डाला। इस व्यक्ति की गणना संसार के संपूर्ण इतिहास के सर्वोत्तम तेजस्वी सेनापतियों में है। वह स्पेन से अपनी सेना लेकर आल्प्स पर्वत की राह इटली में घुस गया। उसने गॉल लोगों को रोमन लोगों के विरुद्ध उभारा, और

पन्द्रह वर्ष तक दूसरा प्यूनिक युद्ध स्वयं इटली ही में लड़ता रहा। उसने ट्रासीमियर झील और कैनी में रोमनों को बहुत बुरी तरह से हराया। जब तक वह इटली में लड़ा तब तक एक भी रोमन-सेना ऐसी न थी जिसने उसका सामना किया हो और परास्त न हुई हो। पर रोम की एक सेना मार्सेल पर उतर गई थी और पीछे से जाकर उसने स्पेन देश से हैनीबाल का सम्बन्ध विच्छेद कर दिया। उसके पास घेरा डालने का सामान न था। इस लिए वह रोम पर अधिकार न कर सका। किंतु जब उसे समाचार मिला कि उसके देश में न्यूमिडियन जाति ने विद्रोह कर दिया है तो वह अपने नगर की रक्षा के लिए अफ्रीका लौटने को बाध्य हुआ। एक रोमन-सेना अफ्रीका जा पहुँची और नगर की दीवाल के नीचे ही (ई० पू० २००) जामा नामक युद्ध में ज्येष्ठ सीपियो एफ्रीकेनस के हाथों हैनीबाल की प्रथम हार हुई। जामा के युद्ध ने द्वितीय प्यूनिक युद्ध का अन्त किया। कार्थेज ने आत्मसमर्पण कर दिया। उसने अपना स्पेन देश का राज्य और अपना जहाज़ी बेड़ा शत्रु को अर्पण कर दिया। उसने बहुत बड़ा हर्जाना दिया और रोमन लोगों की प्रतिहिंसा शांत करने के लिए वह हैनीबाल को उनके सुपुर्द करने को तैयार हो गया। परन्तु हैनीबाल बचकर एशिया में भाग गया और वहाँ, कालान्तर में अपने को निर्दय शत्रुओं के हाथों में पड़ते देख, उसने विष खाकर प्राण त्याग दिया।

छप्पन वर्ष तक रोम तथा उस श्रीहीन कार्थेज में परस्पर संधि रही। इस बीच में रोम ने अपना साम्राज्य विभक्त एवं अव्यवस्थित यूनान पर भी स्थापित कर लिया। उसने एशिया माइनर पर चढ़ाई की और सैल्यूकस वंश के राजा एण्टिओकस तृतीय को लीडिया के मैग्नेशिया नामक स्थान में परास्त कर दिया। उसने टौलेमी वंश-द्वारा शासित मिस्र-देश, परगैमम और एशिया माइनर के बहुतेरे छोटे छोटे राज्यों से मैत्री स्थापित की—अर्थात् आधुनिक परिभाषा में उन्हें अपना 'रक्षित राज्य' बना लिया।

इस बीच निर्बल एवं पराजित कार्थेज अपनी कुछ पुरानी समृद्धि को पुनः प्राप्त कर रहा था। उसको इस प्रकार पनपते देख रोमन लोगों में द्वेष और भय के भाग जग उठे। अतीव क्षुद्र तथा बनावटी झगड़ों और बहानों के आधार पर उन्होंने उस पर धावा कर दिया (ई० पू० १४९)। कार्थेज बड़ी वीरता और दृढ़ता के साथ अपनी रक्षा करता रहा। वह बहुत दिनों तक घिरा रहा और अन्त में शत्रु ने उस पर अधिकार कर लिया (ई० पू० १४६)। छः दिन तक नगर की सड़कों पर युद्ध होता रहा;—अर्थात् जनसंहार जारी रहा। यह संहार असाधारण रूप से नृशंस था। जिस समय दुर्ग शत्रु के अधीन हुआ उस समय ढाई लाख की जन-संख्या में से केवल पचास हज़ार लोग जीवित रह गये थे। वे दास बनाकर बेच दिये गये। नगर जलाकर बहुत सावधानी से नष्ट कर दिया गया। राख से काले

खँडहरों पर हल चलवाकर उनमें बीज बो दिये गये और इस प्रकार नगर का मानों विधिपूर्वक नाश किया गया।

इस प्रकार तीसरा प्यूनिक युद्ध समाप्त हुआ। पाँच सौ वर्ष पूर्व पृथ्वी पर जितने सैमिटिक राज्य तथा नगर समृद्धि को प्राप्त हुए थे अब उनमें से केवल एक छोटा-सा देश अपने देशी शासकों के अधीन स्वतन्त्र रह गया था। यह यहूदिया था जिसने सिल्यूसिडों की अधीनता से अपने को मुक्त कर लिया था और जिस पर उस समय देशी मक्काबियनवंश
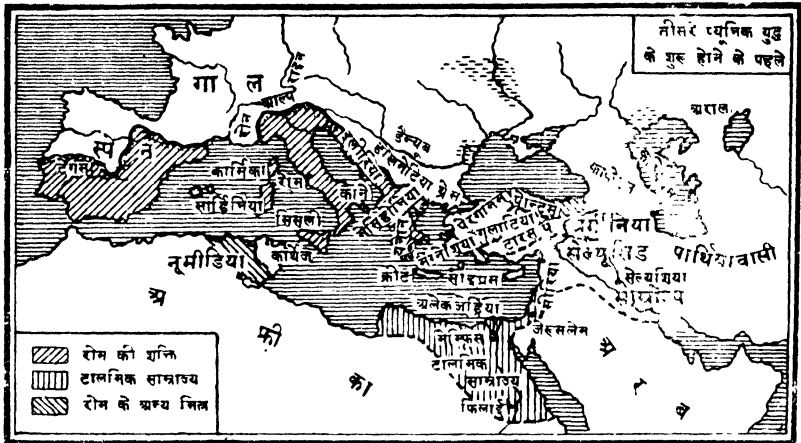
के राजे राज कर रहे थे। उस समय तक उसने अपनी बाइबिल को प्रायः समाप्त कर लिया था और यहूदी संसार के वंश-परम्परागत उन आचारों को, जिन्हें कि आज-कल हम देखते हैं, वह परिपक्व कर रहा था। यह स्वाभाविक था कि ये कार्थेजियन, फ़िनीशियन और संसार में फैले हुए उनके अन्य सजातीय भाई यहूदिया की भाषा में (जो उनकी भाषा के समान ही थी) और इस आशा तथा साहसवर्द्धक साहित्य में ऐक्यसूत्र का अनुभव करें। वे अब भी अधिकतर संसार के व्यापारी और महाजन थे। वास्तव में सैमिटिक जाति का नाश न हुआ था। वह अंतःसलिला हो गई थी।

जरूसलम यहूदियों के केन्द्र होने की अपेक्षा उनका एक चिह्न है। ई० पू० ६५ में रोमन लोगों ने उस पर अधिकार कर लिया। कुछ दिनों वह अर्द्ध स्वतंत्र रहा और अंत में (ईसवी सन् ७० में) रोमन लोगों ने उस नगर का घेरा डाला और घोर युद्ध

के अनन्तर उस पर अधिकार कर लिया। उसका मंदिर नष्ट कर दिया गया। इसके पश्चात् ई० स० १३२ में वहाँ विद्रोह हुआ। उसके नाश में जो कमी रह गई थी वह रोमन लोगों ने इस अवसर पर पूरी कर दी। जो जरूसलम नगर आज दिखलाई पड़ता है उसका निर्माण बाद के रोमन लोगों के राजत्वकाल में हुआ था। रोमन-देवता जूपिटर कैपिटोलिनस का मन्दिर पुराने मन्दिर के स्थान पर बना दिया गया और यहूदियों को इस नगर में बसने का निषेध कर दिया गया।

रोम-साम्राज्य का अभ्युदय

यह नवीन रोमन साम्राज्य, जो ईसवी पूर्व प्रथम तथा द्वितीय शताब्दी में पश्चिमीय जगत् पर अपना आधिपत्य स्थापित करने के लिए अग्रसर हुआ, सभ्य संसार के उस समय के सभी महान् साम्राज्यों से बहुत अंशों में भिन्न था। यह न तो पहले एक राजतन्त्र ही था और न किसी महान् विजेता ने इसका निर्माण ही किया था। प्रजातन्त्र राज्यों में यह सर्वप्रथम भी न था। पैरीक्लीज़ के समय में एथेन्स का अपने मित्र और आश्रित राज्यों पर आधिपत्य था, और रोम-जाति से अपने विध्वंसकारी युद्ध में प्रवृत्त होने के समय कार्थेज का भी सार्डिनिया और कार्सिका, मोरक्को, अलजीरिया, ट्यूनिस, स्पेन तथा सिसली के अधिकांश पर शासन था। फिर भी वस्तुतः यही सर्वप्रथम प्रजातन्त्र साम्राज्य था जो कि विनाश से बचा और उत्तरोत्तर अपनी उन्नति करता रहा।

प्राचीन साम्राज्यों की केन्द्र मिस्र तथा इराक की घाटियाँ थीं। इस नवीन राज्य का केन्द्र इनकी अपेक्षा सुदूर पश्चिम में था। उसकी इस पश्चिमीय स्थिति ने ही रोम को अन्य नवीन प्रदेशों तथा जातियों को सभ्य बनाने की शक्ति प्रदान की। रोम-साम्राज्य मोरक्को तथा स्पेन तक विस्तृत हुआ, और तत्काल ही पश्चिमोत्तर कोण में आधुनिक फ्रांस और बेलजियम से ब्रिटेन तक तथा पूर्वोत्तर कोण में हंगेरी और दक्षिण रूस तक फैल गया। परन्तु दूसरी ओर यह अपनी सत्ता को मध्य एशिया और फ़ारस में स्थिर रखने में कभी समर्थ न हुआ, क्योंकि वे उसके शासन-केन्द्र से बहुत दूर थे। अतः इसमें बहुसंख्यक नवीन आर्यभाषा-भाषी नार्डिक-जातियों का समावेश तथा संसार के प्रायः समस्त यूनानी जातियों का सम्मिश्रण था। और इसकी जन-संख्या में अन्य पूर्वगामी साम्राज्यों की अपेक्षा हेमेटिक तथा सेमिटिक जाति के लोग कम थे।

कुछ शताब्दियों तक यह रोम-साम्राज्य यूनानियों तथा पारसियों को निगल जाने-वाली पूर्वादर्श प्रणालियों में नहीं पड़ा और निरंतर उन्नति करता रहा। एक पीढ़ी या ऐसे ही कुछ काल में मेद तथा पारसीक शासकों ने पूर्णरूप से बैबिलन की सभ्यता ग्रहण कर ली और राजाधिराज के मुकुट तथा उसके देव-मंदिरों और पौरोहित्य-पदों पर भी अधिकार कर लिया। सिकंदर तथा उसके उत्तराधिकारियों ने इसी सुगम समीकरण-पथ का अनुसरण किया। सेल्यूसिड राजाओं की राज-सभा तथा शासनप्रणाली अधिकतर वैसी ही थी जैसी कि नैबुकेनैजर की। फ़राओ की उपाधि धारण कर टौलेमीवंश के राजे प्रत्येक प्रकार से मिस्रदेशीय बन गये थे। वे लोग परस्पर उसी प्रकार से घुल-मिल गये थे

जिस प्रकार कि उनसे पहले सुमेरु-जाति के सेमिटिक विजेता। किंतु रोम-जाति ने अपने ही नगर में राज्य किया और कुछ शताब्दियों तक अपने ही विधानों का अनुसरण किया। ईसा के द्वितीय या तृतीय शताब्दी के पूर्व जिन लोगों ने उस पर कोई विशेष मानसिक प्रभाव डाला वे केवल सजातीय और उनके समीपवर्ती यूनानी लोग थे। तात्पर्य यह कि रोम-साम्राज्य ही विशेष रूप से आर्य-संस्कृति के आधार पर एक विस्तृत राज्य के शासन करने का सर्वप्रथम-प्रयत्न था। यह साम्राज्य इतिहास में उस समय तक एक नया आदर्श और विस्तृत आर्यजातीय प्रजातन्त्र राज्य था। किसी शस्याधिष्ठातृ देवमन्दिर के चारों ओर बसी हुई राजधानी पर राज्य करनेवाले वैयक्तिक विजेता का प्राचीन आदर्श इस पर नहीं घटित होता था। रोमन लोगों के भी देवता और मन्दिर थे, परन्तु यूनानियों के देवताओं के समान उनके देवता अर्ध मनुष्याकार, अमर तथा दिव्य श्रेष्ठ कुल के थे। रोमन-जाति में रक्तमेध और कभी कभी घोरतम विपत्ति आ पड़ने पर नर-मेध भी होता था। ये कार्य उन्होंने ऐट्रस्कन जाति के श्यामवर्ण गुरुओं से सीखे होंगे। परन्तु जब तक रोम अपनी उन्नति की चरम सीमा को नहीं पार कर गया तब तक रोम के इतिहास में न पुरोहितों ने कोई अधिक भाग लिया और न मन्दिरों ने ही।

रोम-साम्राज्य की अपूर्व वृद्धि अनियन्त्रित थी। रोमन-जाति एक महान् शासन-सम्बन्धी प्रयोग में लग गई थी। उसे सफल प्रयोग नहीं कहा जा सकता। अंत में उसका साम्राज्य पूर्णतया विलीन हो गया और प्रत्येक शताब्दी में उसका आकार-प्रकार बहुत कुछ बदलता रहा। बंगाल, मेसोपोटामिया और मिस्र जितना एक सहस्र वर्ष में बदले, उससे कहीं अधिक यह एक ही शताब्दी में बदल गया था। यह सर्वदा परिवर्तनशील रहा और कभी कोई दृढ़ता न प्राप्त कर सका।

एक प्रकार से यह प्रयोग असफल रहा और एक प्रकार से यह अभी तक अधूरा ही पड़ा है। यूरोप तथा अमरीका आज भी (उन) विश्वव्यापी राजनीति की पहेलियों को सुलझाने में व्यस्त हैं जिनका कि रोमन-जाति को सर्वप्रथम सामना करना पड़ा था।

इतिहास के विद्यार्थी को रोमन-जाति के राज्यकाल में होनेवाले राजनैतिक महान् परिवर्तनों का ही नहीं वरन् सामाजिक तथा नैतिक विषयों के परिवर्तनों पर भी विचार करना चाहिए। अधिकांश व्यक्तियों की धारणा है कि रोम-राज्य एक सुव्यवस्थित, स्थिर, दृढ़, सुसंस्कृत और सुप्रतिष्ठित संस्था थी। लोगों के हृदय में रोम का जो महान्, निर्दय और उच्च भावों का चित्र है उसमें मैकाले के Lays of Ancient Rome और रोम-जाति के केटो (Cato), सीपियस, जूलियस सीज़र, डायोक्लीटियन, महान् कान्सटेनटाइन, रोम की विजयों, वक्तृताओं, शस्त्रादि से युक्त ग्लेडिएटर योद्धाओं के द्वन्द्वयुद्धों और धर्म पर

प्राण उत्सर्ग करनेवाले ईसाइयों—इन सबका संमिश्रण है। इस चित्र के बहुत-से अंशों का विश्लेषण करना आवश्यक है। ये अंश रोम के परिवर्तनशील इतिहास के भिन्न भिन्न युगों से लेकर इकट्ठे किये गये हैं। और ये युग आपस में एक दूसरे से उतने से भी अधिक भिन्न हैं जितना कि आज का लंदन ग्यारहवीं शताब्दी के लंदन से भिन्न है।

रोम-साम्राज्य की उन्नति को हम बहुत सुगमता से चार कालों में विभक्त कर सकते हैं। प्रथम काल ईसा से ३९० वर्ष पूर्व प्रारम्भ हुआ और २४० ई० पू० अर्थात् रोम-कार्थेज-युद्ध की समाप्ति तक रहा। इस काल को हम परिपक्व अर्थात् एकीकरण प्रजातन्त्र (Assimilative Republic) युग कह सकते हैं। संभवतः रोम के इतिहास में सर्वश्रेष्ठ युग यही था जिसमें रोम की विशेषताएँ भलीभाँति दिखलाई पड़ती हैं। रोम के कुलीन वर्ग और जनसाधारण के प्राचीन कलह का अंत हो रहा था। और ऐट्रस्कन (Etruscan) जाति से जो भय बना रहता था उसका भी अंत हो गया था। इस समय प्रजा भी न बहुत धनाढ्य ही थी और न निर्धन ही, और जनता भी सार्वजनिक भावों से ओतप्रोत हो रही थी। जो दशा सन् १९०० से प्रथम 'बोअर'-जाति के प्रजातन्त्र की दक्षिणी अफ्रीका में थी, अथवा सन् १८००-१८५० तक जो दशा संयुक्तराष्ट्र के उत्तरीय राज्यों की रही, वही दशा इस समय रोम के प्रजातन्त्र की थी। अर्थात् यह भी उन्हीं की भाँति स्वतन्त्र कृषकों का प्रजातन्त्र था। इस स्थिति के प्रारम्भ में रोम एक छोटा-सा राज्य था जिसका कि क्षेत्रफल कठिनता से बीस वर्ग-मील होगा। इसने निकट के बराबर-वाले प्रबल राज्यों को हरा तो दिया किंतु उनको विध्वंस न कर अपने में मिला लिया था। शताब्दियों के गृह-कलह ने यहाँ की जनता को समझौता करने और दूसरों की बात मानने का अभ्यस्त कर दिया था। कुछ पराजित नगर तो रोमन-जाति में पूर्णरूप से मिल-जुल गये थे और उन्होंने वहाँ के शासन में मताधिकार प्राप्त कर लिया था, और कुछ नगरों ने अपना शासन तो रक्खा किंतु रोम-राज्य से वैवाहिक तथा वाणिज्य-विषयक अधिकार प्राप्त कर लिये। इसी समय पूर्ण अधिकारप्राप्त नागरिकों के सैन्य के दल सैनिक महत्त्व के स्थलों पर नियुक्त कर दिये गये। और नव-विजित जातियों में विभिन्न-अधिकारों से युक्त उपनिवेश भी स्थापित किये गये। बड़ी बड़ी सड़कें भी बना दी गई थीं। इस नीति का अनिवार्य फल यह हुआ कि सारी इटली में लैटिन सभ्यता फैल गई। ई० पू० ८९ में इटली के समस्त स्वतन्त्र निवासी रोम-नगर के नागरिक हो गये। सम्पूर्ण रोमन साम्राज्य अन्त में एक विस्तृत नगर हो गया। २१२ ई० में समस्त साम्राज्य के प्रत्येक स्वतन्त्र मनुष्य को नागरिकता के अधिकार दे दिये गये। ये वे अधिकार थे जिन्हें प्राप्त करने पर कोई भी व्यक्ति रोम के नगर-परिषद् में अपना मत दे सकता था।

समस्त अधीन राज्यों तथा नगरों में यह नागरिकता का प्रसरण रोम-राज्य के विस्तार का एक विशेष साधन था। इसने विजेताओं की विजय करने की प्राचीन परिपाटी तथा समीकरण-पद्धति को पलट दिया। रोमन प्रथा के अनुसार विजेता विजितों को (सम्मिश्रित) एक मेल कर लेते थे।

रोमन लोगों ने अपना विस्तार करने का एक ढँग निकाल लिया था। अर्थात् वह अपने अधीन नगरों और देशों के कुल निवासियों को रोम की नागरिकता के अधिकार दे देते थे। यह तरकीब पुराने ढँग के विपरीत थी क्योंकि इससे पहले विजयी लोग किसी देश को जीत कर उसमें बस जाते थे और विजेता लोगों में घुल-मिलकर खप जाते थे। किंतु रोमन लोगों का जो ढँग था उससे विजेता लोग जीते हुए लोगों को अपने में मिला लेते थे।

पहले प्यूनिक युद्ध और सिसिली पर अधिकार कर लेने के बाद, विजित लोगों को अपने में मिला लेने का यह ढँग तो चलता ही रहा किंतु उसके साथ ही साथ एक नया ढँग भी चल पड़ा। सिसिली के साथ यही नया ढँग बर्ता गया। उसे जीता हुआ लूट का माल समझ लिया गया। यह घोषित कर दिया गया कि सिसिली रोमन लोगों की जायदाद है। उसकी उपजाऊ भूमि और उसके परिश्रमी निवासियों के द्वारा रोम की संपत्ति और वैभव बढ़ाये जाने लगे। पैट्रीशियन (कुलीन लोग) और निम्नश्रेणी के प्रभावशाली व्यक्ति सिसिली से आनेवाली अधिकांश संपत्ति दबा बैठे। दूर देशों से युद्धों के कारण बहुत-से दास भी पकड़ कर आने लगे। प्रथम प्यूनिक-युद्ध के पहले रोमन प्रजातंत्र में अधिकांश जन-संख्या उन नागरिकों की थी जो किसान थे। यह उनका कर्तव्य और अधिकार था कि वे सेना में भर्ती होकर प्रजातंत्र के लिए लड़ें। किंतु जब वे बहुत दिनों तक बाहर रहे तो उनके खेतों पर ऋण चढ़ गया और उनकी अनुपस्थिति में उनके देश में बहुत-से दासों को रख कर उनके द्वारा खेती कराने की प्रथा चल पड़ी। जब वे लौट कर आये तो उन्होंने देखा कि उनके खेतों की उपज को बाज़ार में सिसिली और अपने ही देश की उन ज़मींदारियों की उपज का सामना करना पड़ता है जिनमें दासों के द्वारा बहुत सस्ते ही में पैदावार हो जाती है। समय बदल गया था। प्रजातंत्र का स्वरूप बदल गया था। केवल सिसिली ही रोम के अधिकार में नहीं आ गया था किंतु साधारण नागरिक धनी महाजनों और धनी प्रतिद्वन्द्वियों के वश में हो गये थे। रोम ने अपने दूसरे उपक्रम में पदार्पण कर लिया था—अर्थात् वह साहसी और सट्टेबाज़ धनियों का प्रजातंत्र हो गया था।

रोम के सैनिक किसान २०० वर्ष स्वातन्त्र्य तथा अपने राज्य के शासन में भाग पाने के लिए युद्ध करते रहे। इन अधिकारों का उन्होंने १०० वर्ष तक उपभोग किया।

प्रथम प्यूनिक-युद्ध ने इनको नष्ट-भ्रष्ट कर डाला और उनके वे सब अधिकार और स्वत्व छीन लिये जो उन्होंने इतने दिनों के उद्योग से पाये थे।

इनके मताधिकारों का मूल्य भी कुछ न रह गया। रोम प्रजातन्त्र की शासन-संस्थायें गिनती में दो थीं। पहली और अधिक महत्त्वशाली सभा सिनेट (Senate) कहलाती थी। आरम्भ में तो यह सभा पैट्रीशियन (कुलीन) लोगों की संस्था थी किंतु बाद में यह सब प्रकार के प्रमुख पुरुषों की सभा हो गई। इसे कौंसल, सैंसर आदि उच्च अधिकारी आमंत्रित करते थे। ब्रिटिश हाउस ऑफ लार्ड्स की भाँति यह संस्था बड़े ज़मींदारों, प्रधान राजनीतिज्ञों, बड़े बड़े व्यापारियों और ऐसे ही अन्य लोगों की संस्था बन गई।
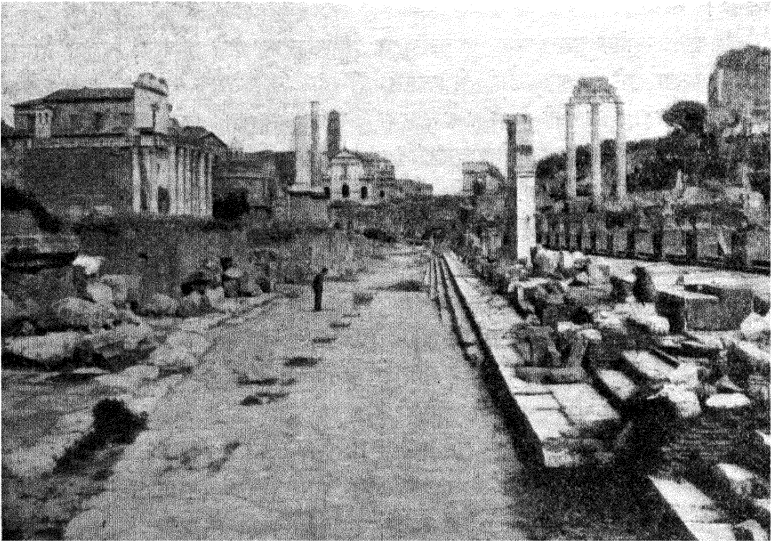
रोम का फ़ोरम
(यह उसकी वर्तमान दशा है।)

यह संस्था अमेरिकन सिनेट की अपेक्षा ब्रिटिश हाउस ऑफ़ लार्ड्स से अधिक मिलती थी। प्यूनिक-युद्धों के उपरान्त तीन शताब्दियों तक यह रोम के राजनैतिक विचार तथा कार्य की केन्द्र रही। दूसरी संस्था (the Popular Assembly) जनसाधारण सभा थी। यह रोम के समस्त नागरिकों की संस्था समझी

जाती थी। जब तक रोम २० वर्ग-मील का एक छोटा-सा राज्य था, तब तक यह संभव था कि इस प्रकार की संख्या काम कर सके परन्तु जब रोम की नागरिकता इटली की सीमाओं का अतिक्रमण करके आगे फैल गई तब यह नितान्त असम्भव हो गया। कैंपटौल (रोम के आराध्यदेव जुपिटर के मंदिर) तथा नगर की दीवालों पर से शृङ्गध्वनि-द्वारा घोषित की गई इसकी सभायें अधिकाधिक राजनैतिक—तथा नगर के अधम मनुष्यों की
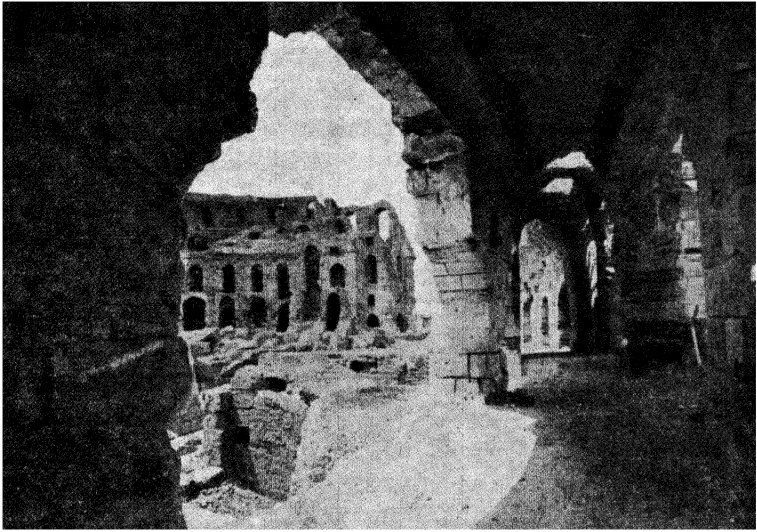
रोमन शासन के चिह्न
ट्यूनिस में कुलीशियम के खँडहर

समितियाँ हो गईं। ई० पू० चौथी शताब्दी में सर्वसाधारण के स्वत्वों तथा अधिकारों की यह एक समर्थ प्रतिनिधिस्वरूपा जनसाधारण-सभा 'सीनेट' (मंत्रिमंडल) के लिए बहुत बड़ी प्रतिबन्धक (सिद्ध) हुई। प्यूनिक-युद्धों के समाप्त होते ही यह एक पराजित 'लोक-नियन्त्रण' के निःसत्व शेष भाग-सी हो गई थी, और बड़े लोगों पर कोई पर्याप्त न्यायोचित प्रतिबन्ध नहीं रह गया था।

रोमन प्रजातन्त्र राज्य में प्रतिनिधि-तन्त्र शासन-प्रणाली का सूत्रपात कभी नहीं हुआ। किसी को इस बात का ध्यान नहीं आया कि नागरिकों का मत-प्रदर्शन करने के लिए उनके प्रतिनिधियों को चुनना चाहिए। विद्यार्थी के लिए ध्यान रखने की यह एक मुख्य बात है। यह (Popular Assembly) जनसाधारण सभा (The American House of Representatinues) अमेरिकन प्रतिनिधि-संघ अथवा (The British House of Commons) इँगलिस्तान के जनसंघ के समान कभी नहीं हुई। सिद्धान्तरूप से वह संपूर्ण नागरिकों की सभा समझी जाती थी पर व्यावहारिकरूप से वह नगण्य हो गई थी।
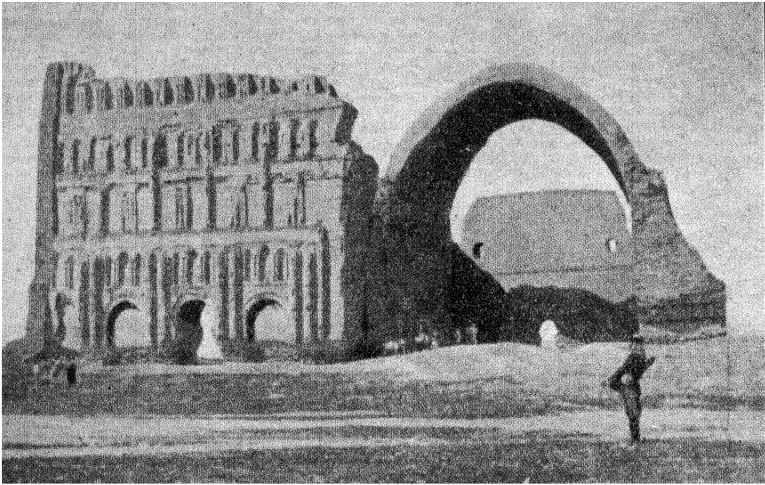
बग़दाद के निकट सिसिफ़न में विशाल रोमन मेहराब

अतः द्वितीय प्यूनिक-युद्ध के पश्चात् रोम-साम्राज्य के साधारण नागरिक अत्यन्त दीन अवस्था में हो गये थे। वे निर्धन हो गये थे। उनके कृषिक्षेत्र बहुधा नष्ट हो चुके थे और दासों के कारण उन्हें खेती से लाभ उठाना असंभव हो गया था। और इन कठिनाइयों को दूर करने के लिए उनके पास कोई राजनैतिक बल नहीं रह गया था। किसी प्रकार के राजनैतिक साधन के न होने पर जनता के पास अपना अभिप्राय व्यक्त करने के लिए केवल हड़ताल और विद्रोह ही एक-मात्र साधन होते हैं। जहाँ तक आन्तरिक राजनीति का सम्बन्ध है वहाँ तक ई० पू० प्रथम और द्वितीय शताब्दियों

का इतिहास असफल राजविद्रोहात्मक उत्थान की कथा है। इस इतिहास का आकार इतना छोटा है कि उसके कारण हम यहाँ उस समय के जटिल झगड़ों, ज़मींदारियों को नष्ट करके किसान को फिर से धरती दिलाने के प्रयत्नों और संपूर्ण अथवा अंशरूप में ऋण विलुप्त करा देने के प्रस्तावों का वर्णन नहीं कर सकते। उस समय विद्रोह और गृहयुद्ध हो रहे थे। ई० पू० ७३ में स्पार्टेकस के नेतृत्व में दासों ने एक बड़ा विप्लव कर दिया जिसके कारण इटली की विपत्तियाँ और बढ़ गईं। इटली के दासों को इस विप्लव में कुछ सफलता भी हुई क्योंकि उनमें वे लोग भी थे जिन्हें ग्लेडिटियरों के दंगलों के लिए शस्त्र-शिक्षा दी गई थी। विस्यूवियस के मुख में, जो उस समय एक शान्त ज्वालामुखी पर्वत प्रतीत होता था, स्पार्टेकस जा डटा और वहाँ से वह दो वर्ष तक युद्ध करता रहा। अन्त में इस विद्रोह की पराजय हुई और उसका दमन भीषण नृशंसता से किया गया। स्पार्टेकस के ६०० अनुयायी पकड़े गये और रोम से दक्षिण की ओर जानेवाले बृहत् राजपथ (Appian Way) में वे शूली पर चढ़ा दिये गये।

जनसाधारण ने उन शक्तियों के विरुद्ध जो उसे आक्रान्त तथा पददलित कर रही थीं कभी सिर नहीं उठाया। परन्तु ये बड़े धनी लोग जो कि जनसाधारण का दमन कर रहे थे अपने पराभवकाल में भी रोम-संसार में एक नई शक्ति का निर्माण कर रहे थे जिसने आगे चलकर स्वयं उनको और जनसाधारण को दबा दिया। वह शक्ति थी—सेना।

द्वितीय प्यूनिक-युद्ध से पहले रोम में स्वतंत्र किसानों को आवश्यकतानुसार बुलाकर सेना तैयार कर ली जाती थी। ये किसान अपनी हैसियत के अनुसार घोड़ों पर चढ़कर अथवा पैदल युद्ध में लड़ने जाते थे। समीपवर्ती युद्धों के लिए यह सेना बहुत अच्छी थी, परन्तु वह इस योग्य न थी कि सुदूर देशों में जाकर धैर्य के साथ बहुत दिनों तक लड़ाइयाँ लड़ सके। इसके अतिरिक्त जब दासों की संख्या बढ़ी और ज़मींदारियों की वृद्धि होने लगी तब स्वतंत्रभाव से लड़नेवाले किसान भी कम मिलने लगे। मैरियस नामक एक लोक-प्रिय नेता ने एक नवीन उपाय निकाला। कार्थेजियन सभ्यता के नष्ट होने के उपरान्त उत्तरी अफ्रीका में न्यूमीडिया नामक एक अर्ध बर्बर राज्य स्थापित हो गया था। रोम-साम्राज्य का इस राज्य के राजा जुगुरथा के साथ युद्ध छिड़ गया और उसे पराजित करने में उसको बहुत बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। इस अपकीर्तिकारक युद्ध को समाप्त करने के लिए जनता ने मैरियस को 'कौंसल' पद पर नियुक्त कर दिया। उसने वैतनिक सेना की नियुक्ति करके और उसे कड़ी क़वायद-द्वारा युद्ध-शिक्षा देकर इस युद्ध का अन्त किया। जुगुरथा जंज़ीरों में बाँधकर (ई० पू० १०६) रोम लाया गया। मैरियस अपने पद की अवधि के समाप्त हो जाने पर भी अपनी नवीन सेना के भरोसे बेक़ानूनी

रीति से अपने पद पर बना रहा। रोम में ऐसी कोई शक्ति न थी जो उसे उस पद से निकाल सकती।

मैरियस के समय से ही रोम-शक्ति के विकास के तृतीय उपक्रम—सेनापतियों के प्रजातंत्र—का प्रारम्भ हुआ। इस समय उस युग का प्रारम्भ होता है जिसमें वैतनिक सेना के नेता रोमन जगत् के आधिपत्य के लिए आपस में लड़े थे। मैरियस का विरोधी सुला नामक एक कुलीन वंश का व्यक्ति था जो अफ्रीका के युद्ध में उसके नीचे काम कर चुका था। दोनों ही ने अवसर पाने पर अपने राजनैतिक विपक्षियों का घोर संहार किया। हज़ारों मनुष्यों को निर्वासित कर दिया गया अथवा उनका वध कर डाला गया और उनकी भू-संपत्ति बेच डाली गई। इन दोनों के नृशंसतापूर्ण विरोध तथा स्पार्टेकस के राजविप्लव की बीभत्सता के बाद वह युग आया जिसमें ल्यूकुलस और महान् पॉम्पियाई, क्रैसस और जूलियस सीज़र सेनाओं के अधिपति थे और राज्य के कार्यों का नियन्त्रण करते थे। क्रैसस ने स्पार्टेकस को पराजित किया था। ल्यूकुलस ने एशिया माइनर को जीत कर आर्मीनिया में प्रवेश किया और अपार धन-संपत्ति को संचित करके अन्त में वह एकान्त जीवन व्यतीत करने लगा। क्रैसस और आगे बढ़ गया। उसने फ़ारस पर धावा किया किन्तु पार्थियन लोगों ने उसे हराकर मार डाला। पॉम्पियाई और जूलियस सीज़र की प्रतिद्वंद्विता बहुत दिनों तक चली। किन्तु अन्त में पॉम्पियाई को जूलियस सीज़र ने हरा दिया और वह (पॉम्पियाई) मिस्र देश में मारा गया। इस प्रकार जूलियस सीज़र रोम-जगत् का एकमात्र अधीश्वर बन गया।

जूलियस सीज़र के व्यक्तित्व ने मनुष्य की कल्पना को जितना उत्तेजित किया है उतना गुण या वास्तविक महत्त्व उसमें न था। वह एक कथानक और सांकेतिक चिह्न हो गया है। हमारे लिए उसका महत्त्व मुख्यकर यह है कि वह सैनिक महत्त्वाकांक्षियों और आरम्भिक साम्राज्य के बीच में आकर दोनों युगों को स्पष्ट कर देता है। आरंभिक साम्राज्य रोमन विकास का चौथा चरण है क्योंकि घोर आर्थिक तथा राजनैतिक विक्षोभ, गृह-युद्ध और सामाजिक पतन के होते हुए भी, इसी काल में रोम-राज्य की सीमायें आगे विस्तृत हुईं और ई० पू० १०० के लगभग अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गईं। द्वितीय प्यूनिक-युद्ध के मध्य में जब रोम की पराजय का सन्देह होने लगा था तब ऐसा मालूम पड़ता था कि रोम का ह्रास हो रहा है। और मैरियस-द्वारा सेना के पुनर्निर्माण के पूर्व तो उसकी शक्ति का लोप प्रत्यक्ष-सा मालूम पड़ता था। स्पार्टेकस के विद्रोह ने रोम के विकास में तृतीय चरण का आरम्भ किया। जूलियस सीज़र ने गॉल में—जो आधुनिक फ्रांस और बेल्जियम है—एक सेनापति के रूप में ख्याति प्राप्त की। (इस देश में रहनेवाली प्रधान जातियाँ

उन गॉल लोगों की भाँति कैल्टिक-वंश की थीं जो कुछ समय तक उत्तरी इटली पर अधिकार जमाये हुए थे और बाद को एशिया माइनर को जीत कर गेलेशियन नाम से वहाँ बस गये थे।) गॉल लोगों ने जर्मनी पर आक्रमण किया किन्तु जूलियस सीज़र ने उनको हरा कर भगा दिया और उस देश को रोमन साम्राज्य में मिला लिया। वह दो बार 'डोवर' के जलग्रीव को पार कर ब्रिटेन गया (ई० पू० ५४ और ५५)। किन्तु वहाँ उसने कोई स्थायी विजय नहीं की। इसी बीच महान् पॉम्पियाई कैस्पियन सागर के पूर्व तक रोम के विजित प्रदेशों को दृढ़ कर रहा था।

इस समय अर्थात् ई० पू० पहली शताब्दी के मध्य में रोम के शासन का नाममात्र का केन्द्र अब भी सिनेट ही था। कौंसल और दूसरे कर्मचारियों की नियुक्ति उसी की ओर से होती थी तथा अधिकार आदि अब भी उसी के नाम से दिये जाते थे। और इस समय कुछ राजनीतिज्ञ—जिनमें सिसरो सबसे महत्त्वपूर्ण व्यक्ति था—रोम-प्रजातंत्र की उच्च परंपराओं को सुरक्षित रखने और उसके क़ानूनों को लोगों से पालन कराने के लिए भरपूर प्रयत्न कर रहे थे। परन्तु स्वतंत्र किसानों के लुप्त हो जाने के साथ ही इटली से नागरिकता का भाव भी जाता रहा था। अब यह दासों तथा दरिद्र लोगों का देश हो गया था जिनमें न तो स्वतन्त्रता के भाव को समझने की शक्ति ही थी और न उसकी इच्छा ही। सिनेट के प्रजातन्त्रवादी नेताओं को किसी भी शक्ति का सहारा न था किन्तु इन बड़े बड़े महत्त्वाकांक्षी साहसी लोगों के साथ—जिन्हें वे डरते थे और वश में रखने की इच्छा करते थे—असंख्य सैन्य-दल था। सिनेट का अतिक्रमण करके क्रैसस और पॉम्पियाई तथा सीज़र (प्रथम शासकत्रय) ने साम्राज्य के शासन को परस्पर बाँट लिया। थोड़े दिनों बाद जब क्रैसस सुदूरवर्ती केरी में पार्थियनों-द्वारा मार डाला गया तब पॉम्पियाई और सीज़र में झगड़ा खड़ा हो गया। पॉम्पियाई ने प्रजातन्त्र का पक्ष ग्रहण किया। सिनेट की आज्ञाओं का उल्लङ्घन करने और क़ानून तोड़ने के अपराध में सीज़र पर अभियोग चलाने के लिए क़ानून बनाये गये।

सेना-नायकों को अपने हलक़े की सीमा के बाहर सेना ले जाना क़ानून से मना था, और सीज़र के हलक़े तथा इटली के मध्य की सीमा 'रूबिकन' नामक स्थान थी। ई० पू० ४९ में उसने रूबिकन की सीमा—यह कहते हुए कि "अब मैंने पाँसा फेंक दिया है"—पार करके पॉम्पियाई और रोम पर चढ़ाई कर दी।

अतीत काल से रोम में घोर सैनिक संकट के उपस्थित होने पर डिक्टेटर (एकाधिपति) के चुनने की प्रथा थी जिसे संकटवेला में शासन करने के लिए अपरिमित अधिकार दे दिये जाते थे। पॉम्पियाई को हरा देने के बाद सीज़र प्रथम तो दस वर्ष के

लिए, और फिर जीवन भर के लिए (ई० पू० ४५ में), डिक्टेटर चुन लिया गया। वास्तव में वह अपने जीवन-काल के लिए साम्राज्य भर का सम्राट् बना दिया गया था। पाँच शताब्दी पूर्व 'ऐट्रस्कन' जाति के बहिष्करण के समय से रोमवालों को 'राजा' नाम से घृणा थी।
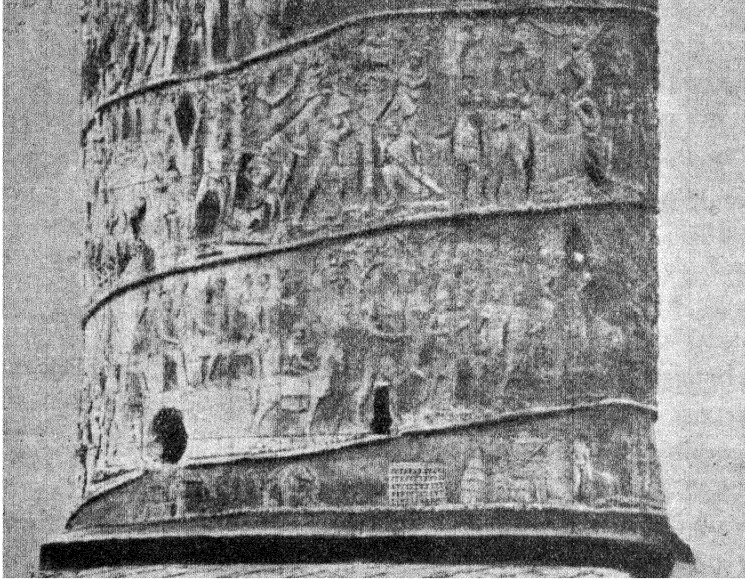
रोम में ट्रेजन की लाट
इसमें डेशिया आदि स्थानों की उसकी विजय दिखलाई गई है।

सीज़र ने राजा होना अस्वीकार कर दिया परन्तु उसने सिंहासन तथा शासन-दण्ड ग्रहण कर लिये। पॉम्पियाई के पराभव के बाद सीज़र मिस्र देश को गया और यहाँ टौलेमी वंश की अंतिम वंशजा क्लिओपैट्रा से उसका प्रेम हो गया। वह मिस्र की "दैवी रानी" समझी जाती थी। ऐसा प्रतीत होता है कि उसने उसका मस्तिष्क पूर्णरूप से फेर दिया था। रोम लौटने पर वह मिस्र की "दैवी रानी" का विचार, अपने साथ लेता आया। उसकी मूर्ति— 'अजेय ईश्वर के प्रति' इस लेख-पंक्ति के साथ एक मन्दिर में स्थापित की गई। अन्तिम

विरोध में रोम का मरणासन्न प्रजातन्त्र-वाद उत्तेजित हो उठा और सिनेट-भवन में उसके प्रतिद्वंद्वी महान् पॉम्पियाई की मूर्ति के नीचे ही सीज़र की हत्या कर डाली गई।

ऐश्वर्याकांक्षी पुरुषों की यह लड़ाई तेरह वर्षों तक और चली। तत्पश्चात् एक दूसरी शासकत्रयी—लैपिडस, मार्क एन्टोनी और आक्टेवियन सीज़र की—स्थापित हुई। इसमें यह सबसे पिछला जूलियस सीज़र का भतीजा था। आक्टेवियन ने अपने चाचा की भाँति निर्धन एवं सुदृढ़ पश्चिमीय प्रान्त ले लिये जहां बहुत अच्छी सेना भर्ती की जाती थी। ई० पू० ३१ में उसने अपने एक-मात्र शक्तिशाली प्रतिद्वंद्वी—मार्क एन्टोनी—को एक्टियम के नाविक युद्ध में परास्त किया और वह रोमन संसार का एकच्छत्र शासक बन गया। परन्तु आक्टेवियन जूलियस सीज़र से नितान्त भिन्न प्रकृति का पुरुष था। उसे राजाधिराज अथवा ईश्वर बनने की मूर्खतापूर्ण लालसा न थी। उसके कोई प्रेयसी रानी न थी जिसे प्रसन्न करने की उसे इच्छा होती। उसने रोम-निवासियों तथा सिनेट मंत्रिमंडल को फिर से स्वतन्त्रता दे दी। इसके बदले में कृतज्ञ सिनेट ने उसे विविध अधिकारों के कृत्रिम स्वरूपों के स्थान पर वास्तविक शक्ति प्रदान की। वह राजा नहीं किन्तु प्रिन्सेप्स और आगस्टस कहलाता था। वह रोम-सम्राटों में प्रथम सम्राट् अगस्टस सीज़र हुआ (ई० पू० २७ से १४ ई० तक)।

उसके बाद टाइबीरियस सीज़र हुआ (ई० पू० १४ से ३७ तक) और उसके बाद कैलिगुला, क्लाडियस, नीरो, और इसी प्रकार ट्रेजन (ई० ९८) तक हुए। फिर हेड्रियन (ई० ११७), एन्टोनीयस पायस (ई० १३८) और मारकस औरिलियस (ई० १६१ से १८० तक) हुए। ये सब सम्राट् सैनिक सम्राट् थे और सैनिकों ने ही उन्हें सम्राट् बनाया, और इनमें से कुछ को सैनिकों ने ही नष्ट कर दिया। धीरे धीरे सिनेट रोम के इतिहास से लुप्त हो गया और उसका स्थान सम्राट् और उसके राजकर्मचारियों ने ले लिया। इस समय साम्राज्य अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया था। ब्रिटेन का अधिकांश भाग रोमन साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया गया था। ट्रान्सिलवेनिया भी मिला लिया गया था किन्तु उसका नाम उस समय डेसिया रक्खा गया। ट्रेजन ने यूफ्रेटीज़ नदी को पार कर डाला था। हेड्रियन का एक काम हमें प्राचीन संसार के दूसरे छोर पर घटित हुई बातों की याद दिलाता है। शी-हुआँग-ती के समान इस सम्राट् ने भी उत्तरीय बर्बर-जाति का आक्रमण रोकने के लिए अवरोधक दीवालें बनवाई थीं। एक दीवार ब्रिटेन में बनाई गई। उसने राइन तथा डैन्यूब के मध्य एक दूसरा अवरोध बनवाया। उसने उनमें से कुछ स्थानों को छोड़ दिया जो ट्रेजन ने जीते थे।

रोमन साम्राज्य के विस्तार का अब अन्त हो गया था।

(३४)

रोम और चीन के बीच

ई० पू० द्वितीय और प्रथम शताब्दियाँ मानव-इतिहास में एक नवीन युग का निरूपण करती हैं। अब मैसोपोटामिया (इराक) और पूर्वीय भूमध्यसागर राजनीति अथवा सभ्यता की दृष्टि से महत्त्व के केन्द्र न रह गये थे। मैसोपोटामिया (इराक) और ईजिप्ट (मिस्र) दोनों अब भी उपजाऊ समृद्धिशाली और घने बसे हुए थे। परन्तु वे अब संसार के प्रधान प्रदेशों में न थे। शक्ति अब पश्चिम तथा पूर्व की ओर प्रवाहित हो गई थी। नवीन रोमन साम्राज्य और पुनरुत्थानशील चीन-साम्राज्य—ये दोनों साम्राज्य अब संसार का शासन कर रहे थे। रोम ने अपनी शक्ति यूफ्रेटीज़ (दजला) नदी तक बढ़ा ली थी, परन्तु इस सीमा का अतिक्रमण करने में वह कभी समर्थ न हुआ। यह सीमा अत्यन्त दूरी पर थी। यूफ्रेटीज़ नदी के उस पार सैल्यूकस वंश का प्राचीन पार्सीक तथा भारतीय राज्य बहुत-से नवीन अधिपतियों के अधीन हो गया था। शि-हुआँग-ती की मृत्यु के बाद चीन में इत्सिन-वंश के स्थान में हानवंश स्वामी बन बैठा था। और उसने (चीन ने) अपनी शक्ति तिब्बत तथा पामीर प्रदेश की तुंगघाटियों को पार कर पश्चिमीय तुर्किस्तान तक विस्तृत कर ली थी। वहाँ तक जाकर वह भी अपनी पराकाष्ठा को पहुँच गया था। इसके और आगे का भाग उसके केन्द्र से बहुत दूर पड़ जाता था।

चीन इस समय संसार में सबसे अधिक विस्तृत, सुव्यवस्थित तथा सभ्य राजकीय विधान (साम्राज्य) था। अपनी चरम सीमा पर पहुँचे हुए रोम-साम्राज्य से यह क्षेत्रफल और जन-संख्या में बड़ा था। इन दो महान् शासन-प्रणालियों का एक दूसरे से संपूर्ण-रूपेण अपरिचित रह कर उन्नति करना संसार में उसी समय संभव था। जल तथा स्थल-सम्बन्धी आवागमन के मार्ग पर्याप्तरूप से अभी इतने समुन्नत एवं सुव्यवस्थित दशा में न पहुँचे थे कि इन राज्यों की परस्पर साक्षात् टक्कर हो सके।

फिर भी एक दूसरे पर इन्होंने विलक्षणरूप से प्रभाव डाला और मध्यएशिया तथा भारत आदि मध्य देशों के भवितव्य पर उनका गहरा प्रभाव पड़ा। फ़ारस आदि देशों में ऊँटों के कारवाँ-द्वारा, और लालसमुद्र तथा भारत में समुद्र के किनारे नौका-संचरण-द्वारा उस समय भी कुछ व्यापार धीरे धीरे हुआ करता था। ई० पू० ६६ में

रोम की सेना ने पॉम्पियाई की अध्यक्षता में महान् सिकन्दर का पदानुसरण किया और वह कैस्पियन समुद्र के पूर्वी तट तक बढ़ गई। ई० सन् १०२ में एक चीनी आक्रमणकारी सैन्य-दल पानचाऊ की अध्यक्षता में कैस्पियन समुद्र पर पहुँचा और उसने रोम का बल जानने के लिए दूतों को भेजा। परन्तु योरप और पूर्वी एशिया की महान् समानान्तर शक्तियों के पारस्परिक सम्यक् ज्ञान और साक्षात् संपर्क होने में अभी बहुत देर थी।

इन दोनों महान् साम्राज्यों के उत्तर में घोर वन थे। जो अब जर्मनी है वह उस समय अधिकतर जंगली भूमि था। जंगल सुदूर रूस के अन्दर तक फैले हुए थे, और उनमें प्रायः हाथी के प्रमाण के लंबे बृहदाकार 'आरोक्स' (Aurochs) नाम के बैल रहते थे। एशिया की विशाल पर्वतराशियों के उत्तर की ओर मरु-स्थलों का समूह, उच्च भूमि-भाग और उसके आगे हिमाच्छादित प्रदेश फैले हुए थे। एशिया के उच्च भाग के पूर्वीय कोने के अंचल में मंचूरिया का तिकोना प्रदेश था। दक्षिणी रूस और तुर्किस्तान के मध्य में मंचूरिया तक फैले हुए इन प्रदेशों के बहुत-से भागों की जलवायु बड़ी अनिश्चित थी और अब भी उसी प्रकार की है। कुछ शताब्दियों में ही वहाँ की वृष्टि में बहुत बड़ा परिवर्तन हो गया है। ये भाग ऐसे हैं जिनकी जलवायु पर मनुष्य भरोसा नहीं कर सकता। कुछ दिनों यहाँ पशुचारण के योग्य लहलही भूमि हो जाती है और खेती बढ़ती है और उसके बाद आर्द्रता में कमी हो जाती है और विनाशकारी अनावृष्टि के चक्र का युग आ जाता है।

चीन देश का बना हुआ हरे रंग का मिट्टी का एक ढकनेदार चिकना बर्तन।
(हानवंश के समय का)
(यह विक्टोरिया और ऐलबर्ट म्यूज़ियम में है)

जर्मनदेशस्थ वनों से दक्षिणीय रूस और तुर्किस्तान तक और गोथलैंड से आल्प्स तक उत्तरीय बर्बर देश का पश्चिमीय भाग नार्डिक जाति तथा आर्यभाषा का

उद्गमस्थान था। परस्पर समान भाषा, जातीयता तथा जीवनचर्यावाली हूण अथवा मंगोल या तातार या तुर्क जातियों का उद्भवस्थान पूर्वीय स्टेप्स (ऊँचे मैदानविशेष) तथा मंगोलिया का मरुभूमिवाला प्रदेश था। और जिस प्रकार नार्डिक जातियाँ जन-संख्या की बढ़ती के कारण अपनी सीमा पार कर दक्षिण दिशा में इराक़ (मैसोपोटामिया) तथा भूमध्य सागर की ओर लगातार बढ़ती रहीं, उसी प्रकार हूण-जातियाँ अपनी बढ़ती हुई जन-संख्या के अतिरिक्त भाग को घुमक्कड़ों, आक्रमणकारियों तथा विजेताओं के रूप में चीन के व्यवस्थित प्रदेशों में भेजती रहीं। उत्तरीय भाग में जब फ़सल अच्छी होती थी तो वहाँ जन-संख्या बढ़ जाती थी और जब घास की कमी होती या कोई पशु-रोग फैलता तो ये भूखे और लड़ाकू लोग दक्षिण की ओर चल देते थे।

काँसे के नमूने पर बनाया हुआ पत्थर का बर्तन
(हानवंश के समय का—ई० पू० २०६ से ई० सन् २२० तक)
यह विक्टोरिया और ऐल्बर्ट म्यूज़ियम, लंदन में है।

कुछ समय तक संसार में एक ही काल में ऐसे दो अच्छे प्रभावशाली साम्राज्य थे जो बर्बर जातियों के आक्रमण रोकने में समर्थ हो सके और अपने शान्त साम्राज्यों की सीमायें आगे बढ़ा सके। चीन के हानवंश का साम्राज्य उत्तरीय चीन से मंगोलिया में बराबर बलपूर्वक बढ़ता गया। चीनी जनता महाप्राचीर के अवरोध को पार कर गई। चीनी किसान साम्राज्य की सीमा के रक्षक-सैनिक का पदानुसरण करता गया। वह अपने हल तथा घोड़ों को साथ लाता और घास के मैदानों को जोतता और जाड़े के

चरागाहों की अहाताबन्दी कर देता था। हूण लोग आक्रमण करके इन नये बसनेवालों में से कुछ का वध कर डालते, लेकिन चीन-साम्राज्य के अधिकारी उनको दण्ड देने के लिए अपनी सेना भेजते जिसका वे सामना करने में असमर्थ थे। इन पशुचारणोपजीवी हूणों के लिए केवल दो बातें रह गईं; या तो वे बस कर खेती करने और चीन-सम्राट् को कर देने लगें अथवा ग्रीष्मऋतु के नये चरागाहों की खोज में अन्यत्र कहीं चले जायँ। कुछ हूणों ने प्रथम मार्ग का अवलंबन किया और वे धीरे धीरे चीननिवासियों में खप गये। कुछ ने पर्वत-घाटियों को पार कर पश्चिमीय तुर्किस्तान में प्रवेश किया।

मंगोल घुड़सवारों की यह पश्चिम की ओर की भगदड़ ई० पू० २०० के बाद से होने लगी थी। आर्यजातियों पर यह भगदड़ पश्चिम की ओर से दबाव डाल रही थी और ये आर्यजातियाँ रोम-साम्राज्य की सीमाओं को घेरे हुए थीं और इस बात के लिए तैयार बैठी थीं कि जहाँ उन्हें कोई शिथिलता मालूम पड़े वहीं घुस पड़ें। ई० पू० प्रथम शताब्दी में पार्थियन जाति यूफ्रेटीज़(दजला) नदी की घाटी में आ गई। ये लोग बाह्यरूप से सीथियन थे पर उनमें कुछ मंगोलजाति के रक्त का भी मिश्रण था। महान् पॉम्पियाई के पूर्वीय आक्रमण का सामना इन्हीं लोगों ने किया था। इन्हीं ने क्रैसस को हराकर उसका वध किया था। इन्होंने ईरान में सेल्यूसिड राजवंश को हटाकर वहाँ आर्संसिड नामक पार्थियनवंश का राज्य स्थापित किया था। परन्तु कुछ समय तक इन भूखे भ्रमणशील हूणों के लिए सबसे सरल उपाय यह निकल आया कि वे मध्यएशिया जाकर और वहाँ से दक्षिण-पूर्वीय कोण से घूमकर खैबर घाटी की राह भारतवर्ष पर आक्रमण करें। अर्थात् उनके लिए पूर्व अथवा पश्चिम की ओर जाने की अपेक्षा मध्यएशिया होकर भारतबर्ष में आना अत्यन्त सुगम हो गया। जिन दिनों रोम और चीन-साम्राज्य की शक्ति बहुत बढ़ी-चढ़ी थी उन दिनों भारतवर्ष पर मंगोल-जाति के विशेष आक्रमण हुए। आक्रमणकारी नेताओं के दल के दल पंजाब की राह से विस्तृत मैदानों को लूटने एवं तहस-नहस करने के लिए आने लगे। अशोक का साम्राज्य नष्ट-भ्रष्ट हो गया था और कुछ काल के लिए भारत का इतिहास अन्धकार में पड़ गया था। आक्रमणकारियों के इंडोसीथियन-दल-द्वारा स्थापित कुशन नामक एक वंश ने कुछ काल तक उत्तरीय भारत में राज्य किया और देश में थोड़ी-बहुत व्यवस्था रक्खी। ये आक्रमण कई शताब्दियों तक होते रहे। ई० सन् पाँचवीं शताब्दी के अधिक भाग में भारतवर्ष इफ़थेलाइट अथवा श्वेत हूणों के आक्रमण से पीड़ित रहा। ये लोग भारतवर्ष के छोटे छोटे राजाओं से कर वसूल करते थे और इन्होंने भारतवर्ष को भय से त्रस्त कर

रक्खा था। प्रत्येक ग्रीष्म-ऋतु में ये लोग पश्चिमीय तुर्किस्तान चले जाते और वहाँ अपने पशुओं को चराया करते थे और प्रत्येक शरद्-ऋतु में घाटियों की राह भारत को संत्रस्त करने के लिए नीचे उतर आते थे।

ईसा की दूसरी शताब्दी में रोम तथा चीन-साम्राज्यों पर एक बड़ी विपत्ति पड़ी जिसने शायद इन दोनों को बर्बर-जाति का सामना करने योग्य न रक्खा। यह विपत्ति एक प्रकार
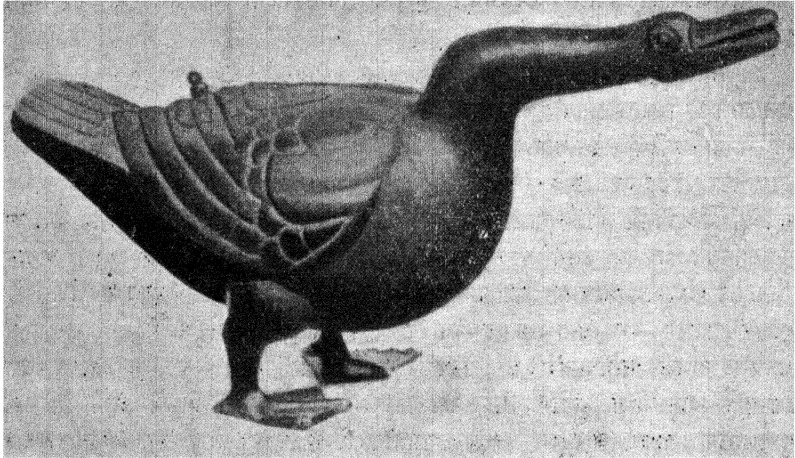
चीन देश का बना हुआ बत्तक के आकार का काँसे का बर्तन

यह शी-हुआंग-ती के समय में बना था। ऐसा बर्तन उसी समय बन सकता है जब लोग बहुत सुख से रहते हों और उनमें उच्चश्रेणी की कलाप्रियता हो। यह विक्टोरिया और ऐल्बर्ट म्यूज़ियम में है।

की अभूतपूर्व उग्र महामारी थी। चीन में इसका प्रकोप ग्यारह वर्ष तक रहा और इसने वहाँ के सामाजिक संगठन को बुरी तरह से अव्यवस्थित कर दिया। हानवंश का पतन हो गया और वहाँ विग्रह और अस्तव्यस्तता का एक नया युग प्रारंभ हो गया जिससे कि चीन वास्तव में ईसा की सातवीं शताब्दी तक अर्थात् महान् तंगवंश के आने तक मुक्त न हुआ।

यह महामारी एशिया से योरप तक फैल गई। १६४ ई० से १८० तक समस्त रोम-साम्राज्य में इसका प्रकोप रहा। इसने प्रत्यक्षरूप से रोम के साम्राज्य-सम्बन्धी विधान को पूर्णतः शक्तिहीन कर दिया। इसके बाद हम रोम प्रान्तों की जन-संख्या को उजड़ते हुए पाते हैं। उस समय साम्राज्य की शक्ति और दक्षता में प्रत्यक्ष ह्रास हो रहा था। सीमा के प्रदेश अब अभेद्य न रह गये थे। कभी एक स्थान से होकर, तो कभी दूसरे स्थान से होकर शत्रु घुस आते थे। स्वीडन के गोथलैंड नामक स्थान से आई हुई 'गॉथ्स' नाम की नवीन नार्डिक जाति रूस को पार कर वाल्गा प्रदेश तक और कृष्णसागर के तटों तक जा बसी थी और समुद्र-द्वारा तथा समुद्री डाकुओं की वृत्ति-द्वारा अपना जीवन व्यतीत करती थी। दूसरी शताब्दी के अन्त तक उन्होंने भी शायद हूण-आक्रमणों की पश्चिमीय वृद्धि का अनुभव करना प्रारंभ किया हो।

२४७ ई० में एक बड़ा आक्रमण करके उन्होंने डैन्यूब नदी को पार कर लिया और आधुनिक सर्विया में एक युद्ध हुआ जिसमें उन्होंने साम्राट् 'डैसियस' को पराजित कर के मार डाला। २३६ ई० में दूसरी जर्मन-जाति 'फ्रैंक्' ने राइन नदी के नीचे की ओर को सीमा तोड़ डाली और अलमानी नामक बर्बर-जाति के लोग अलसास में घुस आये। गॉल की सेनाओं ने अपने आक्रमणकारियों को पीछे हटा दिया परंतु 'गॉथ्स' बालकन प्रायद्वीप में बारम्बार आक्रमण करते रहे। डेशिया का प्रांत रोम के इतिहास से लुप्त हो गया।

रोम का गर्व और आत्मविश्वास अब ठण्डा पड़ गया था। २७० ई० से २७५ ई० में रोम, जो कि तीन शताब्दियों तक अरक्षित रहते हुए भी सुरक्षित नगर था—को सम्राट् आरिलियन ने दुर्गों-द्वारा चारों ओर से घेर दिया।

(३५)

प्रारम्भिक रोमन साम्राज्य में जन-साधारण का जीवन

पहले इसके कि हम यह बतलावें कि ईसा के पूर्व दो शताब्दियों में जिस साम्राज्य का निर्माण किया गया था और अगस्टस सीज़र के समय से दो शताब्दी पर्यन्त जो शांति और निर्भयता के साथ फलता-फूलता रहा वह साम्राज्य किस प्रकार विप्लव में पड़ कर नष्ट हो गया, इस महान् साम्राज्य के साधारण मनुष्यों के जीवन की ओर कुछ ध्यान देना उचित मालूम होता है। हमारा इतिहास अब हमारे समय के २००० वर्ष के अन्तर्गत आ पहुँचा है। रोम और हान इन दोनों के शासित शान्तिकाल के सभ्य लोगों का जीवन उनके वर्तमान उत्तराधिकारियों के जीवन से अधिकाधिक में मिलता-जुलता मालूम होने लगा था।

पश्चिमीय जगत् में उस समय सिक्के (मुद्रा) का चलन साधारण व्यवहार में आ गया था। पुरोहित-वर्ग के अतिरिक्त बहुत-से साधारण वृत्तिवाले मनुष्य उत्पन्न हो गये थे जो न तो राजकर्मचारी ही थे और न पुरोहित। पहले की अपेक्षा लोग अधिक स्वतन्त्रतापूर्वक पर्यटन करते थे। उनके लिए बड़ी बड़ी सड़कें और सरायें बनी थीं। पिछले समय से अर्थात् ई० पू० ५०० वर्ष के पूर्व काल से तुलना करने पर उस समय का जीवन अत्यधिक शिथिल प्रतीत होता था। उस समय से पहले सभ्य पुरुष, एक प्रांत अथवा देश से संबद्ध रहते थे; वे एक ही प्रकार की रूढ़ियों या परम्पराओं से बँधे थे, और अत्यन्त संकुचित क्षेत्र में निवास करते थे। केवल भ्रमणशील अथवा पशुचारणोपजीवी लोग ही वाणिज्य और पर्यटन करते थे।

परन्तु यह न समझना चाहिए कि जहाँ जहाँ रोम अथवा हानवंश का दृढ़ शासन के क्षेत्रों में जिन पर कि उनका अधिकार था वहाँ वहाँ एक ही प्रकार की सभ्यता थी। भारत के शान्तिमय अँगरेज़ी साम्राज्य की भाँति, इन साम्राज्यों के एक प्रांत और दूसरे प्रांत के बीच बहुत बड़े स्थानीय अन्तर, बड़ी विभिन्नतायें और संस्कृति-संबंधी असादृश्य विद्यमान थे। रोम-द्वारा शासित विस्तृत भू-भाग पर रोम के दुर्गरक्षक शैन्यदल और उपनिवेश जहाँ तहाँ फैले हुए थे जो रोमन देवताओं की उपासना करते और लैटिन-भाषा बोला करते थे। परन्तु रोमन लोगों के आने के पहले जहाँ जहाँ जो नगर और पुर थे वहाँ के निवासी रोम के

अधीन होने पर भी स्थानीय शासन की व्यवस्था स्वयं करते रहे और कम-से-कम कुछ काल तक तो अवश्य ही अपने निर्जी देवताओं का पूजन भी अपनी ही विधि से करते रहे। यूनान, एशियामाइनर, मिस्रदेश और साधारणतया यूनानी सभ्यता से प्रभावित पूर्वीय देशों

कामदार काँच का एक टुकड़ा
(यह काँच रोमन साम्राज्य के आरंभिक काल का बना हुआ है
और इस पर ग्लेडिएटर का एक तत्कालीन चित्र है।)

में लैटिन भाषा कभी प्रचलित नहीं हुई। यूनानी भाषा का वहाँ एकाधिपत्य बना रहा। टारसस निवासी साल, जिसकी गणना ईसामसीह के प्रधान शिष्यों में है और जो बाद में संतपाल के नाम से प्रसिद्ध हुआ है, रोम का नागरिक और यहूदी था, परन्तु वह यूनानी-भाषा लिखता और बोलता था—'हिब्रू' (यहूदी) भाषा नहीं। जिस पार्थियनवंश ने फ़ारस में

यूनानी सिल्यूसिडवंश को पराजित किया था और जो रोम-साम्राज्य की सीमाओं के बिलकुल ही बाहर था उसके दरबार में भी यूनानी भाषा का ही चलन था। कार्थेज के नष्ट हो जाने पर भी स्पेन के कुछ भागों और उत्तरीय अफ़्रीका में कार्थेजियन-भाषा बहुत समय तक बोली जाती रही। सैविल ऐसा नगर था जो रोम के जन्म से बहुत पहले ही समृद्धिशाली होगया था किंतु वह बराबर कई पीढ़ियों तक सैमिटिक देवियों की पूजा और सैमिटिक भाषा का व्यवहार करता रहा—यद्यपि उससे थोड़ी ही दूर पर रोमन वीरों का इटैलिका नामक उपनिवेश बसा हुआ था। सैप्टिमियस सैवेरस जो ई० १९३ से ई० २११ तक सम्राट् रहा कार्थेजियन भाषा अपनी मातृभाषा की भाँति बोलता था। उसने लैटिन-भाषा बाद को विदेशी भाषा की भाँति सीखी और यह प्रामाणिक बात है कि उसकी बहन ने लैटिन-भाषा कभी नहीं पढ़ी और रोम में रहते हुए भी वह अपनी गृहस्थी का काम प्यूनिक-भाषा से ही चलाती थी।

गॉल और ब्रिटेन ऐसे देशों तथा डेशिया (स्थूलरूप से आधुनिक रोमानिया) और पैन्नोनिया (डैन्यूब के दक्षिण ओर का हंगरी प्रदेश) आदि प्रान्तों में जहाँ न तो पूर्ववर्ती बड़े नगर या मंदिर थे और न प्राचीन संस्कृति ही थी, रोम-साम्राज्य ने लैटिन-सभ्यता का प्रचार अवश्य किया। उसने इन देशों को सबसे पहले सभ्य बनाया। उसने ऐसे नगरों और पुरों की सृष्टि की जहाँ लैटिन प्रथम ही से प्रधान भाषा थी और जहाँ रोम के देवताओं का पूजन होता था और रोम की ही रीतियों तथा व्यवहारों का अनुसरण किया जाता था। रोमानियन, इटैलियन, फ्रेंच और स्पैनिश भाषाएँ, जो लैटिन-भाषा के विभिन्न रूप और रूपान्तर हैं, हमें लैटिन-भाषा के तथा उसके आचार-व्यवहार के विस्तार का स्मरण दिलाती हैं। अन्त में उत्तर-पश्चिम अफ़्रीका भी अधिकांश में लैटिन-भाषा-भाषी हो गया। मिस्र-देश, यूनान और साम्राज्य के शेष पूर्वी भाग कभी लैटिन सभ्यतानुयायी नहीं हुए। वे भाव तथा संस्कृति में मिस्रदेशीय तथा यूनानी ही बने रहे। और रोम में भी शिक्षित समाज यूनानी भाषा को भले आदमियों की भाषा समझ कर सीखते थे और वे यूनानी-साहित्य तथा विद्या को लैटिन से अच्छा समझते थे; और उनका ऐसा समझना बहुत ठीक भी था।

इस पँचमेली साम्राज्य में व्यवसाय और कार्य करने की प्रणाली भी स्वभावतः नाना प्रकार की थी। व्यवस्थित संसार का मुख्य उद्यम अब भी प्रचुर रूप से कृषि ही था। यह हम ऊपर ही बता चुके हैं कि प्यूनिक-युद्धों के उपरान्त प्राथमिक रोम-प्रजातन्त्र के मेरुदण्ड के समान स्वतन्त्र एवं प्रबल किसानों के स्थान पर दासों के परिश्रम-द्वारा स्थापित ज़मींदारियों ने अपना आधिपत्य कैसे कर लिया था। यूनानी संसार में खेती करने

की अनेक विधियाँ थीं, यथा आर्केडियन विधि—जिसमें प्रत्येक स्वतन्त्र नागरिक अपने हाथों से परिश्रम करता था, और स्पार्टा की विधि जिसमें भले आदमियों का अपने हाथ से
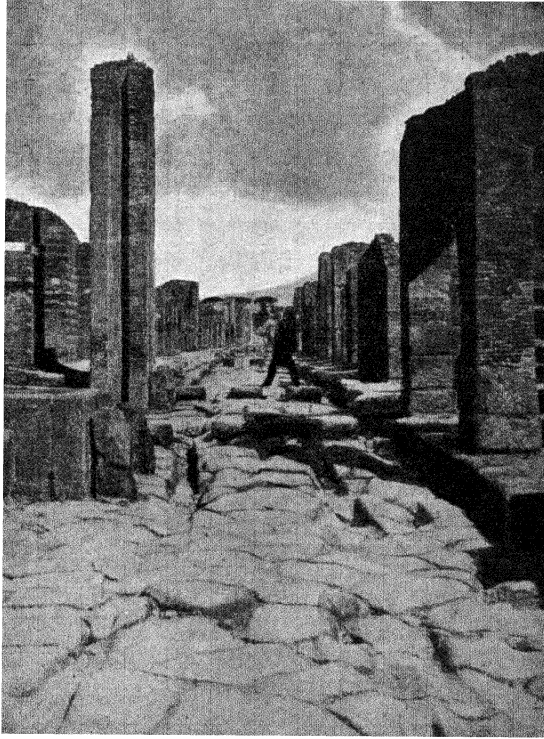
पॉम्पियाई नगर में एक सड़क का खँडहर

यह स्थान रोमन लोगों का आनन्द मनाने का स्थान था। देखिए कि सड़क पर रथों के पहियों से कितने गहरे गड्ढे हो गये हैं।

काम करना अकीर्तिकर समझा जाता था और खेती का काम एक विशेष प्रकार के दासों

से कराया जाता था जिन्हें 'हीलट' कहते थे। परन्तु यह तो अब पुरानी बात पड़ गई थी। यूनानी सभ्यतानुयायी संसार के अधिकांश भागों में ज़मींदारी प्रथा का प्रसार हो गया था और दासों के झुण्ड के झुण्ड फैल गये थे। ये खेती का काम करनेवाले दास, जो बहुत-सी भिन्न भाषायें बोलते थे और एक दूसरे की भाषा न समझ पाते थे, या तो बन्दी होते थे या जन्म से ही दास होते थे। न तो उनमें इतनी एकता ही थी कि वे अत्याचार का सामना कर सकते और न उनमें अधिकारों की कोई परंपरा ही थी। निरक्षर होने के कारण वे अज्ञानी थे। यद्यपि देहातों में ये बहुसंख्यक थे तथापि उन्होंने कोई सफल विप्लव नहीं किया। ई० पू० प्रथम शताब्दी में स्पार्टेटस का विद्रोह तो उन दासविशेषों का विद्रोह था जिन्हें अखाड़ों में ग्लेडीटोरियल युद्धों के लिए शस्त्रों की शिक्षा दी जाती थी। प्रजातन्त्र के अन्तिम दिनों में और रोम-साम्राज्य के उदयकाल में इटली के खेतों के मज़दूरों को बहुत भयङ्कर अपमान सहने पड़ते थे। उन्हें भागने से रोकने के लिए रात्रि होने पर ज़ंजीरों से बाँध दिया जाता था या उनके आधे सिर मुड़ा दिये जाते थे जिससे उन्हें भागने में कठिनता हो।

उनके स्वयं भार्यायें न होती थीं। स्वामी अपने दासों पर बलात्कार कर सकते थे, उनका अंगभंग कर सकते थे और उनका वध भी कर सकते थे। दंगल में पशुओं से युद्ध करने के लिए दास का स्वामी उसे बेच सकता था। यदि कोई दास स्वामी का वध कर डालता तो केवल घातक ही नहीं वरन् उसके घर के सब दास शूली पर चढ़ा दिये जाते थे। ग्रीस (यूनान) के कुछ भागों में, विशेष करके एथेन्स में, दासों की दशा इतनी भयावह न थी जितनी कि यहाँ के दासों की थी, परन्तु फिर भी वह घृणित थी। रोमन सेना को भेद कर जब बर्बर आक्रमणकारी रोमन साम्राज्य में घुस आये तो दासों की जनता को वे शत्रु नहीं प्रतीत हुए—उन्हें ऐसा मालूम पड़ा कि वे लोग उनके उद्धारक हैं।

बहुत-से उद्यमों और सामूहिकरूप से किये जानेवाले प्रत्येक कार्य में दासों से काम लेने की परिपाटी चल पड़ी थी। खान तथा धातु-शोधन-सम्बन्धी क्रियायें, नौका-संचालन, मार्ग तथा भवन-निर्माण—सब अधिकतर दासों से कराये जाते थे और गृहस्थी के प्रायः सभी काम दासों से ही लिये जाते थे। नगरों और देहातों में कुछ स्वतन्त्र निर्धन व्यक्ति तथा मुक्त-लोग थे। वे या तो अपना निजी काम करते थे अथवा वेतन लेकर दूसरों का काम कर देते थे, ये लोग कारीगर थे, अथवा मेट का काम या ऐसे ही अन्य काम नक़द रुपये का वेतन लेकर करते थे। इन वेतनभोगी लोगों का एक नया वर्ग बन गया था जो दास-मज़दूरों से प्रतियोगिता करता था। पर हम यह नहीं जानते कि समस्त जन-संख्या में इनका कितना अनुपात था। इस अनुपात में भिन्न-भिन्न समयों पर और विभिन्न स्थानों में अवश्य ही कमी-बेशी होती रही होगी। दासत्व के भी बहुत-से
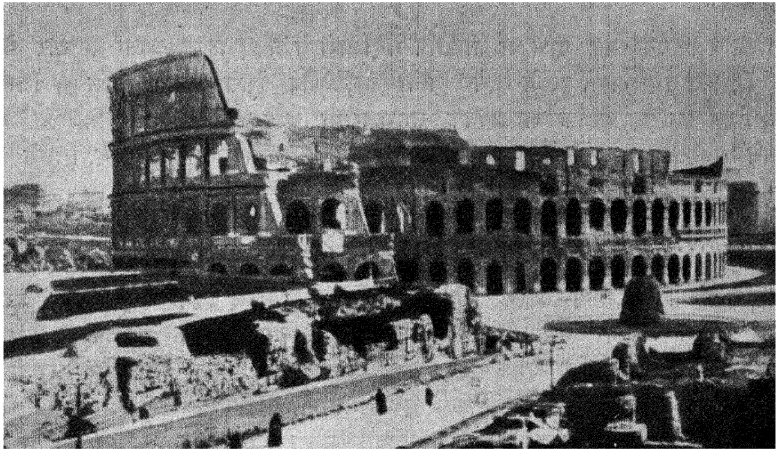
कुलीशियम, रोम

कुलीशियम का भीतरी भाग

रूपान्तर थे। एक वह दास था जो रात्रि में ज़ंजीरों से जकड़ दिया जाता था और कोड़े मार कर खेत तथा खानों पर ले जाया जाता था, और दूसरा वह भी दास था जिसका स्वामी इस बात के अधिक लाभदायक समझता था कि वह उसे अपना निज का खेत जोतने या दस्तकारी करने और स्वतन्त्र पुरुषों की भाँति अपनी भार्या रखने दे, जिससे वह उसे (स्वामी के) संतोषजनक निष्कृति (छूट) देता रहे।

शस्त्रधारी दास भी होते थे। ई० पू० २६४ में प्यूनिक युद्धों के काल का आरम्भ होने पर ऐट्रस्कन जाति का एक खेल रोम में फिर से प्रचलित हो गया था। इस खेल में दासों के अपनी प्राण-रक्षा के लिए लड़ने के लिए छोड़ दिया जाता था। इसका प्रचार शीघ्र ही हो गया और प्रत्येक बड़ा रोमन-धनिक ग्लैडिटियर नामक शस्त्रधारी दासों का एक वर्ग अपने पास रखने लगा। कभी कभी ये अखाड़ों में भी युद्ध करते थे परन्तु स्वामी के साथ गुंडों के समान अंगरक्षक होकर चलना इनका प्रधान कार्य था। उस समय विद्वान् दास भी मिलते थे। पिछले समय के प्रजातन्त्र ने यूनान, उत्तरी अफ्रीका और एशिया माइनर के अत्यन्त उन्नतिशील नगरों पर विजय प्राप्त की थी और इसलिए वहाँ से बहुत-से ऊँचे विद्वान् भी दासरूप में पकड़ लाये गये थे। उच्च कुल के रोमन नवयुवक का शिक्षक बहुधा दास ही होता था। धनिक पुरुषों के पुस्तकालय का अध्यक्ष यूनानी दास ही बनाया जाता था। धनिकों के मुहर्रिर तथा विद्वान् लोग दास ही होते थे। दास-कवि को वह अपने पास उसी प्रकार अपना आश्रित करके रखता था जिस प्रकार वह किसी खेल करनेवाले कुत्ते के पालता था। आधुनिक साहित्य की विद्वत्ता और समालोचनाओं की परम्परायें दासता के इस वायुमण्डल में विकसित हुई। ये पराम्परायें श्रमपूर्ण, साहसहीन और विवादशील थीं। कुछ ऐसे उद्योगशील लोग भी थे जो मेधावी बालक-दासों के मोल लेकर पढ़ाते थे जिससे बाद में वे उनके अच्छे दाम खड़े कर सकें। दासों के नक़लनवीसी, स्वर्णकारी और अन्य कितनी ही कारीगरियाँ सिखलाई जाती थीं।

परन्तु धनिकों की अध्यक्षता में प्रजातन्त्र के विजय-काल के आरम्भ से लेकर महामारी के बाद होनेवाली उथल-पुथल के दिनों तक—चार सौ वर्षों में—दासों की स्थिति में बहुत अधिक परिवर्तन हो गये थे। ई० पू० दूसरी शताब्दी में युद्ध के बन्दियों की संख्या बढ़ गई थी। उनके साथ कुत्सित और नृशंस व्यवहार किया जाने लगा था। दासों का कोई अधिकार न माना जाता था। पाठक की कल्पना में कोई भी ऐसा अत्याचार नहीं आ सकता जो इन दिनों उनके ऊपर न किया जाता हो। परन्तु ईसा के प्रथम शताब्दी में दासत्व के प्रति रोमन सभ्यता के भावों में सुस्पष्ट उन्नति होने लगी थी।

एक कारण तो यह था कि अब बन्दियों की पहले की-सी बहुतायत न रह गई थी, और दूसरे दासो का मूल्य बढ़ गया था, तथा दासों के स्वामियों की समझ में यह बात आने लगी थी कि ज्यों ज्यों उन अभागों के आत्मसम्मान की वृद्धि होती है त्यों त्यों उन्हें (स्वामियों को) उनसे अधिक लाभ और आराम मिलता है। किन्तु कुछ कारण यह भी था कि समाज की नैतिक उन्नति हो रही थी, और लोगों की न्याय-बुद्धि का प्रभाव समाज के कामों में दिखलाई पड़ने लगा था। यूनान के उच्च मानसिक विचार प्राचीन रोमन नृशंसता का नियमन कर रहे थे। निर्दयता के ऊपर प्रतिबन्ध लगा दिये गये थे। अब पशुओं के साथ युद्ध करने के लिए स्वामी अपने दासों को नहीं बेच सकता था। पिक्यूलियन नामक संपत्ति में दासों को स्वत्व दे दिया गया था। उनको प्रोत्साहन देने के लिए वेतन दिया जाने लगा था और एक विशेष प्रकार का दासों का विवाह भी क़ानूनसंगत मान लिया गया था। खेती के बहुत-से कामों में एक साथ बहुत-से आदमियों की या तो आवश्यकता नहीं होती या होती भी है तो कुछ ऋतुओं में ही। उन प्रदेशों में जहाँ खेती की ऐसी स्थिति थी दासों को भू-दास (Serf) बना दिया गया। वे स्वामी को अपनी उपज का कुछ अंश दे देते थे और ऋतु विशेषों में उसके यहाँ बेगार भी भुगतते थे।

जब हम इस बात का अनुभव करते हैं कि ईसवी सन् की प्रथम दो शताब्दियों का यह लैटिन तथा ग्रीक भाषा-भाषी विशाल रोमन साम्राज्य वास्तव में कितना बड़ा दास-राज्य था और उसमें उन लोगों की संख्या कितनी कम थी जिन्हे जीवन में स्वाधीनता प्राप्त थी या जिन्हें अपने जीवन पर गर्व था, तो हम उसके विनाश और पतन के कारणों का ठीक ठीक पता पा जाते हैं। जिसे हम गार्हस्थ्य जीवन कहते हैं—उसकी उस समय बहुत कमी थी। ऐसे परिवार कम थे जिनमें लोगों का जीवन संयत था अथवा जिनमें अच्छी तरह विचार करने और अध्ययन करने की परिपाटी थी। स्कूल और कालिज कम थे, और जो थे भी वे एक दूसरे से बहुत दूरी पर थे। स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति और स्वतन्त्र विचार-शक्ति का कहीं पता भी न था। रोमन साम्राज्य की बड़ी सड़कों, भव्य भवनों के भग्नावशेषों और क़ानून और शक्ति की परम्पराओं से बाद की पीढ़ियों के लोग आश्चर्य-चकित होते रहे हैं। किन्तु ये चकित करनेवाली वस्तुएँ इस बात पर पर्दा नहीं डाल सकतीं कि उस साम्राज्य की सारी बाहरी तड़क-भड़क मनुष्यों की रोकी हुई इच्छा-शक्ति, दबाई हुई मानसिक शक्ति और विकृति तथा बिगड़ी हुई कामनाओं के शवों से बनाई गई थी। और उन अल्पसंख्यक लोगों की आत्माएँ भी—जो उस जकड़े हुए और बेगार के साम्राज्य पर प्रभुत्व कर रहे थे—अशांत और दुखी थीं। उस वातावरण में साहित्य और कला, विज्ञान और दर्शन—सभी मुर्झा गये थे। क्योंकि ये वस्तुएँ तो

स्वतन्त्र और सुखी मस्तिष्कों की उपज हैं। उस समय बहुत-सी बातों का अनुकरण और अनुसरण किया गया। कलाप्रिय कलाबाज़ों की भरमार थी। दासता की भावना से जकड़े हुए विद्वानों में बहुत-कुछ रूढ़ियों पर चलनेवाली दिखाऊ विद्वत्ता थी। किन्तु चार शताब्दियों में भी सारे रोमन साम्राज्य ने ऐसी कोई वस्तु उत्पन्न न की जिसकी तुलना उन साहसपूर्ण और उन्नत विचारों से की जा सके जिन्हें ऐथेन्स के अपेक्षाकृत छोटे नगर ने अपनी महत्ता की एक शताब्दी में उत्पन्न किया था। रोम के अधिकार में आकर ऐथेन्स का ह्रास हुआ। सिकन्दरिया के विज्ञान का ह्रास हुआ। ऐसा मालूम होता था कि उन दिनों मानों मनुष्य की आत्मा का भी ह्रास हो रहा था।

(३६)

रोमन साम्राज्य में धार्मिक विकास

सन् ईसवी की प्रथम दो शताब्दियों में लैटिन (रोमन) और ग्रीक साम्राज्यों में मनुष्य की आत्मा दुःखित और विफल-मनोरथ थी। उस समय निर्दयता और पशुबल का ही निरंकुश राज्य हो रहा था। अहंकार और बाहरी दिखाव तो बहुत था, पर आत्म-सम्मान की कमी थी। अनुद्विग्न शान्ति और सतत सुख नहीं के बराबर थे। अभागे लोग घृणा की दृष्टि से देखे जाते और दुखी थे। भाग्यवान् अपने को अरक्षित समझते थे और लालसाओं की पूर्ति के लिए बुरी तरह लालायित थे। अधिकांश नगरों की जनता का जीवन अखाड़ों या दंगल-स्थानों की रक्त-रंजित उत्तेजना में व्यस्त रहता था जिनमें मनुष्य और पशुओं का द्वन्द्व-युद्ध होता, उन्हें यंत्रणा दी जाती और जहाँ उनका वध किया जाता था। रोमकालीन भग्नावशेषों में दंगल या अखाड़ों के खँडहर सबसे महत्त्वपूर्ण और विशेष वस्तु हैं। जीवन का राग इसी (निर्दयता के) स्वर में बजा करता था। मानव-हृदय की इस अस्थिरता ने घोर धार्मिक अशांति का रूप धारण कर लिया।

जब से आर्यजाति के झुण्डों ने प्राचीन सभ्य देशों के ऊपर आक्रमण करके उनमें घुसना आरम्भ किया, तभी से यह अवश्यम्भावी हो गया था कि मंदिरों और पुरोहितों के प्राचीन देवता अपने को समयानुसार बदल लें अथवा ग़ायब हो जायँ। सैकड़ों पीढ़ियों से कार्ष्णेय सभ्यताओं के खेतिहर लोगों ने अपना जीवनक्रम और अपने विचार ऐसे जीवन के अनुरूप बना लिये थे जिनका केन्द्र मंदिर था। उनके चित्त पर पूजा-विधान और उनके व्यतिक्रमों, बलिदानों और रहस्यों का आधिपत्य था। हम लोग आर्यसभ्यता से ओतप्रोत संसार में रह रहे हैं, इससे हमारे आधुनिक मस्तिष्कों को उनके देवता भयंकर और तर्कहीन अथवा बुद्धि-विरुद्ध मालूम पड़ते हैं। किंतु इन प्राचीन लोगो को ये देवता उसी प्रकार सत्य और स्पष्ट मालूम देते थे जैसे किसी बहुत स्पष्ट स्वप्न में देखी हुई बातें हमें स्पष्ट-सी प्रतीत होती हैं। सुमेरिया या आरंभिक मिस्र में जब एक राज्य दूसरे राज्य को जीतता था तो विजित राज्य के देवी और देवताओं में या तो परिवर्तन हो जाता था, या उनके नाम बदल जाते थे। किंतु इस परिवर्तन से पूजन के विधान या भाव में कोई भेद न होने पाता था। पूजा के साधारण लक्षणों में कोई फेर-बदल न

होता था। स्वप्न के व्यक्ति बदल जाते थे किंतु स्वप्न जारी रहता था और उसी प्रकार का बना रहता था। आरंभिक सैमिटिक (समी) विजेताओं की भावना विजित सुमेरियन लोगों की भावना से इतनी मिलती-जुलती थी कि उन्होंने इराक (मेसोपोटामिया) को जीत लेने पर भी उसके धर्म को प्रायः ज्यों का त्यों ग्रहण कर लिया। मिस्र पर अन्य जातियों का कभी भी इतना आधिपत्य नहीं हुआ कि वहाँ के धर्म में कोई क्रान्तिकारी परिवर्तन होता। टौलेमीवंश के सम्राटों और सीज़रों के राज्यकाल में भी वहाँ के मंदिर, वेदियाँ और पुरोहितवर्ग वास्तव में सदा की भाँति मिस्रदेशीय ही बने रहे।

जब तक विजय ऐसे लोगों के बीच होती रही जिनकी सामाजिक और धार्मिक आदतें एक ही प्रकार की थीं तब तक यह संभव था कि समीकरण या वर्गीकरण करके किसी एक मन्दिर और प्रदेश के देवता से दूसरे मन्दिर और प्रदेश के देवता का विरोध बचा दिया जाय। यदि दो देवताओं की एक ही विशेषता हुई तो दोनों को एक ही बतला दिया जाता था। पुरोहित और जन-साधारण यह कह देते थे कि वास्तव में यह वही देवता है—उसने केवल दूसरा नाम धारण कर लिया है। देवताओं के इस संमिश्रण को थियोक्रेसिया (Theocracia) अर्थात् देव-संमिश्रण कहते हैं, और ई० पू० के सहस्र वर्ष के महान् विजयों के युग को देव-संमिश्रण युग कह सकते हैं। विस्तृत भू-भागों के स्थानीय देवता एक व्यापक देवता में विलीन हो गये। अतएव जब बैबिलन में यहूदी पैग़म्बरों ने सारी पृथ्वी पर एक ही सत्य-काम ईश्वर की घोषणा की तब मनुष्यों के मस्तिष्क इस नवीन विचार को ग्रहण करने के लिए तैयार थे।

किन्तु बहुधा बहुत-से देवता एक दूसरे से इतने भिन्न थे कि उनका इस प्रकार संमिश्रण होना असंभव था। ऐसी अवस्था में कोई संभवनीय सम्बन्ध स्थापित करके उन दोनों को एक वर्ग में रख दिया जाता था। किसी देवी का—और ग्रीकों के पहले ईजियन संसार में देवियों की ही बहुतायत थी—किसी देवता के साथ विवाह कर दिया जाता, किसी पशु-देवता या नक्षत्र-देवता को मनुष्य के विशेषण और गुण दे दिये जाते। और पाशविक या ज्योतिष-सम्बन्धी आकृति को—जैसे सर्प, सूर्य या नक्षत्र को—कोई आभूषण या चिह्न बना दिया जाता या पराजित जाति के देवता दीप्तिमान् देवताओं के प्रतिस्पर्धी—दैत्य या असुर—कहलाने लगते। धर्म का इतिहास इन देवताओं के—जो किसी समय स्थानीय देवता थे—समयानुकूल परिवर्तनों, समझौतों और युक्तियों से भरा पड़ा है।

जब मिस्र में नागरिक राज्यों का विकास होकर एक संयुक्तराज्य स्थापित हुआ तब वहाँ देव-संमिश्रण बहुत कुछ आवश्यक हो गया। यह कहना चाहिए कि वहाँ का प्रधान देवता ओसिरिस था। यह फ़सल की भेंट लेनेवाला देवता था और मिस्र का राजा

फराओ उसका पार्थिव अवतार माना जाता था। ओसिरिस को बार बार मरते और फिर जीवित होते हुए प्रदर्शित करते थे। वह केवल बीज और फ़सल ही न था किंतु विचार की स्वाभाविक रूप से तनिक खींचातानी करने से वह मनुष्य के अमरत्व का साधन भी समझा जाने लगा था। उसके चिह्नों में एक विशेष प्रकार का चौड़े पंखोंवाला गुबरैला

मित्रस—एक साँड़ का बलिदान करते हुए
(रोमन मूर्ति)
यह मूर्ति ब्रिटिश म्यूज़ियम में है।

था जो अपने अंडों को गाड़ कर मिट्टी के नीचे से फिर निकल आता है। उसका दूसरा चिह्न दीप्तिमान् सूर्य था जो अस्त होकर फिर उदय होता है। आगे चलकर उसे 'आपिस'—पवित्र साँड़—का भी दूसरा स्वरूप समझा जाने लगा। उसके साथ ही 'इसिस' नाम की

देवी थीं। 'हथोर' अर्थात् गऊ-देवी, बाल-चन्द्र और समुद्र का नक्षत्र इसिस के अन्य स्वरूप थे। ओसिरिस की मृत्यु होती है और उसके एक पुत्र—होरस—उत्पन्न होता है। होरस बाज़-देवता और उषा-देवता भी है और वह बड़ा होकर फिर ओसिरिस हो जाता है। इसिस की मूर्ति बालक होरस को गोद में लिये हुए और बाल-चन्द्र पर खड़े हुए प्रदर्शित की जाती है। ये सम्बन्ध युक्ति-युक्त नहीं हैं, किन्तु मनुष्य के मस्तिष्क ने जिस समय इन सम्बन्धों को सोच निकाला था उस समय क्रमबद्ध विचार-शैली का विकास नहीं हुआ था। इन सम्बन्धों में उतना ही सामंजस्य है जितना स्वप्न की बातों में होता है। इन देव-नृप के नीचे भयंकर अर्थात् अशुभ देवता हैं। यथा—कुत्ते के सिरवाला 'अनुबिस', 'कालरात्रि' आदि जो मनुष्यों और देवताओं के शत्रु हैं और उन्हें प्रलोभन में डालते हैं और उन्हें खा जाते हैं।

समय पाकर प्रत्येक धर्म मनुष्य की आत्मा के आकार के अनुकूल हो जाता है, और इसमें तनिक भी संदेह नहीं कि मिस्र देशवासियों ने इन चिह्नों से—जो तर्कहीन (असंगत) हैं और जिन्हें विकृताकार भी कहा जा सकता है—ऐसे मार्ग निकाल लिये थे कि जिनके द्वारा उन्हें सच्ची उपासना और सान्त्वना प्राप्त होती थी। मिस्रवासियों के हृदय में अमरत्व प्राप्त करने की इच्छा बड़ी बलवती थी, और मिस्र का धार्मिक जीवन उस इच्छा पर ही ज़ोर देने लगा। मिस्र के धर्म के समान अमरत्व पर ज़ोर देनेवाला और कोई धर्म इससे पहले नहीं हुआ था। ज्यों ज्यों मिस्र देश विदेशी विजेताओं के द्वारा पददलित होता गया और ज्यों ज्यों मिस्र के देवताओं का राजनैतिक महत्त्व कम होता गया त्यों त्यों मिस्र देश-वासियों में इस जीवन की कमियों को पूर्ण करनेवाले पारलौकिक जीवन की अभिलाषा भी बढ़ती गई।

ग्रीक-विजय के बाद सिकन्दरिया का नवीन नगर मिस्र के ही धार्मिक जीवन का नहीं प्रत्युत सारे ग्रीक संसार के धार्मिक जीवन का केन्द्र हो गया। टौलेमी प्रथम ने सिरापियन नामक एक विशाल मंदिर स्थापित किया जिसमें एक प्रकार के त्रिदेव की पूजा होती थी। वे ये थे—सिरापिस (जो वास्तव में ओसिरिस अपिस का नवीन नामकरण था), इसिस और होरस। ये तीनों देवता भिन्न भिन्न नहीं माने जाते थे किंतु एक ही देवता के तीन स्वरूप समझे जाते थे और सिरापिस को ग्रीकों का ज़ियस, रोमन लोगों का जुपिटर और पारसीकों का सूर्य-देवता बतलाया जाता था। जहाँ जहाँ यूनानी प्रभाव फैला, वहाँ वहाँ यह उपासना भी फैली। इसका प्रचार उत्तरी-भारत और पश्चिमी चीन में भी हुआ। जिस संसार में साधारण जीवन अत्यन्त दुःखप्रद था उसमें अमरत्व की यह कल्पना—ऐसे अमरत्व की कल्पना जिससे सान्त्वना मिले और जिससे जीवन की कमियों की पूर्ति

हो—बड़े उत्साह से ग्रहण की गई। सिरापिस को 'आत्मा का उद्धारक' बतलाया यगा। तत्कालीन भजनों में कहा गया है कि 'मृत्यु के उपरान्त भी हम उसकी रक्षा में रहेंगे।' इसिस के अनेक उपासक थे। उसके मन्दिरों में उसकी मूर्ति स्वर्ग की रानी के रूप में बालक होरस को लिये हुए खड़ी रहती थी। उसके सामने मोमबत्तियाँ जलाई जाती थीं, भेंट चढ़ाई जाती थीं और सिर घुटाये हुए तथा ब्रह्मचर्यव्रत से रहने की प्रतिज्ञा किये हुए पुजारी उसकी पूजा-अर्चा में लगे रहते थे।

रोमन साम्राज्य के उत्थान के कारण इस बढ़ते हुए धर्म का प्रचार पश्चिमीय यूरप में भी होने लगा। रोमन झंडों के साथ-साथ स्काटलैंड और हालैंड में सिरापिस-इसिस के मंदिर, पुजारियों के भजनों के स्वर और अमर जीवन की आशा भी पहुँची। किन्तु इस सिरापिस-इसिस-धर्म के बहुत-से प्रतिस्पर्धी थे। इनमें मैत्रेय-धर्म प्रधान था। इस धर्म का जन्म पारस देश में हुआ था और इसमें मुख्य ज़ोर एक पवित्र और परोपकारी साँड़ की बलि पर दिया जाता है जो 'मित्रस' देवता ने दी थी और जिसका रहस्य अब लोग भूल गये हैं। इस धर्म में सिरापिस-इसिस मत के जटिल और सत्य प्रतीत होनेवाले विश्वासों की अपेक्षा अधिक आद्य और मौलिक बातें दिखलाई पड़ती हैं। इसमें हम मानव-सभ्यता के सौर-पाषाणी रक्त-बलिदानों के युग में पहुँच जाते हैं। मैत्रेय स्मारकों के साँड़ के पार्श्व के घाव से सदैव प्रचुर रक्त की धारा प्रवाहित होती रहती है, और इस रक्त से नवीन जीवन का संचार होता है। मित्रस धर्म का उपासक बलि के साँड़ के रक्त से सचमुच स्नान करता था। दीक्षा के समय वह लट्ठों के उस मचान के नीचे खड़ा हो जाता था जिस पर बलि दी जाती थी जिससे बलि के साँड़ का रक्त उसके शरीर पर धारा के रूप में गिरे।

इसिस और होरस
उन्नीसवें वंश के समय की मिस्र देश की बनी हुई एक छोटी मूर्ति।
यह ब्रिटिश म्यूज़ियम में है।

ये दोनों ही धर्म व्यक्तिगत धर्म हैं। और अन्य असंख्य मत भी जो आरंभिक रोमन सम्राटों के दासों और नागरिकों में अपना प्रचार चाहते थे इन्हीं की भाँति व्यक्तिगत धर्म थे। इन धर्मों का उद्देश्य-व्यक्तिगत मुक्ति और व्यक्तिगत अमरत्व है। पुराने धर्म

इनके समान व्यक्तिगत न थे, वे सामाजिक धर्म थे। पुरानी धार्मिक चाल यह थी कि देवता या देवी मुख्य कर सारे नगर या राज्य के हित के होते थे, और केवल गौणरूप से ही वे व्यक्ति-विशेष के इष्टदेव माने जाते थे। बलिदान सार्वजनिक कार्य था। वह व्यक्तिगत कार्य न था। उनका संबंध हमारे उस संसार की व्यावहारिक और सामूहिक आवश्यकताओं से था जिसमें हम रहते हैं। किंतु पहले तो यूनानियों ने और फिर रोमन लोगों ने धर्म को राजनीति से अलग कर दिया। मिस्र देश की रूढ़ियों का अनुसरण करके धर्म परलोक की वस्तु हो गया।

सम्राट् कमोडियस के धड़ की मूर्ति (१८०—१९२ ई०) इसमें सम्राट् को मित्रस देवता के रूप में दिखलाया गया है। (लगभग सन् १९० ई० में रोम में बनी) यह ब्रिटिश म्यूज़ियम में है।

इन नये व्यक्तिगत अमरत्वपूर्ण धर्मों ने पुराने राज्यधर्मों के सारे हृदय और मनोवेगों को निकाल कर अपना तो लिया किंतु वास्तविक रूप से वे उनका स्थान ग्रहण नहीं कर सके। आरंभिक रोमन सम्राटों के अधीनस्थ किसी भी साधारण नगर में नाना प्रकार के देवताओं के बहुत-से मंदिर रहे होंगे। एक मंदिर तो कैपिटल के जुपिटर—रोम के मुख्य देवता—का होगा, और शायद एक मंदिर तत्कालीन सीज़र (क़ैसर) का भी होगा। सीज़रों ने फराओ से सीख लिया था कि वे देवता बन सकते हैं। इन मंदिरों में भावहीन और भव्य राजनैतिक पूजन जारी था। इनमें नागरिक लोग जाकर अपनी राजभक्ति दिखलाने के लिए भेंट चढ़ाते और एक चुटकी धूप जला देते थे। किंतु अपने हृदय का बोझ उतारने, सान्त्वना पाने और सलाह लेने के लिए वे स्वर्ग की देवी प्रिय इसिस के मंदिर में जाते थे। स्थानीय विचित्र देवता भी रहे होंगे। उदाहरण के लिए सैविल ने बहुत दिनों तक कार्थेज की वीनस का पूजन जारी रक्खा था। किसी गुफा या तहख़ाने में अवश्य ही कहीं न कहीं मित्रस देवता की वेदी होगी जहाँ सैनिक और दास लोग जाते होंगे। और नगर में कदाचित् एक सिनैगाग भी होगा जिसमें यहूदी लोग अपना इन्जील पढ़ने और समस्त पृथ्वी के स्वामी एक अदृश्य परमेश्वर में अपना विश्वास स्थिर रखने के लिए एकत्रित होते होंगे। कभी कभी राज्यधर्म के राजनैतिक पहलू के कारण यहूदियों से झगड़ा हो जाता होगा, क्योंकि यहूदी लोगों का कथन था कि उनका ईश्वर मूर्तिपूजा को

सहन नहीं कर सकता। और वे लोग उन उत्सवों और बलिदानों में भाग लेने से इनकार करते होंगे जो सीज़र के सम्मान में किये जाते थे। वे लोग मूर्तिपूजा के भय से रोमन झंडों को भी सलाम नहीं करते थे।

पूर्व (भारत) में बुद्ध के समय से बहुत पहले ही ऐसे त्यागी संन्यासी—स्त्री और पुरुष दोनों ही—होते थे जो संसार के अधिकांश सुख-भोगों का त्याग कर देते थे। ये लोग विवाह और धन से मुँह मोड़ लेते थे। इन्हें आध्यात्मिक शक्ति की आकांक्षा थी। ये लोग संसार के दुःखों से बचने के लिए त्याग, कष्ट और एकान्तवास की शरण लेते थे। गौतम बुद्ध संन्यासियों के जीवन की कठिनाइयों को नापसन्द करते थे। किन्तु उनके बहुत-से शिष्यों ने कठिन संन्यास का व्रत धारण किया था। बाज़ बाज़ ग्रीकमतों में भी—जिनके विषय में हमें अब अधिक जानकारी नहीं है—इसी प्रकार का आत्मसंयम किया जाता था। यहाँ तक कि उन मतों के अनुयायी अपना अंग-भंग भी कर लेते थे। ई० पू० प्रथम शताब्दी में यहूदिया और सिकन्दरिया के यहूदी समाज में भी संन्यास और विरक्ति की प्रथा चल पड़ी थी। समुदाय के समुदाय संसार के सुखों को त्यागकर तपस्या और रहस्यमय ध्यान में अपना समय व्यतीत करते थे। ऐसिनीज़ का सम्प्रदाय इसी प्रकार का था। ईसा की प्रथम और द्वितीय शताब्दियों में प्रायः सारे संसार में लोग इस प्रकार जीवन से छुटकारा पाने में संलग्न थे, और तत्कालीन जीवन के दुःखों से 'मुक्ति' पाने की खोज में लगे हुए थे। प्राचीन काल के लोगों में जीवन की स्थिरता का जो भाव था वह नष्ट हो गया था। लोगों का पुरोहितों, मंदिरों, नियम-विधानों और रीति-रिवाजों में जो पुराना विश्वास था, वह उठ गया था। उन दिनों की प्रचलित दासता, क्रूरता, भय, चिंता, बरबादी, दिखावा और भोग-विलास के दौर-दौरे के साथ ही आत्म-ग्लानि और मानसिक असंतोष भी फैला हुआ था, और मनुष्य शान्ति की खोज में इतने बेचैन थे कि उसके लिए वे सब कुछ त्याग करने और प्रसन्नतापूर्वक कष्ट सहन करने को तैयार थे। शान्ति की यही यंत्रणापूर्ण खोज अपने कर्मों पर पश्चात्ताप करनेवालों को सिरापियम में, और नये अनुयायियों को मित्रस देवता की अंधकारपूर्ण तथा रक्तरंजित गुफा में खींच लाया करती थी।